अध्याय- 1

प्राचीन भारतीय इतिहास की भौगोलिक पृष्ठभूमि एवं अध्ययन के स्रोत

Geographical Background of Ancient Indian History and their Sources for study

1.0 उद्देश्य (Aims)

1.1 प्रस्तावना (Introduction)

1.2 भारत की भू–आकृति तथा उसके प्राकृतिक स्रोत (Geomorphology and the Natural Resources of India)

बोध प्रश्न

1.3 प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोत (Sources of Ancient Indian History)

1.3.1 पुरातात्त्विक स्रोत (Archaelogical Sources)

1.3.1.1 अभिलेख (Documents)

1.3.1.2 सिक्के (Coins)

1.3.1.3 स्मारक और भवन (Monuments and Buildings)

1.3.1.4 मूर्तियाँ (Idols)

1.3.1.5 चित्रकला (Drawings)

1.3.1.6 अवशेष (Ruins)

बोध प्रश्न

1.3.2 साहित्यिक स्रोत (Literary Sources)

1.3.2.1 धार्मिक साहित्य (Religious Literature)

1.3.2.2 वेदांग (Vedanga)

1.3.2.3 स्मृति (Memory)

1.3.2.4 महाकाव्य (Epic)

1.3.2.5 पुराण (Puran)

1.3.2.6 बौद्ध साहित्य (Bodh Literature)

1.3.2.7 जैन साहित्य (Jain Literature)

1.3.2.8 धर्मेत्तर साहित्य (Post Religious Literature)

1.3.2.9 विदेशी साहित्य (Foreign Literature)

बोध प्रश्न

1.0 उद्देश्य (Aims)

- इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ सकेंगे कि प्राचीन भारत की भौगोलिक पृष्ठभूमि कैसी थी ?
- भारत के इतिहास पर किस प्रकार भूगोल का प्रभाव पड़ा ?
- प्राचीन भातीय इतिहास को जानने के लिए कौन–कौन सी पुरातात्विक सामग्री उपलब्ध है ?
- प्राचीन इतिहास को जानने के विभिन्न साहित्यिक कृतियों का क्या महत्व हैं ?

1.1 प्रस्तावना (Introduction)

भारत की सांस्कृतिक धरोहर विशिष्ट प्रकार की रही है । यहाँ अनेकानेक प्रजातियों का संगम हुआ है । प्राक, आर्य भारतीय भातीय आर्य, यूनानी, शक, हूण और तुर्क आदि अनेक प्रजातियों एवं समुदाय का शरण स्थल भारत रहा है । इन समुदायों ने भारतीय सभ्यता के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है । इतिहास के अध्ययन के भौगोलिक पक्ष को विभिन्न स्तरों पर समझा जा सकता है । भारत के उत्तर में लंबी पर्वतमाला तथा देश की लम्बी समुद्रतट–रेखा ने भारतीय इतिहास को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया है । जिसपर इस सीमा के पार की घटनाओं का काफी हद तक कोई प्रभाव नही पड़ता । साथ ही अनेक पहाड़ी दर्रो तथा उपर्युक्त समुद्रतटों की वजह से भारत एकदम अलग–थलग नहीं पड़ गया । भारतीय संदर्भ में यह बताया जा सकता है कि निर्जलीकरण (Desiccation) की प्रक्रिया ने किस प्रकार मध्य एशिया की कुछ जातियों को भारत की उत्तरी सीमाओं की ओर जाने को विवश किया । विभिन्न प्रकार के कच्चे माल के वितरण के आधार पर यह विचार किया जा सकता है । कि उनपर नियंत्रण पाने के प्रयासों ने किस प्रकार आर्थिक एवं राजनीतिक घटनाओं को प्रभावित किया । इस सन्दर्भ में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है एक निश्चित कालक्रम के संदर्भ में मानव संस्कृति तथा जीवों में (biome) एवं आवास (Habital) के दोनों पक्षों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध ।

1.2 भारत की भू–आकृति तथा उसके प्राकृतिक स्रोत (Geomorphology and the Natural Resources of India)

भारत की प्रमुख तीन भू–आकृतिक भाग है –

(1) उत्तर में प्रायद्वीपेत्तर पर्वत श्रेणी

(2) गंगा का कछारी मैदान, और

(3) प्रायद्वीप

प्रायद्वीपेतर पर्वतश्रेणी का प्रतिनिधित्व करते हैं हिमालय था उससे जुड़ी हुई पूर्व एवं पश्चिम की अन्य पर्वत

श्रेणियाँ । भौगोलिक दृष्टि से हिमालय की तीन प्रमुख देशांतरीय क्षेत्रों (Longitudinal Zones) में बाँटा गया है – (1) बाह्य हिमालय श्रेणियाँ या शिवालिक पहाड़ियों का बाहरी क्षेत्र तथा उनके पीछे की देशांतरीय घाटियाँ ; (2) उपहिमालय–श्रेणियाँ जिनमें 6,000 से 10,000 फुट ऊँचाई तक की अनेक गौण पर्वत–श्रेणियाँ शामिल है और (3) आंतरिक हिमालय–श्रेणियाँ जो उपरोक्त ऊँचाई–वर्ग से अधिक ऊँची हैं । हिमालय–पर्वत–श्रेणियों से पर्वत–निर्माण–क्रिया का जो संकेत मिलता है वह भूवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत अधिक प्राचीन नहीं है । भूविज्ञान के मध्यजीव महाकल्प के दौरान हिमालय के स्थान पर समुद्र था जो भू–वैज्ञानिक साहित्य में टेथिस सागर (Tethys Sea) के नाम से विख्यात है । भू–वैज्ञानिक साहित्य के अनुसार पर्वत निर्माण की क्रिया अल्पनूतन युग से आरंभ होकर उत्तर–अतिनूतन युग तक चलती रही ।

गंगा का कछारी मैदान आसाम में ब्रह्मपुत्र घाटी से सिंधु में सिंधु नदी के डेल्टा तक फैला हुआ है । भू–वैज्ञानिक दृष्टि से ये मैदान बहुत पुराने नहीं हैं और भू–आकृतिक दृष्टि से परस्पर काफी मिलते–जुलते (homogeneous) हैं ।

भारतीय प्रायद्वीप भू–पटल के स्थायी और भू–वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन भूखंड का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें कुछ सर्वाधिक प्राचीन शैल–समूह शामिल हैं । इस प्रायद्वीप का उत्तरी सीमा को एक ऐसी रेखा के रूप में देखा जा सकता है जो कूच से आरंभ होकर अरावली पर्वतश्रेणियों के पश्चिमी पार्श्व के किनारे–किनारे दिल्ली के समीप तक तथा वहाँ से, मौटे तौर पर, गंगा–यमुना के समानान्तर राजगहल पहाड़ियों तथा गंगा नदी के डेल्टा तक चली गई है । इस प्रायद्वीपीय खंड की भू–सतह परिपक्व और अपरदित (eroded) अर्थात् धीरे–धीरे क्षय हुई है ।

बोध प्रश्न– भारत की भौगोलिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाले ।

1.3 प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोत
(Sources of Ancient Indian History)

इतिहासकार एक वैज्ञानिक की भाँति उपलब्ध सामग्री की समीक्षा करके अतीत का सही चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है । उसके लिए साहित्यिक साधन, पुरातात्विक साधन और विदेशियों के वर्णन सभी का महत्व है । भारत में यूनान के हिरोडेटस योराम के लिखी जैसे इतिहास लेखक नहीं हुए । इसलिए कुछ पाश्चात्य विद्वानों की यह धारणा बन गई थी कि भारतीयों के इतिहास की ठीक संकल्पना ही नहीं थी । ऐसा समझना भारी भूल है । वस्तुस्थिति यह है कि प्राचीन भारतीयों की इतिहास की संकल्पना आधुनिक इतिहासकारों की संकल्पना से पूर्णतया भिन्न थी । प्राचीन भारतीय इतिहास की जानकारी के साधनों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है – साहित्यिक स्रोत (Literary Sources) और पुरातात्विक स्रोत (Archaelogical Sources) । सच तो यह है कि प्राचीन भारतीय इतिहास के निरपेक्ष अध्ययन के लिए दोनों साधनों का संतुलित अध्ययन अपरिहार्य है ।

1.3.1 पुरातात्त्विक स्रोत (Archaelogical Sources)

1.3.1.1 अभिलेख (Documents)– पुरातात्त्विक स्रोतों के अन्तर्गत सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्रोत अभिलेख है । प्राचीन भारत के अधिकतर अभिलेख पत्थर या धातु की चादरों पर खुदे मिले है, अतः उनमें साहित्त की भाँति हेर–फेर करना संभव नहीं था । यद्यपि सभी अभिलेखों पर उनकी तिथि अंकित नहीं है, फिर भी अक्षरों की बनावट के आधार पर उनका काल मोटे रूप में निर्धारित हो जाता है । सबसे प्राचीन अभिलेख अशोक के हैं । केवल भूतपूर्व निजाम के राज्य में स्थित मास्की नामक स्थान और जुज्जर्रा (मध्यप्रदेश) से प्राप्त अभिलेखों में अशोक के नाम का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । इस अभिलेखों से अशोक के धर्म ओर राजस्व के आदर्श पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । अशोक के अधिकतर अभिलेख 'ब्राह्मी लिपि' में हैं जिससे भरत की हिंदी, पंजाबी, बंगाली, गुजराती और मराठी, तमिल, तेलगु, कन्नड़ आदि सभी भाषाओं की लिपियों का विकास हुआ था । केवल उत्तर–पश्चिमी भारत में मिले कुछ अभिलेख 'खरोष्ठी लिपि' में हैं । यह लिपि फारसी लिपि की भाँति दाई से बाई ओर से लिखी जाती थी । इसके अतिरिक्त अशोक के ही कुछ अभिलेख अरामाइक लिपि में हैं ।

अशोक के बाद के अभिलेखों को दो भागों में बाँटा जा सकता है – **सरकारी अभिलेख और निजी अभिलेख ।** सरकारी अभिलेख या तो राजकवियों की लिखी हुई प्रशस्तियाँ हैं या भूमि–अनुदान–पत्र । प्रशस्तियों का प्रसिद्ध उदाहरण समुद्र गुप्त का प्रयाग अभिलेख है जो अशोक–स्तंभ पर उत्कीर्ण है । इसी प्रकार राजा भोज की ग्वालियर प्रशस्ति में इस शासक की उपलब्धियों का विवेचन है । इस प्रकार के अभिलेखों के अन्य उदाहरण कलिंगराज खारवेल का हाथीगुफा अभिलेख, गौतमी बलश्री का नासिक अभिलेख, रूद्रदामा का गिरनार शिलालेख, स्कंद गुप्त का भितरी स्तंभ लेख और जूनागढ़ शिलालेख, बंगाल के शासक विजयसेन का देवपाड़ा अभिलेख और चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय का ऐहोले अभिलेख है ।

भूमि–अनुदान–पत्र अधिकतर ताँबे की चादरों पर उत्कीर्ण हैं । इन अनुदान–पत्रों में शासकों की उपलब्धियों का भी वर्णन मिलता है । परन्तु इन प्रशस्तियों और अनुदान–पत्रों में राजकवियों ने कुछ अतिशयोक्ति भी की है । अतः उनके वर्णन को इतिहासकार को पूर्णतया सत्य नही मान लेना चाहिए । बड़ी संख्या में पूर्व मध्यकालीन भूमि–अनुदान–पत्र मिलने से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि भारत में पूर्व मध्यकाल (लगभग 600–1200 ई0) में सामंतीय अर्थव्यवस्था स्थापित हो गई थी ।

जो अभिलेख चट्टानों या स्तंभों पर खुदे हैं उनके प्राप्ति–स्थलों से उस शासक के राज्य की सीमाओं का भी अनुमान लगाया जाता है, जैसे कि अशोक के अभिलेखों के प्राप्ति–स्थलों से उसके राज्य के विस्तार पर प्रकाश पड़ता है ।

निजी अभिलेख बहुधा मंदिरों में या मूर्मियों पर उत्कीर्ण हैं । इनपर जो तिथियाँ खुदी है उनसे इन मंदिरों के निर्माण या मूर्ति–प्रतिष्ठापन का समय ज्ञात होता है । इन अभिलेखों से भाषाओं के विकास पर भी प्रकाश पड़ता है । गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल के अधिकतर अभिलेख संस्कृत में है और उनमें विशेष रूप से ब्राह्मण धर्म का उल्लेख है ।

कुछ अभिलेखों से उन तथ्यों की पुष्टि होती है जिनका उल्लेख हमें साहित्य में मिलता है, जैसे कि हमें पतंजलि के महाभाष्य से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र शुंग ने अश्वमेघ यज्ञ किए थे । उसी के वंशज धनदेव के अयोध्या अभिलेख से इस तथ्य की पुष्टि होती है । कुछ अभिलेखों से हमें नए तथ्य मालूम होते हैं, जैसे कि समुद्र गुप्त के प्रयास–स्तंभ अभिलेख और खारवेल के हाथीगुफा अभिलेख से हमें इन शासकों की उपलब्धियों का ज्ञान होता है । रूद्रदामन का जूनागढ़ शिलालेख यह बतलाता है कि उसका राज्य विस्तार क्या था । सातवाहन राजाओं का तो पूरा इतिहास ही उनके अभिलेखों के आधार पर लिखा गया है । साहित्य से इन शासकों की उपलब्धियां पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है । इसी प्रकार दक्षिण भारत के पल्लव, चालुक्य, राष्ट्रकुल, पांड्य और चोल वंशों का इतिहास लिखने में इन शासकों के अभिलेख बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं ।

विदेशों से प्राप्त कुछ अभिलेखों से भारतीय इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है । एशिया माइन में बोगजकोई नामक स्थान पर लगभग ईसा पूर्व 1400 का संधिपत्र अभिलेख मिला है । इनमें मित्र, वरूण, इंद्र और नासत्य आदि वैदिक देवताओं के नाम दिए है । इससे ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यो के वंशज एशिया माइनर में भी रहते थे । पर्सिपोलिस और बेहिस्तून अभिलेखों से पता चलता है कि ईरानी सम्राट दारा प्रथम ने सिंधु नदी की घाटी पर अधिकार कर लिया था ।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास लिखने में भारतीय और विदेशी अभिलेख बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं । प्राचीन भारत की सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक दशा का अध्ययन करने के लिए भी जो साहित्यिक साक्ष्य उपलबब्ध हैं उनकी पुष्टि अभिलेखों से हुई है ।

1.3.1.2 सिक्के (Coins) – पुरातात्त्विक सामग्री में सिक्कों का स्थान भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है । भारत के प्राचीनतम सिक्कों पर अनेक प्रकार के चिह्न उत्कीर्ण हैं । उनपर किसी प्रकार के लेख नहीं है । ये सिक्के 'आहत सिक्के' कहलाते है । इनपर जो चिह्न बने हैं उनका ठीक–ठीक अर्थ ज्ञात नहीं है । इनसे इतिहासकारों को विशेष सहायता नहीं मिली हैं किन्तु जब उत्तर–पश्चिमी भारत पर बैट्रिया के हिंद–यूनानी शासकों ने अधिकार कर लिया और सिक्का–लेखों वाले अपने सिक्के चलाए तो भारतीय शासक भी सिक्का–लेख वाले सिक्के चलाने लगे । इन सिक्कों पर सिक्का–लेख के अतिरिक्त बहुधा सिक्कें को चालू करने वाले शासक की आकृति भी होती थी । ये सिक्के भारत का

राजनीतिक इतिहास लिखने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं । यूनानी शासकों के बाद जिन शक औ पह्लव और कुषाण शासकों ने उत्तर–पश्चिमी भारत में शासन किया उन्होंनं भी यूनानियों के अनुरूप सिक्के चलाए । इसके बाद भारतीय राजतंत्र और गणतंत्र राज्यों के शासकों ने भी ऐसे ही सिक्के चलाए । पांचाल के मित्र शासकों और मालव तथा यौधेय आदि गणराज्यों का पूरा इतिहास उनके सिक्कों के आधार पर ही लिखा गया है । गुप्त सम्राटों का इतिहास अधिकतर उनके अभिलेखों के आधार पर लिखा गया है, किन्तु उनके सिक्कों से भी उनकी उपलब्धियों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है । गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद के भारत के इतिहास को जानने के लिए तत्कालीन सिक्के बहुत कम उपयोगी सिद्ध हुए है क्योंकि हर्ष जैसे प्रसिद्ध शासक के तथा चालुक्य, राष्ट्रकूट, प्रतीहार और पालवंश के शासकों के बहुत कम सिक्के मिले है ।

सिक्के यदि बडी संख्या में एक स्थान पर मिलें तो यह अनुमान लगाया जाता है कि सिक्का का प्राप्ति–स्थान उस शासक के राज्य का भाग था । यदि सिक्कों पर कोई तिथि उर्कीण हो तो उसका राज्यकाल पता चल जाता है । सिक्कों के पृष्ठ भाग पर जिस देवता की आकृति बनी हो उससे शासक के धार्मिक विचार जाने जाते हैं । गुप्त राजाओं के सिक्कों से हमें उनके काल की कुछ प्रमुख घटनाओं की जानकारी मिलती है । उदाहरण के तौर पर समुद्र गुप्त के कुछ सिक्कों पर यूप बना है और 'अश्वमेघ पराक्रमः' शब्द खुदे है । इससे इस बात की पुष्टि होती है कि उसने अश्वमेघ यज्ञ किया था । चन्द्रगुप्त के चांदी के सिक्कों से यह अनुमान लगाया जाता है कि उसने शकों को पराजित किया होगा क्योंकि उस समय चांदी के सिक्के केवल पश्चिमी भारत में ही चलते थे ।

यद्यपि मुद्राओं से सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा सामाजिक महत्व की अनेक सूचनाएँ मिलती हैं किन्तु यह नकारा नहीं जा सकता कि मुद्रा का आगमन मानव की आर्थिक प्रगति का एक महत्वपूर्ण चरण है और मुद्राशास्त्र का प्रयोग मुख्यत आर्थिक इतिहास के गइन के लिए होना चाहिए, जो दुर्भाग्य से भारत में हो नहीं रहा ।

1.3.1.3 स्मारक और भवन (Monuments and Buildings) – प्राचीन काल के महलों और मंदिरों की शैली से वास्तुकला के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है । उदाहरण के लिए उत्तर भारत के मंदिरों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं । उनकी कला की शैली 'नागर शैली' कहलाती है । दक्षिण भारत के मंदिरों की कला 'द्राविड़ शैली' कहलाती है । दक्षिणापथ के मंदिरों के निर्माण में नागर और द्राविड़ दोनों शैलियों का प्रभाव पड़ा । अतः वह 'वेसर शैली' कहलाती है । इस प्रकार स्मारकों और भवनों से वास्तुकला के विकास के अध्ययन में बहुत सहायता मिलती है । मंदिरों, स्तूपों और विहारों से तत्कालीन धामिक विश्वासों का पता चलता है । दक्षिण–पूर्वी एशिया और मध्य एशिया में जो मंदिरों और स्तूपों के अवशेष मिले हैं उनसे भारतीय संस्कृति के प्रसार पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ा है । जावा का स्मारक ' बोरो बुदूर' इस बात का प्रमाण है कि नवीं शताब्दी में वहाँ महायान बौद्ध धर्म बहुत लोकप्रिय हो गया था । इस प्रकार कला के माध्यम से हम भारत और विदेशों के सांस्कृतिक संबंधों का अध्ययन करते हैं ।

1.3.1.4 मूर्तियाँ (Idols) **–** इसी प्रकार प्राचीन काल में कुषाणों, गुप्त शासकों और गुप्तोत्तर काल में जो मूर्तियाँ बनाई गई उनसे जनसाधारण की धार्मिक आस्थाओं और मूर्तिकला के विकास पर बहुत प्रकाश पड़ा है । कुषाण काल की मूर्तिकला में विदेशी प्रभाव अधिक है । गुप्त काल की मूर्तिकला में अंतरात्मा तथा मुखाकृति में जो सामंजस्य है वह अन्य किसी काल की कला में नही मिलता । गुप्तोत्तर काल की कला में सांकेतिकता अधिक है जिसे कला में निपुण व्यक्ति ही समझ सकते थे । उसमें वह स्वाभाविकता नहीं है जो गुप्त काल की मूर्तिकला में मिलती है । प्राचीन भारत की मूर्तिकला से जनसाधारण के जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । भारहुत, बोधगया, साँची और अमरावती की मूर्तिकला में जनसाधारण के जीवन की अति सजीव झांकी मिलती है ।

1.3.1.5 चित्रकला (Drawings) **–** इस प्रकार अजंता के चित्रों में मनोभावों की सुदर अभिव्यक्ति मिलती है । चित्रकला ने 'माता और शिशु' या 'मरणासन्न राजकुमारी' जैसे चित्रों में ऐसे मनोभावों का चित्रण किया है जो शाश्वत

है और जो किसी देश या काल विशेष की बपौती नहीं है । उनसे गुप्त काल की कलात्मक उन्नति का पूर्ण आभास मिलता है । जीवन और कला का अन्योन्याश्रय संबंध है । चित्रकला से हमें तत्कालीन जीवन की झलक देखने को मिलती है ।

1.3.1.6 अवशेष (Ruins) – बस्तियों के स्थलों के उत्खनन से जो अवशेष मिले हैं उनसे प्रागेतिहासिक और आद्य इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ा है । आदिमानव ने किस प्रकार उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का उपयोग करके अपने जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न किया, इसकी जानकारी हमें उसकी बस्तियों से प्राप्त पत्थर और हड्डी के औजारों, मिट्टी के बर्तनों, मकानों के खंडहरों से ही होती है । उदाहरण के लिए पाकिस्तान में सोहन नदी की घाटी में पुरापाषाण युग से मिले पत्थर के खुरदरे औजारों से अनुमान लगाया गया है कि भारत में आदि मानव ईसा से 4 लाख से 2 लाख वर्ष पूर्व रहता था । ईसा से 10 हजार से 6 हजार वर्ष पूर्व के काल में मानव के जीवन में बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन हुए । वह खेती करने लगा, पशु पालने लगा, मिट्टी के बर्तन बनाने लगा, पत्थर के चिकने औजार बनाने लगा और कपड़ा बुनना सीख गया । इस नवपाषाण युग की जानकारी हमें उसके अवशेषों से ही हुई है । जहाँ एक स्थान पर मनुष्यों की बस्तियों के कई स्तर निकलते है वहाँ उनसे सभ्यता के विकास–क्रम पर प्रकाश पड़ता हैं, जैसे कि कई स्थानों पर नीचे के स्तरों में हड़प्पा से पूर्व की संस्कृतियों के अवशेष मिले हैं और ऊपर के स्तर पर हड़प्पा संस्कृति के । जिन–जिन स्थानों पर एक ही आकृति के मृद्भांड मिले है उन्हें इतिहासकार एक संस्कृति के अन्तर्गत रखते हैं । मृदभांडों से संस्कृति के विकास–क्रम पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ा है, जैसे कि गंगा–यमुना दोआब में सबसे नीचे की सतह पर गेरूए रंग के मृद्भांड मिले है । उनके ऊपर की सतहों में मृद्भांडों का क्रम यह है कि पहले काले और लाल मृद्भांड और फिर चित्रित भूरे रंग के मृद्भांड मिले है ।

अवशेषों में जो मुहरें मिली हैं उनसे भी प्राचीन भारत का इतिहास लिखने में बहुत सहायता मिली है । मोहनजोदड़ों में 500 से अधिक मुहरें मिली थीं । उन्हीं के आधार पर हड़प्पा संस्कृति के निवासियों के धामिक विश्वासों का अनुमान लगाया गया है । इस प्रकार बसाढ़ (प्राचीन वैशाली) में जो 274 मिट्टी की मुहरें मिली थीं उनसे चौथी शताब्दी ईसवी में एक ऐसी श्रेणी का पता चला जिसके साहूकार, व्यापारी और माल ढ़ोने वाले सभी प्रकार के सदस्य थे । इस श्रेणी का कार्य वैशाली तक ही सीमित नहीं था । संभवतः कुछ शिव और विष्णु के मंदिर भी अपनी संपत्ति का प्रबंध इसी श्रेणी के द्वारा कराते थे । इन मुहरों से यह निष्कर्ष निकलता है कि गुप्ताकालीन आर्थिक व्यवस्था में श्रेणियों का बहुत महत्व था ।

अब पुरातत्ववेत्ता वैदिक साहित्य, महाभारत और रामायण में उल्लिखित स्थानों का उत्खनन करके उनकी भौतिक संस्कृति का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहे हैं । यह लेखक के अपने विचारों को प्रकट करता है, घटना को अपने यर्थात रूप में नहीं । इस प्रकार साहित्यिक साक्ष्य यद्यपि घटना का पूरा विवरण देता है, फिर भी वह लेखक के विचारों से प्रभावित अवश्य होता है ।

पुरातात्तिवक साक्ष्यों ने मानव की आर्थिक प्रगति के एक अन्य आचरण पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है । यह चरण भारत में लौह युग के आगमन से संबद्ध है । लोहा के प्रयोग का आरंभ एक महत्वपूर्ण तकनीकी उपलब्धि थी । लोहे के अवशेष भारत, बलूचिस्तान, उत्तर–पश्चिमी भारत, गंगा, यमुना के दोआब, पूर्वी भारत, मध्य भारत (मालवा और बरार) तथा दक्षिणी भारत में मिले हैं ।

इस प्रकार पुरातात्विक साक्ष्य की सहायता से हम प्राचीन भारत के इतिहास को पहले की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत ढंग से समझ सके है क्योंकि पुरातात्विक साक्ष्य हम लेखक के काल्पनिक पुट को अलग कर सके है ।

1.3.2 साहित्यिक स्रोत (Literary Sources)

प्राचीन भारतीय साहित्य को दो वर्गो में बाँटा जाता है – **धार्मिक साहित्य और धर्मेतर साहित्य ।** धार्मिक साहित्य का अध्ययन तीन वर्गों में विभाजित करके किया जाता है – ब्राह्मण साहित्य, बौद्ध साहित्य और जैन साहित्य ।

1.3.2.1 धार्मिक साहित्य (Religious Literature) – ब्राह्मन साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है । ऋग्वेद से प्राचीन आर्यो के धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन तथा राजनीतिक संगठन की जानकारी मिलती है । उत्तर वैदिक काल के आर्यो के जीवन का अध्ययन करने के लिए यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद संहिताओं का उपयोग किया जाता है । अथर्ववेद में हमें उस समय के समाज का चित्रण मिलता है जब आर्यो ने अनार्यो के अनेक धार्मिक विश्वासों को अपना लिया था । सी वेदों के अलग–अलग ब्राह्मण–ग्रन्थ है । ये कर्मकाण्ड की पद्धति का उल्लेख करते है । ब्राह्मण ग्रन्थ के बाद आरण्यकों का स्थान है । इनमें यज्ञ के अतिरिक्त चिन्तन का अधिक महत्व हैं । इसी काल में उपनिषदों की रचना की गई । उपनिषदों से आर्यो के प्राचीनतम दार्शनिक विचारों की जानकारी मिलती है । उपनिषदों ने आरण्यक के दार्शनिक विचारधारा को आगे बढ़ाया । इसने धर्म की निःसरता को बतलाकर तर्क और कर्म को प्रधान बतलाया ।

1.3.2.2 वेदांग (Vedanga) – वैदिक काल के अन्त में वेदों का अर्थ समझने के लिए वेदांगों की रचना हुई । वेदों के 6 अंग हैं – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष । विदिक मंत्रों का शुद्ध उच्चारण करने के लिए 'शिक्षा–शास्त्र' का निर्माण किया गया । ऐसे सू. को जिसमें विधि एवं नियमों का निष्पादन किया गया 'कल्पसूत्र' कहा गया । कल्पसूत्र के तीन भाग है – श्रोतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र । पाणिनिकृत अष्टाध्यायी व्याकरणग्रन्थों में सबसे महत्वपूर्ण है । इसी प्रकार यास्क द्वारा रचित 'निरूक्त' में वैदिक शब्दों की उत्पत्ति बतलाई गई है ।

1.3.2.3 स्मृति (Memories) – सूत्र साहित्य के बाद स्मृतियों की रचना हुई । स्मृतियों में राजा के अधिकारों एवं कर्तव्यों से लेकर जनसाधारण के सामाजिक, आर्थिक विधानों की चर्चा है । याज्ञवल्क्य, नारद और पाराशर की स्मृतियों से गुप्तकाल के सामाजिक और धार्मिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है ।

1.3.2.4 महाकाव्य (Epic) – महाकाव्य में रामायण और महाभारत सबसे अधिक महत्वपूर्ण है । वाल्मीकि रामायण में एक आदर्श राज्य एवं राजा का उल्लेख है । इससे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है । वाल्मीकि रामायण में एक आदर्श राज्य एवं राजा का उल्लेख है । इससे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। वाल्मीकि रामायण में वर्णित व्यवसायों और भोजनों के आधार पर देवराज चानना ने मत व्यक्त किया कि '' इस ग्रन्थ में दो विभिन्न सांस्कृतिक स्तारों पर हनेवाले दो प्रमुख मानवीय वर्गों का वर्णन है और कृषि पर आधारित लोब वनों को साफ करके उन्हे कृषियोग्य बना रहे थे।''

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से महाभारत रामायण से ज्यादा महत्वपूर्ण है। इसकी रचना वेदव्यास ने की थी। यह मूलतः आर्यो के दो समुदायों 'कुरू' और 'पाण्डव' के राज्यअधिग्रहण के संघर्ष की कहानी कहता है। परन्तु प्रसंगवश इसमें राज्य और राजा की उत्पतित्त, राजा के अधिकार एवं कर्तव्य, मंत्रिपरिष्द्, अन्य पदाधिकारी, सामाजिक संस्थाएँ एवं नियम, आर्थिक व्यवस्था, व्यापार–वाणिज्य, विभिन्न राजधानियाँ इत्यादि का विस्तृत और रोचक विवरण दिय गया है जिससे प्राचीन भारतीय व्यवस्था पर काफी प्रकाश पड़ता है। राजनीतिक इतिहास की जानकारी के लिए भी महाभारत कम महत्वपूर्ण नहीं है। मगध, विदेह आदि राज्यों के इतिहास के विषय में भी जानकारी मिलती है। महाभारत में सिथियनो और यूनानियों का भी जिक्र मिलता है। इस प्रकार महाभारत प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति की जानकारी के लिए अमूल्य निधि है ।

1.3.2.5 पुराण (Puran) – वेदों के समान ही पुराण भी अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ हैं । इसमें प्राचीन राजवंशों और राजाओं के चरित्र, जीवन–वृतांत तथा आख्यान संग्रहित है । पुराणों की कुल संख्या 18 है और इसके विषय 5 हैं । (सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मनवन्तर और वंशानुचरित) मत्स्य, ब्रह्माण्ड, भागवत, वायु और विष्णु आदि पुराण ग्रन्थों में प्राचीन राजवंशों का जो उल्लेख है, वास्तव में इतिहास के लिए उसका अत्यधिक उपयोग है । पुराणों में शिशुनाग वंश, मौर्य वंश, शुंग वंश, काण्व वंश, आंध वंश तथा गुप्त वंश का परिचय मिलता है ।

1.3.2.6 बौद्ध साहित्य (Bodh Literature) **–** प्राचीन भारत के इतिहास के साधन के रूप में बौद्ध साहित्य का कम महत्व नहीं है । बौद्ध साहित्य तीन प्रकार के हैं – जातक, त्रिपिटक और निकाय । इनमें जातक सबसे प्राचीन है । जातक में गौतम बुद्ध के जीवन की कहानियों और घटनाओं का वर्णन है ।

जातक के बाद त्रिपिटक का स्थान है । इनके नाम है– सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक । सुत्तपिटक में बुद्ध के धार्मिक विचारों औ वचनों का संग्रह है । विनयपिटक में बौद्ध संघ से संबंधित नियमों का उल्लेख है और अभिधम्मपिटक में वेद के सिद्धान्तों का वर्णन है । दिव्यावदान में अनेक राजाओं की कथाएँ है । मंजुश्रीमूलकल्प में गुप्त सम्राटों का वर्णन है । बौद्ध साहित्य से भारत और विदेशों के सांस्कृतिक सम्बन्ध पर भी प्रकाश पड़ता है ।

1.3.2.7 जैन साहित्य (Jain Literature)**–** बौद्ध साहित्य की भाँति जैन ग्रन्थ भी प्राचीन भारत के इतिहास की जानकारी के लिए महत्वपूर्ण स्थान है । जैन ग्रन्थों में परिशिष्टपर्व, आचारांग सूत्त, कल्पसूत्त, भगवती सूत्त, उवासगदासाओं सूत्त, बारह अंग आदि महत्वपूर्ण है । आचारांग सूत्त में जैन भिक्षुओं के आचार नियमों का वर्णन है । भगवती सूत्त महावीर के जीवन पर प्रकाश डालता है । नायाधम्म सूत्त में महावीर की शिक्षाओं का संग्रह है । परिशिष्ट वर्ग से महावीर के समय के राजाओं के विषय में उपयोगी जानकारी मिलती है । 700 से 1200 ई0 के बीच अनेक जैन कथाकोशों तथा पुराणों की रचना हुई । हरिभद्र सूरि ने समारादित्य कथा, धूर्ताख्यान तथा कथाकोश की रचना की । उद्योतन सूरि ने कलवय माला, सिद्वर्षिसूरि ने उपमितिभव प्रपंच कथा, जिनेश्वर सूरि ने कथाकोश प्रकरण तथा जिनसेन ने आदिपुराण और गुणभद्र ने उत्तरपुराण की रचना की थी । ये जैन ग्रन्थ तत्कालीन भारत की सामाजिक एवं आर्थिक दशा पर प्रकाश डालते हैं ।

1.3.2.8 धर्मेतर साहित्य (Post Religious Literature) – प्राचीन भारत में ऐसे अनेक धर्मनिरपेक्ष, ऐतिहासिक एवं अर्द्वऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना हुई जो तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक पहलुओं पर यथेष्ठ प्रकाश डालते हैं । इससे हमें मौयकाल के पूर्व के भारत की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन की जानकारी मिलती है । विशारवदत्त का प्रसिद्ध नाटक मुद्राराक्षस, सोमदेव का कथासरित्सागर और क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामंजरी मौर्यकाल की घटनाओं के सम्बन्ध में जानकारी देता है । कौटिल्य का अर्थशास्त्र मौर्यकालीन सामाजिक तथा आर्थिक दशा पर प्रकाश डालता है । इसमें राजतंत्र, प्रशासन, समाज तथा अर्थ–व्यवस्था से संबंधित तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है । इसमें राज्य की उत्पत्ति, संगठन, सुरक्षा, राजा के अधिकार एवं कर्त्तव्य, मंत्रियों एवं अधिकारियों की नियुक्ति के नियम आदि पर प्रकाश डाला गया है । कामंदक के 'नीतिसार' से गुप्तकालीन राजतंत्र पर प्रकाश पड़ता है । पतंजलि के महाभाष्य एवं कालिदासकृत मालविकाग्निलमित्रम् से शुंग वंश के बारे में जानकारी मिलती है । गुप्तकाल के बाद का इतिहास जानने में जीवनचरित और स्थानीय इतिवृत्त काफी सहायता पहुँचाते हैं । हेमचन्द्र का कुमारपालचरित, सन्ध्याकरनन्दी का रामचरित, सोमेश्वर का कीर्त्तिकौमुदी, चन्दबरदाई की पृथ्वीराजरासो, संगम साहित्य आदि इतिहास की जानकारी के लिए आवश्यक है । जगनिक ने पृथ्वी राजविजय में पृथ्वीराज चौहान की उपलब्धियों का वर्णन किया है । इन ग्रन्थों के आधार पर तत्कालीन राजीनतिक, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है ।

तमिल साहित्य दक्षिण भारत के तत्कालीन सामाजिक और आथ्रिक जीवन पर प्रकाश डालते हैं । दक्षिण भारत में भी राजकवियों ने जीवनचरित लिखा है । चन्दिक कलम्बकम इसी प्रकार का ग्रन्थ है । इसमें पल्लव नरेश नन्दिवर्मा तृतीय की उपलब्धियों का उल्लेख है । कलिंगत्तुपरिण में चोल शासक कुतोत्तुंग प्रथम के कलिंग–आक्रमण का वर्णन है । प्राचीन भारतीय साहित्य में कल्हण की राजतरंगिणी शुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ है । इसमें कश्मीर के इतिहास की सही जानकारी कुछ सीमा तक प्राप्त होती है ।

गुजरात, सिन्ध ओर नेपाल में भी इतिवृत्त लिखे गये थे । गुजरात के इतिवृत्तों में सबसे प्रसिद्ध रासमाल, सोमेश्वरकृत कीर्तिकौमुदी, मेरूतुंग का प्रबन्ध चिंतामणि, राजशेखर का प्रबन्ध कोश, जयसिंह का हम्मीरमदमर्दन, बालचन्द्र का बसंतविलास है ।

1.3.2.9 विदेशी साहित्य (Foreign Literature) – प्राचीन भारतीय साहित्य तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन पर यथेष्ठ प्रकाश डालते हैं, किन्तु प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास लिखने में वे बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं हुए है ।

इसका कारण है कि प्राचीन ग्रन्थों की रचना की तिथि निश्चित नहीं है । दूसरे, इन ग्रन्थों की रचना खास–खास उद्देश्य से की गई थी । इनमें निष्पक्षता का अभाव पाया जाता है ।

यूनानी और रोमन लेखकों का विवरण : सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व ईरान के शासक डेरियस ने स्काईलैक्स नामक सैनिक को सिन्धु प्रदेश की जानकारी के लिए भेजा था । उसने सिन्धु नदी से ईरान तक के जल–मार्ग का पता लगाया ।

इस युग का दूसरा यात्री हैकेटियस मिलेटस था । स्काईलैक्स तथा हैकेटियस के वर्णन प्रामाणित ऐतिहासिक तथ्य नहीं माने जा सकते, फिर भी उनसे भारत के विदेशों से सम्बन्ध का ज्ञात होता है ˙

सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व हिरोडोटस तथा टेशियस ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है । सम्भवतया उन्होंने पारसी ज्ञान के आधार पर ही भारत का वर्णन किया है, जिस कारण उसमें गल्पों की भरमार है । अतः भारत के इतिहास के दृष्टिकोण से इनके ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण नहीं माने जाते है ।

सिकन्दर के साथ अनेक यूनानी इतिहासकारों ने भारत में प्रवेश किया तथा उन्होंने भारत का वर्णन अपनी पुस्तकों में किया है । सिकन्दर के अभियान का विवरण तो इन्होंने पक्षपातपूर्ण रूप से ही किया है तथा अपने सम्पूर्ण विवरण में कहीं भी वे भारतीय प्रतिरोधों का वास्तविक स्वरूप व्यक्त करते हुए नहीं पाये जाते ।

सिकन्दर के परवर्ती लेखकों में मेगास्थनीज, प्लिनी, टालेमी, डायोडोरस, एरियन, प्लूआर्क, कर्टियस, जस्टिन, स्ट्रेबो आदि के नाम उल्लेखनीय है । किन्तु सिकन्दर का आक्रमण भारतीय इतिहास का नवीन अध्ययन आरम्भ करने में सफल रहा । यूनानी लोग इतिहास जानने और लिखने में बहुत रूचि रखते थे और इसी कारण भारत से लौटने के उपरान्त अपनी यात्रा के अनुभवों को यूनानी लेखकों ने पुस्तक–बद्ध कर दिया । इन्हीं पुस्तकों से सिकन्दर के भारत पर आक्रमण करने का पूर्ण विवरण उपलब्ध होता है । ऐरियन के ग्रन्थों का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्व है । टालेमी ने भारत के भूगोल के विषय में और प्लिनी ने पशुओं तथा वनस्पति के विषय में वर्णन किया है ।

सिकन्दर के आक्रमण के बाद यूनानी शासकों के भारतीय शासकों से राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो गए तथा भारत में यूनानी राजदूत निवास करने लगे जिन्होंने भारत की स्थिति का गहन अध्ययन करके अनेक ग्रन्थों की रचना की । यद्यपि अब यह पुस्तक अप्राप्य है, किन्तु अनेक यूनानी और राम के इतिहासकारों ने इस पुस्तक को अपनी रचनाओं में उद्धृत किया है ।

डायेमक्स राजदूत था और उसने भारत के तत्कालीन सम्राट बिन्दुसार के दरबार का वर्णन किया है । टामेली ने दूसरी शताब्दी में भूगोल सम्बन्धित पुस्तक लिखी जिसमें भारत का मानचित्र भी प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया ।

चीनी विवरण (Chinese Description)– यूनानी लेखकों के अतिरिक्त चीनी यात्रियों ने भी भारत का भ्रमण किया तथा तत्कालीन भारतीय स्थिति का वर्णन किया है ।

प्रथम शताब्दी ई0 पूर्व में चीनी इतिहासकार सुमाचीन ने अपने प्रसिद्ध इतिहास में भारत का उल्लेख किया है तथा भारत के प्राचीन काल का क्रमबद्ध विवरण देने का प्रयास किया है ।

चीन में बौद्व धर्म के प्रचार के उपरान्त अनेक बौद्व भिक्षुओं ने भारत का भ्रमण किया जिनमें गुप्त काल में फाह्यिान ने पाँचवीं शताब्दी के भारत का वर्णन किया है ।

फाह्यिान के पश्चात् ह्वेनसांग का यात्रा विवरण उपलब्ध है जो हर्ष के शासनकाल में आया था । उसने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया था तथा यहाँ की प्रत्येक दशा का सूक्ष्म अध्ययन करके अपनी पुस्तक ''पाश्चात्य संसार के लेख'' में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक दशाओं का वर्णन किया है । भारत की तत्कालीन दशा के अतिरिक्त प्रचलित कथानकों का वर्णन भी उसकी पुस्तक में उपलब्ध होता है ।

तिब्बती विवरण (Tibbetan Description)– तिब्बत से भी कुछ यात्री भारत का भ्रमण करने आये जिन्होंने भारत का वर्णन किया है । इन लेखकों में तारानाथ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । मौर्यकाल तथा उसके उपरान्त विदेशियों के आक्रमण का वर्णन तारानाथ ने अपनी पुस्तक में किया है ।

मुसलमान लेखकों का विवरण (Description of Muslim Authors) **–** आठवीं शताब्दीं से ही मुसलमान लेखकों ने भारत के विषय में लिखना प्रारंभ कर दिया था । सुलेमान ने पाल और प्रतीहार राजाओं के विषय में लिखा है । अल मसूदी, जो 941–943 ई0 तक भारत में रहा, राष्ट्रकूट राजाओं के विषय में लिखा है । किन्तु मुसलमान लेखकों में अलबेरूनी का प्रमुख स्थान है । 1030 ई0 में उसने 'तहकीक–उल–हिन्द' नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखा जिसमें भारत के निवासियों के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख है । अन्य मुस्लिम ग्रन्थों में अलइस्तखरी का किताब 'उल–अकालूनः, इब्नहौकल का 'अस्कालउल विलाद', अलउतबी का 'तरीखे–यमिनी', मिनहाजुद्दीन का 'तहकाते नसीरी', निजामुद्दीन का 'तबकाते अबकारी', हसन निजामी का ताज–उल मुआसिर, फरिश्ता का 'तारीखे फरिश्ताः आदि प्रमुख हैं । उक्त ग्रन्थ प्राचीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और भौगोलिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हैं ।

बोध प्रश्न

1. भारत की भौगोलिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालें ।
2. प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिए पुरातात्विक स्रोतों के महत्व का परिक्षण करें ।
3. प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिए विभिन्न साहित्यक स्रोतों का तुलनात्मक महत्व बताइए ।

* * * * *

अध्याय- 2

प्रागैतिहासिक संस्कृति के शिकारी-संग्रहकर्त्ता के परिपेक्ष्य में

Pre-Historic Culture-In the Context of Hunters and Gatherers

2.0 उद्देश्य (Aims)

2.1 प्रस्तावना (Introduction)

2.2 प्रागैतिहासिक भौगोलिक पृष्ठभूमि (Pre-Historic Geographical Background)

2.3 भारत का अत्यंत नूतन युग (Pleistoene in India)

2.4 पूर्व पाषाण काल (Lower Palacolithic)

2.5 मध्य पुरापाषाण काल (Middle Palacolithic)

2.6 उत्तरपाषाण काल (Upper Palacolithic)

2.7 मध्यपाषाण काल (Mesolithic Age)

2.7.1 वातावरण और विन्यास (Environment and its Surroundings)

2.7.2 मध्य पाषाणकाल के उपकरण और प्रारूप (Tools and Design of Mesolithic Age)

2.7.3 अर्थव्यवस्था (Economy)

बोध प्रश्न

2.0 उद्देश्य (Aims)

- इस इकाई को पढ़ने के बाद प्रागैतिहासिक काल की भौगोलिक पृष्ठभूमि से अवगत होंगे ।
- पुरापाषाण काल के विभिन्न तीनों कालखण्डों से अवगत होंगे ।
- प्रागैतिहासिक संस्कृति के शिकारी–संग्रहकर्त्ता के रूप में विशेषताओं को समझ सकेंगे ।

2.1 प्रस्तावना (Introduction)

यूनानी भाषा में Palaios प्राचीन एवं Lithos पाषाण के अर्थ में प्रयुक्त होता था । इन्हीं शब्दों के आधार पर 'पाषाणकाल' शब्द बना । यह काल आखेटक एवं खाद्य–संग्राहक काल के रूप में भी जाना जाता है । प्राप्त उपकरणों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा रहा है मिले पत्थर के उपकरण लगभग 250,000 ई0 पू0 के होंगे । अभी हाल

में महाराष्ट्र के बोरी नामक स्थान पर पृथ्वी पर मनुष्य की उपस्थिति लगभग 14 लाख वर्ष पुरानी है । गोल पत्थरों से बनाये गये प्रस्तर उपकरण मुख्य रूप से सोहन नदी घाटी में मिलते हैं । सामान्य पत्थरों के कोर तथा फ्लैक प्रणाली द्वारा बनाये गये औजार मुख्य रूप से मद्रास में पाये गये हैं । मध्यप्रदेश के भोपाल नगर के पास भीम वेटका में मिली पर्वत गुफायें एवं शैलाश्रय भी महत्वपूर्ण हैं । इस समय के मनुष्य अग्नि के प्रयोग से बिल्कुल ही अनभिज्ञ थे । समभवतः इस समय के मनुष्य नीग्रेटो (Negreto) जाति के थे ।

पुरापाषाणकाल (Middle Palaeolithic) में प्रयुक्त होने वाले प्रस्तर उपकरणों के आकार एवं जलवायु में होने वाले परिवर्तन के आधार पर इस काल को तीन वर्गो में बाँट सकते है – (1) निम्न पुरा पाषाण काल (250,000 – 100,000 ई0 पू0), (2) मध्य पुरा पाषाण काल (100,000 – 40,000 ई0 पू0), (3) उच्च पुरापाषाण काल (40,000 – 10,000 ई0 पू0) । मध्य पाषाण काल में प्रयुक्त होने वाले उपकरण आकार में बहुत छोटे होते थे, जिन्हें 'माइक्रोलिथ (लघु पाषाणोपकरण) कहते थे । इस काल के अन्तिम चरण में कुछ साक्ष्यों के आधार पर प्रतीत होता है कि लोग कृषि एवं पशु पालन की ओर आकर्षित हो रहे थे ।

उत्तर पाषाण काल (Neolithic Age) की समय सीमा 3500 ई0 पू0 से 1000 ई0 पू0 के बीच मानी जाती है । यूनानी भाषा का Neo शब्द नवीन के अर्थ में प्रयुक्त होता है । इसलिए इस काल को 'नवपाषाण काल' भी कहा जाता है । इस सभ्यता के मुख्य केन्द्र बिन्दु हैं – कश्मीर, सिंधु प्रदेश, विहार, बंगाल, उत्तरप्रदेश, आंधप्रदेश, असम आदि ।

इस समय प्राप्त प्रस्तर औजार गहरे ट्रेप (DarK Traprock) के बने थे जिनपर एक विशेष प्रकार की पालिश लगी होती थी । 7000–6000 ई0 पू0 तक पाषाण कालीन सभ्यता काफी विकसित हो गयी थी । मनुष्य आखेटक, पशुपालक से आगे निकल कर खाद्य–पदार्थो का उत्पादक एवं उपभोक्ता भी बन गया ।

2.2 प्रागैतिहासिक भौगोलिक पृष्ठभूमि
(Pre-Historic Geographical Background))

भू–वैज्ञानिक दृष्टि से पृथ्वी करीब 48 अरब वर्ष पुरानी है और इसपर जीवन का आरंभ कोई 35 अरब वर्ष पहले हुआ । पहले–पहल जिस सूक्ष्म जीव की सृष्टि हुई वह करीब 72 करोड़ वर्ष तक परिवर्तित नहीं हुआ । पृथ्वी की भूवैज्ञानिक समय सारणी को **महाकल्पों** (eras) में विभाजित किया जाता है । प्रत्येक महाकल्प को अनेक कल्पों (periods) में विभाजित करते हैं और फिर प्रत्येक कल्प अनेक युगों (epochs) में बाँटा जाता है । भूवैज्ञानिक इतिहास में पृथ्वी के अंतिम महाकल्प को नूतनजीव महाकल्प (Cenozoic) कहा जाता है ।

यों मनुष्य की पूर्वज–परंपरा को अधिक–से–अधिक मध्यनूतन युग तक भी खींच सकते है । परन्तु अत्यंतनूतन युग में आकर ही मनुष्य ने इस बात का निश्चित संकेत दिया कि उसने अपनी जैविक क्षमता को और अधिक पूर्ण बनाने के लिए अपने वातावरण को सुचिंतित रूप में ढ़ालने का प्रयत्न किया था । अत्यंतनूतन युग की विशेषता तीन बड़े–बड़े स्तनधारी परिवारों का आविर्भाव है; ये आधुनिक घोड़े, हाथी और मवेशियों के पूर्वज थे । आरंभ से लगभग 20 लाख वर्ष तक अत्यंतनूतन युग ने जलवायु या मनुष्य के पूर्वजों में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं देखा । आज से लगभग 10 लाख वर्ष पहले यह ग्रह (पृथ्वी) अत्यंत ठांडा होने लगा और उसमें अवक्षेप–वातावरण का संतृप्त जल (saturated water) बढ़ गया । इसके परिणामस्वरूप ध्रुव प्रदेशों से बड़े–बड़े हिमनद प्रचंड वेग से नीचे उतरे जो 45^0 या इससे भी नीचे अक्षांशों तक पहुँच गए । भूमध्य रेखा के करीब 30^0 से 25^0 तक ऊपर और नीचे प्रचंड मूसलाधार वर्षा शुरू हो गई । भू–आकृतीय अध्ययनों से पता चलता है कि इस युग में ठंड और वर्षा भरे ऐसे अनेक दौर आए जिनके बीच–बीच में (समशीतोष्ण प्रदेश में) सामान्य गर्म तथा (उष्णकटिबंधीय प्रदेश में) शुष्क दौर गुजर गए । जलवायु के ये प्रचंड उतार–चढ़ाव पृथ्वी के तल पर अपने स्पष्ट चिह्न छोड़ गए हैं । सभी गर्म कालखंडों का नामकरण उन स्थानों के नाम पर किया गया है जहाँ जाति विशेष के जीवजंतु या वनस्पति–वर्ग पाए गए हैं । इन प्रारूपों के आधार पर कालखंडों की परिभाषा दी गई है । संपूर्ण विश्व में कार्यरत प्रागैतिहासकार इसी मानक का प्रयोग करते हैं ।

इन कालखंडों (कल्पों) के अधिकांश नाम यूरोप में उनके अन्वेषण–स्थानों के नाम पर रखे गए हैं । उत्तरी अमेरिका, एशिया, रूस या अफ्रीका में इन कालखंडों तथा घटनाओं के लिए हम अलग नामों का प्रयोग करते हैं ।

प्रागैतिहासिक साक्ष्य धरती के ऊपर, गुफाओं में दबे हुए या प्राचीन नदी निक्षेपों के साथ–साथ मिलते हैं । प्राकृतिक गतिविधियों के परिणामस्वरूप धरती पर दबी हुई किसी भी चीज का अध्ययन स्तरक्रम विज्ञान (stratigraphy) के नियम के अनुसार करना होगा । इस नियम के अनुसार, किसी भी स्तरीकृत निक्षेप (stratified deposit) में निम्नतम पर्त निक्षेपण के समय की दृष्टि से सबसे पुरानी होती है और उसके ऊपर की उत्तरोत्तर पर्ते अपेक्षाकृत बाद की होती है । किसी निक्षेप को अन्य निक्षेपों से 'पुराना' या 'नया' मानकर उसका आपेक्षिक समय निर्धारित करने से स्थानीय कालानुक्रम का संकेत मिलता है । जब किसी बड़े क्षेत्र के संदर्भ में एक जैसे अनेक कालानुक्रम उपलब्ध हों तब इन निक्षेपों के प्रमुख अवसादवैज्ञानिक लक्षणों (sedimentological characters) की तुलना करके उस क्षेत्र का संश्लिष्ट कालानुक्रम तैयार कर सकते हैं । विभिन्न स्तरों से प्राप्त प्राणिविषयक और वनस्पतिविषयक सामग्री के इन निक्षेपों (या निक्षेपीय कालखंडों) को जलवायु परिवर्तन सूची के रूप में प्रस्तुत करने में सहायता मिल सकती है । फिर इनमें अधिकांश जलवायु प्रावस्थाओं (phases) की तुलना विश्वव्यापी आँकड़ों से की जाती है और अतीत काल के संदर्भ में सामान्य प्रागैतिहासिक पंचांग तैयार किया जाता है । यह एक अत्यन्त जटिल कार्य है और विभिन्न देशों से जो अनेक साक्ष्य प्राप्त हुए हैं उनका अंतिम रूप से सामान्य प्रागैतिहासिक पंचांग के साथ तालमेल नहीं बिठाया जा सकता है । भारत के अधिकांश पुरापाषाण युग या पुराप्रस्तर उपकरणों (palaeoliths) में कालानुक्रम की ऐसी ही अनिश्चित स्थिति देखी जाती है ।

2.3 भारत का अत्यंत नूतन युग (Pleistoene Age in India)

भारत के अत्यंतनूतन युग के निक्षेपों में से हमारे अधिकांश कालानुक्रम आज भी विश्वव्यापी पंचांग के साथ जुड़ने या स्थिर होने के लिए कठिन संघर्ष कर रहे हैं । देश के भिन्न–भिन्न क्षेत्रों के आधार पर स्थानीय कालानुक्रमों को समझने के लिए पर्याप्त परिश्रम किया गया है । परन्तु ये तबतक अस्थिर रहते हैं जबतक प्राकृतिक वैज्ञानिक पद्धतियाँ विश्व पंचांग के साथ उनका सहसंबंध स्थापित नहीं कर देतीं । हिमालय की उत्तर–पश्चिमी तराई में अधिकाशं नदियों से वैदिकायुक्त स्तर–विन्यास प्राप्त होता है और कम–से–कम तीन अतिशय विसर्जन (excessive discharge) वाले कालखंडों का संकेत मिलता है । इन कालखंडों में ढ़ेर सारे गोलाश्म (boulders) ऊँचें अग्रांशों से नीचे उतरकर निचले अग्रांशों के तटों पर निक्षिप्त हो गए । ये सब प्राकृतिक क्रम में संयोजित हो गए और इन्हें तलोच्चन निक्षेप (aggravational deposits) कहा जाता है । कश्मीर में हिमालय के जो हिमनदीय हिमोढ (glacial moraines) मिले हैं, उनसे सहसंबंध स्थापित करते हुए वैज्ञानिक की यह राय बनी है कि इन तीनों तलोच्चनों में से पहला दूसरे हिमानी युग से संबद्ध हो सकता है, अतः **शेष** दोनों को अंतिम दोनों हिमानी कालखंडों से संबद्ध माना गया है । भारत के अधिकांश नदियों के केवल दो–दो तलोच्चन निक्षेप बने हैं, अतः यह युक्ति–संगत ही था कि उन्हें अंतिम दोनों हिमानी कालखंडों का प्रतिनिधि माना गया है । परन्तु अभिनव अध्ययनों से यह संकेत मिलता है कि अधिकांश भारतीय नदियों के सबसे पुराने निरपेक्षों को बहुत–से–बहुत अंतिम अंतराहिमानी (last interglacial) युग, अर्थात् आरंभिक उत्तर–अत्यंतनूतन (early upper pleistocene) काल का प्रतिनिधि मान सकते हैं । दूसरे तलोच्चन की विकिरणमापी (radiometric) तिथि 30,000 से 36,000 वर्ष तक आती है जिससे वह अंतिम हिमानी कालखंड में आ जाता है । संक्षेप में, ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में अत्यंतनूतन युग की लगभग 4 से 5 जलवायुगत घटनाओं का विवरण मिलता है । उत्तर–पश्चिम में इनमें सबसे पुराना कालखंड आरंभिक मध्य अत्यंतनूतन युग के अन्तर्गत आता है, जबकि शेष भारत के संदर्भ में सबसे पुराना काल आरंभिक उत्तर अत्यंतनूतन युग से संबद्ध माना जाता है ।

मैर–नदीय मूल के निक्षेपों में पाई गई सांस्कृतिक सामग्री, सूचक जीवाश्मों (index fossils) के अभाव में

तिथि–निर्धारण की बहुत बड़ी समस्या प्रस्तुत की जा सकती है । दुर्भाग्य से, भारत के अत्यंतनूतन युग के जीवाश्मों की कोई स्पष्ट जानकारी अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है, अतः यह समस्या आज अनसुलझी रह गई है ।

2.4 पूर्व पाषाण काल (Lower Palacolithic Age)

भारत में पूर्व पुरापाषाण युग को 1960 से पूर्व प्रस्तर युग (Stone Age) की संज्ञा दी जाती थी । यह नामकरण इस जानकारी का परिणाम था कि भारत का कोई उत्तरपुरापाषाण युग नहीं है । अतः उसके संदर्भ में पुरापाषाणयुगीन शब्द को तिलांजलि दे दी गई और समस्त अत्यंत नूतनयुगीन संस्कृति (pleistocene culture) को दो वर्गो में विभाजित कर दिया गया – **पूर्व प्रस्तर युग** (Early Stone Age) और **मध्य प्रस्तर युग** (Middle Stone Age) । परन्तु हाल ही में 'पुरापाषाण युग' और परम्परागत तीन वर्गीय विभाजन का प्रयोग फिर से शुरू किया गया क्योंकि देश के बहुत–से भागों से उत्तर पुरापाषाण युगीन साक्ष्यों का विवरण प्राप्त हुआ है ।

उत्तर–पश्चिम भारत के सोहन क्षेत्र से अवस्थित अन्वेषण से पहली बार सांस्कृतिक क्रम–परम्परा का प्रमाण मिला है । तब से इस संस्कृति को 'सोहन संस्कृति' की संज्ञा दी गई है ।

इस क्षेत्र में मानव का सबसे पुराना साक्ष्य उन निक्षेपों से मिलता है जिन्हें हिमालय के दूसरे अंतराहिमानी से जोड़ सकते हैं । इस संस्कृति को 'आरंभिक सोहन' (Early Sohan) कहा गया है । आद्य सोहन संस्कति में बहुत सारे गँड़ासे, खंडक उपकरण (chopping tools), अनेक चक्रित क्रोड़ (discoid cores) तथा पर्याप्त अपरिष्कृत शल्क मिले है । गँडासे और खंडक उपकरणों की विविधता से प्रयुक्त वटिकामों के वैविध्य की झलक मिलती है । शल्कों से लवाल्वाई तकनीक के विकास की प्रवृति लक्षित होती है जबकि इस अवस्था में सचमुच के लवाल्वाई शल्क का विवरण नहीं मिलता ।

परवर्ती संस्कृति को उत्तर सोहन (Late Sohan) की संज्ञा दी गई है और हिमालय के तीसरे हिमनदन (glaciation) से जोड़ा गया है । शल्कों से लबाल्वाई तकनीक (levalloise technique) के विपुल विस्तार का संकेत मिलता है और उनमें से अनेक को परिष्कृत करके खुरचनी का रूप दे दिया गया है । परवर्ती जलवायु प्रावस्था में इसी तरह के अन्य उद्योगों का पता चलता है जिसे सांस्कृतिक तारतम्य कायम रखने के उद्देश्य से **विकसित सोहन** (Evolved Sohan) की संज्ञा दी गई है ।

चौतरा को छोड़ दें तो सोहन संस्कृति की निम्न विशेषताएँ लक्षित होती है –

(क) बटिकाश्म उपकरणों की प्रधानता जिन्हें साधारणतः गँडासे या खंडक उपकरणों का रूप दिया गया है, अर्थात् इस संस्कृति में मूलतः हस्तकुठार या विवारणी का अस्तित्व नहीं था ।

(ख) सोहन पुरापाषाण अपने उद्भव के समय से लेकर लगभग अपनी समाप्ति के समय तक प्ररूप की दृष्टि से विशेष परिवर्तित नहीं होते, हालांकि यह हो सकता है कि उनकी तकनीक क्रमशः परिष्कृत होती गई हो । यह ऐसी विशेषता है जो विश्व में और कहीं देखने को नहीं मिलती । चौतरा संस्कृति इसमें घुसपैठ–सी मालूम होती है जो मुख्य धारा से अलग रही और सोहन संस्कृति को बदल नहीं पाई ।

नर्मदा में अत्यंत नूतनयुगीन अवसादों के विशाल निक्षेप देखे गए है । इनमें आद्य सोहन किस्म के गंडासें और खंडक उपकरण तथा चौंतरा किस्म के हस्तकुठार और विवरणियाँ भी शामिल है । सर्वथा परिष्कृत हस्तकुठार–जिन्हें एबीवेली प्ररूप कहते है – अत्यंत उन्नत महीन उत्तर–ऐशूली प्ररूप के साथ मिले–जुले पाए गए है । इससे अनेक लेखकों की यह राय बनी है कि इन निक्षेपों में विभिन्न कालखंडों की संस्कृति सामग्री सम्मिलित हो सकती है और ये काल–खंड बजरी के निक्षेपण के समय से पुराने रहे होंगे । नरसिंहपुर में जैसी सांस्कृतिक सामग्री मिली है, लगभग वैसी ही सामग्री नर्मदा और उसकी सहायक नदियों के साथ–साथ आधे दर्जन अन्य स्थलों में भी मिली है । इससे इस बात का पर्याप्त

संकेत मिल जाना चाहिए कि नर्मदा निक्षेप पुराने समय की विविध संस्कृतियों के प्रतिनिध हो सकते है जिनके साथ नए समूह भी मिले हुए हैं । ऐशूली उपकरणों की विकसित प्रकृति इस संस्कृति की परवर्ती कालानुक्रमिक स्थिति के साथ बहुत मेल खाती है ओर यहाँ इसकी तुलना पश्चिमी यूरोप से कर सकते हैं ।

महाराष्ट्र की प्रबरा नदी (गोदावरी की एक सहायक नदी) के साथ–साथ नेवासा में, आंधप्रदेश के गिद्दलूर और करीमपुड़ी में, और मद्रास के अनेक स्थलों पर (बादमदुराई, अत्तिरंपक्कम, मानाजन कारन इत्यादि) मिश्रित एबीवेली और ऐशूली उद्योग वाली उसी सामान्य स्थिति का विवरण प्राप्त हुआ है जिसमें गंडासा और खंडक उपकरण पाए जाते हैं । इन स्थलों पर बटिकाश्म गंडासों (pebble choppers) और खंडक उपकरणों में सोहन तत्व सर्वथा नगण्य प्रतीत होता है ।

अब पूर्वपुरापाषाण भारत के प्रायः सभी भागों से मिले हैं जिनमें असम की घाटियाँ भी सम्मिलित हैं । इनमें केवल वही जानकारी मिलती है जो अन्यत्र सिद्ध की जा चुकी है, कोई नई जानकारी नहीं मिलती । कुछ भी हो, इन प्रतिलब्धियों से इस प्रश्न का समाधान हो जाता है कि इस काल में भारत छिटपुट क्षेत्रों के रूप में नहीं बसा था । फिर, इस संस्कृति के अन्तर्गत ऊष्णकटिबंधीय वनों के मुकाबले उप–हिमालयी क्षेत्रों में बटिकाश्म उपकरणों की प्रधानता दिखाई देती है ।

2.5 मध्य पुरापाषाण काल (Middle Palacolithic Age)

अधिकांश भारतीय नदियों के दूसरे तलोच्चन निक्षेपों (Middle palaeolithic) से यह सांस्कृतिक सामग्री प्राप्त होती है । एक दशक से कुछ ही समय ऊपर हुआ होगा जब इस संस्कृति को पुरानी संस्कृति से भिन्न रूप में स्थापित किया गया हैं । यदि पुणे की एक नदी से उपलब्ध रेडियो–कार्बन तिथियाँ कोई संकेत देती है तो यह संस्कृति आज से कोई 40,000 वर्ष पहले तक प्रकट नहीं हुई थी । यह कई तरह से एक विलक्षण संस्कृति है । इसकी अनेक विशेषताओं में से सबसे महत्वपूर्ण है – प्रयुक्त कच्चे माल में आमूल परिवर्तन । परिणामतः अनेक प्रागितिहासकारों ने भारत के मध्यपुरापाषाण काल की व्याख्या बाहर की सांस्कृतिक घुसपैठ के रूप में देने का प्रयत्न किया है । परन्तु वर्तमान काल में यह दृष्टिकोण स्वीकार नहीं किया जाता क्योंकि ऐसे अनेक स्थल प्रकाश में आए है जहाँ कच्चे माल में कोई परिवर्तन देखने को नहीं मिलता । वस्तुतः राजस्थान और आंध्रप्रदेश के कुछ इलाकों में मध्य पुरापाषाण काल को पूर्वपुरापाषाण काल के शल्क तत्व (flake element) से पृथक करना कठिन हो गया है । बहुत कम स्थलों पर छोटे–छोटे ऐशूली किस्म के हस्तकुठारों का विवरण भी प्राप्त हुआ है । विनिर्माण–तकनीक में पिछले सांस्कृतिक कालखंड से कोई सुस्पष्ट अंतर देखने को नहीं मिलता । नेवासा इस संस्कृति का प्ररूप स्थल है । जब हमें मध्यपुरापाषाण काल के स्थल उपलब्ध हैं जो प्रायः संपूर्ण देश से संबंध रखते हैं, हालाँकि उत्तर–पश्चिमी क्षेत्र में उतने स्थल नहीं हैं जितने प्रायद्वीयीय क्षेत्र में हैं । ऐसी मान्यता है कि इसका मुख्य कारण पंजाब में उपर्युक्त कच्चे माल का अभाव है । यह सर्वथा संभव है कि अधिकांश जनसंख्या ने मध्यवर्ती और दक्षिणी वनों को इसलिए पसंद किया हो कि वहाँ जीवन–निर्वाह के लिए पशु एवं वनस्पति खाद्य की प्रचुरता थी । हाल ही में सिंध और राजस्थान के मरूस्थलों में एक विशाल क्षेत्र का सर्वेक्षण किया गया है और वहाँ मध्यपुरापाषाणकालीन जीवनयापन के संकेत मिले हैं । अतः ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यपुरापाषाणकालीन लोग पंजाब नहीं गए जबकि सिंध, राजस्थान, गुजरात और मध्यप्रदेश उनके अत्यंत लोकप्रिय विचरण क्षेत्र थे ।

जहाँ तक संस्कृति का संबंध है, जिस क्षेत्र में उड़ीसा, उत्तरी आंध्र और विंध्याचल शामिल है और जो गंगा घाटी तक फैला हुआ है, वह सांस्कृतिक विशेषताओं की दृष्टि से कमोवेश एकसार प्रतीत होता है । यहाँ के उपकरण बड़े–बड़े शल्कों के बने हैं जिनके किनारों को बहुत कम तेज किया गया है । दूसरी ओर पश्चिमी क्षेत्र के अन्तर्गत अर्थात् उत्तरी महाराष्ट्र, कर्नाटक और गुजरात में मध्यपुरापाषाण अधिक परिष्कृत है और उनमें कई बहुत बढ़िया नोकें बनी है । कुछ उपकरणों में कुंदे को बारीक करने के लिए दोनों ओर घिसाई की गई है । लवाल्वाई तकनीक पश्चिमी क्षेत्र में जितनी स्पष्ट है, उतनी पूर्व में नहीं । यहाँ यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि अब मध्यपुरापाषाणकालीन स्थल अफगानिस्तान, ईरान, ईराक और पाकिस्तान में भी मिले हैं । इनमें से अधिकांश अपने उपकरण–प्ररूपों की दृष्टि से

पश्चिमी यूरोप की **मोस्तरी संस्कृति** (Mausterian culture) से खूब मिलते–जुलते है । हो सकता है भारत के पश्चिमी क्षेत्र का इन विदेशी संस्कृतियों से कुछ सम्पर्क रहा हो, परन्तु ऐसी किसी तुलना का प्रयत्न करने से पहले हमें अपने देश से अधिक पुष्ट आधार–सामग्री अवश्य प्राप्त होनी चाहिए ।

2.6 उत्तरपाषाण काल (Upper Palacolithic Age)

भारत की उत्तरपुरापाशाणकालीन संस्कृति का विवरण आरंभ करने से पहले इस शब्द का अर्थ समझ लेना जरूरी होगा । यूरोप में इस शब्द का अर्थ भलीभांति स्थिर हो चुका है और उससे विशिष्ट उपकरण प्ररूपों और अन्य सांस्कृतिक विशेषताओं तथा कालानुक्रमिक स्थिति का संकेत मिलता है । उत्तरपुरापाषाण काल की परिभाषा यह दी जाती है कि इसमें निम्नलिखित विषेशताएँ अलग–अलग रूप में या मिली–जुली होनी चाहिए !

(क) इसमें उपकरण बनाने की मुख्य सामग्री लंबे, स्थूल प्रस्तर फलक होते हैं ।

(ख) जो उपकरण तैयर किए जाते हैं उनमें लक्षणी और खुरचनी की प्रतिशत मात्रा बहुत रहती है । सरल फलकों के किनारों को तेज या खुंडा बनाने के लिए उनकी घिसाई की जा सकती है ।

(ग) ऐसा प्रतीत होता है कि इस संस्कृति में अस्ति–उपकरणों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण थी । जो प्ररूप पहचान लिए गए हैं उनमें कुछ अलंकृत छड़ें, मत्स्य भाले, नोकदार सुइयाँ और भालों की नोकें शामिल है ।

(घ) नक्काशी और चित्रकारी दोनों रूपों में कला, व्यापक रूप से देखने को मिलती है ।

यदि ये विशेषताएँ किसी ऐसे निक्षेप में मिलती हो जिसे अत्यंतनूतन युग का निक्षेप सिद्ध किय जा सके तो उस संस्कृति को उत्तरपाषाणकालीन संस्कृति के रूप में पहचान सकते है । यह कहना एकदम सही नहीं होगा कि फलक या फलकों से बने उपकरण इससे पहले भारत में अज्ञात थे । दुर्भाग्य से, ये हमेशा अपने से पहली या बाद की संस्कृति के साथ मिले–जुले पाए गए है, और हमेशा धरातल से ही मिले हैं । अतः इस सामग्री की कालनुक्रमक स्थिति को भी प्रदर्शित नहीं किया जा सका है ।

परन्तु हाल ही में अनेक ऐसे स्थल प्रकाश में आए हैं जहाँ शुद्ध फलक उद्योग नदी निक्षेपों में दबे हुए पाए गए हैं । इनका एक सर्वोत्त्म उदाहरण इलाहाबाद की बेलन घाटी से मिला है । यहाँ बहुसंख्यक नदियों के विपरीत सामान्य दो बजरियों के ऊपर एक तीसरी बजरी की पर्त्त मिली है । इस तीसरी बजरी से न केवल उत्तर पुरापाषाण युग का पूरा उद्योग प्रापत हुआ है, बल्कि रेडियो–कार्बन पद्धति से इसका तिथि निर्धारण भी किया जा सकता था । आंधप्रदेश के रेनीगुंटा में फलकों और तक्षणियों का एक और विशाल संग्रह प्राप्त हुआ है । उसी राज्य के बेटमचेर्ला में अनेक अस्थि–उपकरण भी मिले है । कर्नाटक में, विशेषतः, शोरापुर और बीजापुर जिलों में, उत्तरपुरापाषाण काल के कुछ अन्य दबे हुए स्थल मिले है ।

अभी तक यह सिद्ध करने की कोई संभावना है कि भारतीय उत्तरपुरापाषाण काल अपने मध्य–पुरापाषाणकालीन आधार पर विकसित हुआ है या बाहर के सम्पर्क का प्रतिनिधित्व करता है । यदि पुराने सिंधु गुजरात और राजस्थान की पट्टी को सम्पर्क का मार्ग मान लिया जाए तो इस सम्पूर्ण मार्ग से बेलन जैसे, शोरापुर जैसे पर्याप्त उत्तरपुरापाषाण नहीं मिलते । साथ ही यह पता चला है कि हमारे मध्य–पुरापाषाण काल तक इस क्षेत्र में फलक–विनिर्माण की जड़ें गहरी जमी थीं । परिणामतः जब तक कोई और प्रमाण नहीं मिलता, भारत के उत्तरपुरापाषाण काल की स्थानीय उत्पत्ति की पचास प्रतिशत संभावना स्वीकार करना उपर्युक्त होगा ।

पुरापाषण युग के औजार निर्माण प्रौद्योगिकी एवं प्रयोग – उपकरण–प्ररूपों और उनकी निर्माण–तकनीकों का अध्ययन अनेक पुरातत्ववेत्ताओं का पूर्णकालिक व्यवसाय है । यहाँ हम उन तकनीकों का बहुत ही संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है –

(i) उपकरण बनाने के एिल एक उपयुक्त पत्थर चुना जाता है । फिर किसी सुविधाजनक बटिकाश्म से हथौड़े की तरह उस पर चोट की जाती है । इससे उस पत्थर का छोटा–सा टुकड़ा अलग हो जाता

है । जिस पत्थर को बार–बार चोट करके उसे अभीष्ट रूप में ढ़ाल सकते हैं, उसे क्रोड (core) कहा जाता है । और उससे जो छोटे–छोटे टुकड़े उतारे जाते हैं उन्हें शल्क (flakes) कहते हैं ।

(ii) जो प्रक्रिया सरल शल्कन (flaking) से आरंभ होती है उसका अंत गौण शल्कन से होता है और फिर किनारों पर बारीक घिसाई की जाती है ताकि तेज धार बनाई जा सके ।

(iii) तैयार नमूने की आकृति कैसी है और उसकी धार कैसे बनाई गई है–इस आधार पर उपकरण–प्ररूप निर्धारित किया जाता है ।

(iv) जब किसी स्थल पर मिलने वाले अधिकांश उपकरण–प्ररूप शल्कों में तैयार किए गए हो, तब उद्योग को उन्नत प्रौद्योगिकी (technology) पर आधारित मानते हैं, क्योंकि इससे प्रागैतिहासिक समुदाय की इस सूझ–बूझ का परिणाम मिलता है कि परिश्रम के परिणाम का अधितम उपयोग कैसे किया जाए ।

प्रस्तुत संदर्भ में यह याद रखना जरूरी है कि कोई भी समुदाय शल्क–विधि के लाभ से परिवर्तन होने के बावजूद कुछ क्रोड उपकरणों का प्रयोग जारी रखता है क्योंकि केवल तेज किनारे से सारी जरूरतें पूरी नहीं हो जाती । चीरने–फाड़ने के लिए भारी क्रोड़ उपकरण भी महत्वपूर्ण होते हैं ।

(v) क्रोड़ पर बेतरतीव प्रहार करके शल्क उतारने की सामान्य विधि के अलावा दो महत्वपूर्ण तकनीकें और भी हैं । इन्हें **क्लैक्टोनी** (Clactonian) और लवाल्वाई (Levalloisean) तकनीकें कहा जाता है ।

क्लैक्टोनी तकनीक के प्रयोग का पहला–पहला विवरण लगभग 4,00,000 वर्श पूर्व इंग्लैंड के क्लैक्टोन–ऑन–सी नामक स्थान पर मिलता है । इस तकनीक के अन्तर्गत किसी क्रोड़ से एक बड़ा–सा भाल्क उतारते हैं, और फिर पहले शल्क के चिह्न को दूसरा शल्क उतारने का आधार–तल बना लेते हैं । यही प्रक्रिया तीसरे और बाद के शल्कों के संदर्भ में भी दोहराई जाती है । क्लैक्टोनी शल्क बड़े और मोटे होते है और उनमें बहुत स्पष्ट धनात्मक आघात गोलक देखने को मिलताहै । आधार–तल पर शल्क–चिह्न से जो कोण बनता है वह प्रायः 90^0 से बड़ा होता है ।

ल्वाल्वाई तकनीक के प्रयोग का विवरण अपेक्षाकृत परवर्ती काल, अर्थात लगभग 2,00,000 वर्ष पूर्व फ्रांस में पेरिस के निकट लवाल्वाई नामक स्थान पर मिलता है । इस विधि के अन्तर्गत पहले क्रोड के एक तल से अनेक केंद्रोन्मुख शल्क उतार कर क्रोड़ को तैयार किया जाता है, और फिर तैयार तल के शीर्ष पर प्रहार करते है ताकि ऐसा शल्क उतार सके कि ब्राह्य या पृष्ठीय तल से और शल्क उतारे जा सकें । अतः इस विधि को **निर्मित क्रोड़ तकनीक** (prepared core technique) भी कहते हैं । शल्क प्रायः छोटे से लेकर मध्यम आकार के होते हैं जिनके पृष्ठीय तल पर शल्कों के निशान बने रहते हैं । प्रहार का आधार–तल बहुधा यह दर्शाता है कि उसे जान–बूझकर बराबर करने का प्रयत्न किया गया है ।

नीचे कुछ आधारभूत उपकरण–प्ररूपों की सूची दी जा रही है । प्रागैतिहासिक पुरातत्व में इनका प्रयोग सांस्कृतिक विशेषकों के रूप में किया जाता है –

(क) गंडासा और खंडक उपकरण (Chopper & Chopping Tool) – ये क्रोड़ उपकरण है । इन्हें बनाने के लिए बटिकाश्म के एक सिरे से बहुत थोड़े परन्तु गहरे शल्क उतार लेते हैं ताकि काम करने वाली चौड़ी धार बन जाए । जब ये शल्क एक ही तल में उतारे जाते हैं, अर्थात् जब उनकी धार एक ओर बनाई जाती है तो ऐसे प्ररूप को गंडासा कहते है । जब धार दोनों ओर बनाई जाती है तो उसे खंडक उपकरण कहा जाता है ।

(ख) हस्तकुठार और विदारणी (Handaxe and Cleaver) – ये अतीत काल के सबसे पुराने परिचित उपकरण है । जितनी बार ये उपकरण मिले हैं उतनी बार और कोई नहीं मिले । मोटे तौर पर ये तिकोने क्रोड़ उपकरण होते हैं जिनमें दोनों ओर इस तरह धार बनाई जाती है कि दो प्रखर पार्श्व एक जगह मिलकर काम करने वाला

तंग सिरा बना देते हैं । जब पार्श्व एक जगह मिलने के बजाय समानांतर होते है और काम करने वाला चौड़ा सिरा बनाते हैं तो ऐसे उपकरण को विदारणी कहते हैं ।

हमारी अधिकांश भारतीय और अफ्रीकी विदारणिां केवल एक ओर धार वाली हैं और ये बड़े–बड़े शल्कों से बनी है । पृष्ठीतय तल से एक ढलवां शल्क उतारा जाता है ताकि उसका चिह्न तल के नीचे की पट्टी का प्रतिच्छेदन करते हुए छैनी जैसा चौड़ा काम करने वाला सिरा बना दें । विदारणी का कुंदा यदि चौड़ा हो तो उसे 'यू' आकार वाली कहते है और यदि वह नुकीला हो तो उसे 'बी' आकार वाली कहा जाता है ।

यदि हस्तकुठार लंबा–चौड़ा, भारी–भरकम और अनगढ़ हो तो उसे एबीवेली हस्तकुठार (Abbevillin handaxe) भी कह सकते है । परिणामतः इसका काम करने वाला किनारा बड़ा ऊबड़–खाबड़ होता है और प्रायः वह बेडौल भी होता है ।

(ग) ऐशूली हस्तकुठार (Acheulion handaxe) – यह उपर्युक्त प्ररूप के एकदम विपरीत होता है । इसका नाम रिस युग की एक अन्य पश्चिमी यूरोपीय पूर्व पुरापाषाणकालीन परम्परा के आधार पर रखा गया है । यह हस्तकुठार से काफी छोटा और सुडौल होता है और इसे तैयार करने में अनेक बार द्वितीयक शल्क उतारे जाते है और किनारों का व्यापक परिष्कार किया जाता है ।

(ग) खुरचकी (Scraper**) –** इनमें शल्क–उपकरणों की दो भिन्न–भिन्न श्रेणियाँ आ जाती है – पार्श्व खुरचनी और अत्यन्त खुरचनी । इनमें किसी मोटे शल्क के एक या अनेक किनारों की घिसाई की जाती है ताकि एक तेज और मजबूत किनारा बन जाए । जब काम करने वाला किनारा लंबे खींचे गए शल्क के सिरे पर होता है तब इस उपकरण को अत्यन्त खुरचनी कहते है और जब बड़े किनारे के साथ–साथ बना होता है, तब उसे पार्श्व खुरची कहते है। ।

(घ) बेधनी (Point) – किसी भी ऐसे शल्क या फलक के प्ररूप को वेधनी कहते हैं जिसमें एक जगह मिलने वाले दोनों किनारों के साथ–साथ घिसाई कर दी जाती है ताकि एक पतला, नुकीला, काम करने वाला सिरा बन जाए ।

(ड.) तक्षणी (Burin) – यह शल्क या फलक से बनने वाला उपकरण है । इसमें दो ऐसे झुके हुए तल बनाए जाते हैं जो हू–ब–हू आधुनिक पेचकस की तरह एक दूसरे के साथ जुड़े होते हैं ।

(च) बेधक (Borer) – यह कुछ–कुछ मोटे किंतु छोटे शल्कों और फलकों से इस तरह तैयार किया जाता है कि इसमें बाहर निकले हुए हिस्सें के कंधे पर एक या दो दाँते बनाकर एक मोटी नोक निकल आए ।

2.7 मध्यपाषाण काल (Mesolithic Age)

2.7.1 वातावरण और विन्यास (Environment and its Surroundings) –

8,000 ई 0 पूर्व के आस–पास अत्यंतनूतन युग का अंत हो जाने पर सम्पूर्ण विश्व में भारी जलवायु–परिवर्तन हुए । वातावरण में हुए परिवर्तनों के कारण मनुष्य के लिए सर्वथा नवीन अनुकूलन आवश्यक हो गया । भारत में अब हमें पूर्वी और पश्चिमी दोनों क्षेत्रों से यह साक्ष्य प्राप्त होता है कि कम–से–कम दो अत्यंत शुष्क दौर अवश्य आए थे जिनमें बहुत ही तेज हवाएँ चलती थीं । इनके परिणामस्वरूप बहुत सारे मौसमी जलस्रोत सूख गए होंगे और बहुत सारे जीव–जन्तु दक्षिण या पूर्व की ओर प्रस्थान कर गए होंगे, जहा कम–से–कम मोसमी वर्षा के कारण उपर्युक्त घनी वनस्पति बनी रह सकती थी । पूर्व में स्थिति कुछ समय तक ऐसी नहीं रही होगी, परन्तु शुष्कता की लहर शीघ्र ही पश्चिमी बंगाल में छोटानागपुर के विस्तार तक व्याप्त हो गई । अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि आज हमें एक सींग वाले गेंडे असम के भीतरी भाग तक पहुँचे हुए मिलते हैं जबकि अत्यंतनूतन युग में वे पश्चिमी में गुजरात तक पाए जाते थे ।

मध्यपाषाण युग पुरापाषाण युग और नवपाषाण युग के बीच संक्रान्ति काल था । जलवायु उष्ण और शुष्क हो गई । जलवायु में पविर्तन होने से जीव–जन्तुओं और वनस्पतियों में भी परिवर्तन हुआ । मनुष्य के लिए नये क्षेत्रों की

ओर बढ़ना संभव हुआ । बर्फ की जगह घास से भरे मैदान और जंगल उगने आरंभ हुए । छोटे जानवरों के शिकार के के लिए मनुष्य ने छोटे–छोटे हथियार बनाना प्रारंभ किया । हथियारों को व्यवहार में लाने के लिए इन्हें लकड़ी के हत्थों या हड्डी के हत्थों में नियत कर दिया जाता था । इस युग के प्रमुख औजारों में इकधार फलक (Backed Blade), वेधनी (Points), अर्द्ध चन्द्राकार (Lunate) और समलम्ब (Trapeze) उल्लेखनीय है ।

मध्यपाषाणकालीन संस्कृति में अनेक नये तत्व दिखाई पड़ते थे । मनुष्य अब छोटे–छोटे समूह में रहने लगा । आखेट के अतिरिक्त मनुष्य अब पशुपालन और कृषि का काम भी करने लगा । इसके लिए स्थायी निवास की आवश्यकता हुई । मिट्टी के बर्तन भी बनने लगे । बागोर से शवों को सुनियोजित ढ़ंग से दफनाने की विधि का पता चला है । सराय नाहर राय तथा महादाहा से स्थायी झोपड़ियाँ बनाकर रहने का पता चलता है । सराय नाहर राय से आक्रमण या युद्ध के प्रमाण भी मिले है । ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह युद्ध व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण हुआ होगा । विन्ध्याचल की गुफाओं ओर शैलाश्रयों से शिकार, युद्ध तथा नृत्य के चित्र मिले है । भोजन पकाने के लिए चूल्हा और मिट्टी के बरतन भी बनाये जाते है । लंघनाज से हस्तनिर्मित मिट्टी के बरतन भी मिले है । इस प्रकार मध्यपाषाण काल में पशुपालन तथा आरंभिक कृषि का काम शुरू हो चुका था । साथ ही मानव स्थायी आवास भी बनाने लगा था ।

2.7.2 मध्यपाषाणकालीन उपकरण प्रारूप

(i) **इकधार फलक** (Backed Blade) – ये ऐसे फलक हैं जिनमें एक किनारे को ऊर्ध्वाधर छेदन (vertical nipping) के द्वारा खुंडा कर देते है । यह पृष्ठ कार्य इस ढ़ंग से कर सकते हैं कि फलक का आयताकार रूप ज्यों–का–त्यों बना रहे या पृष्ठित किनारा (backed border) तीक्ष्ण धार तक बढ़ा दिया जाए ।

(ii) **बेघनी** (Point) –कोई भी फलक जिसे तिकोना तोड़ा गया हो ओर फिर एक या दोनों ढलवाँ किनारों के साथ–साथ नुकीले सिरे की ओर घिसकर पैना किया गया हो, बेधनी कहलाता है ।

(iii) **अर्धचंद्राकार** (Lunate) – जब कोई आयताकार फलक लेकर उसके एक तीक्ष्ण किनारे को अर्धवृताकार रूप में खुंडा कर देते है ताकि वह दोनों सिरों पर तीक्ष्ण किनारे से मिला रहे, तो उसे अर्धचन्द्राकार (लूनेट) कहते हैं ।

(iv) **समलंब** (Trapeze) – यह ऐसा फलक है जिसे समलंब रूप में तोड़ा जाता है और फिर एक से अधिक किनारों पर खुंडा कर दिया जाता है ।

अर्थव्यवस्था (Economy)

पुरापाषाण युग की बस्तियों में भारतीय और विदेशी मूल के जानवरों के अवशेष काफी मात्रा में पाए गए हैं । नर बानर, जिराफ, कस्तूरी मृग, बकरी, भैसा, गाय और सूअर स्वदेशी मूल के पशु प्रतीत होते हैं । ऊँट और घोड़े उत्तरी अमरीका से संबंध का पता चलता है । दरियाई घोड़ा और हाथी मध्य अफ्रीका से भारत आये थे । अधिकांश जानवर भारत की उत्तर पश्चिमी सीमा से होकर आये । उस समय अफ्रीका और भारत के बीच काफी आदान–प्रदान होता था ।

पुरापाषाण युग के मनुष्य भोजन के लिए किन स्रोतों पर निर्भर करते थे ? इस बारे में जानकारी जानवरों के अवशेषों से मिलती है । इन अवशेषों से पता चलता है कि लोग शिकारी और संग्रहकर्त्ता अवस्था में थे । उस समय के लोगों ने आसपास पाये जाने वाले पशुओं और पेड़ों का भोजन के रूप में उपयोग किया होगा । मनुष्य छोटे और मध्यम आकार के जानवरों, विशेषतः खुरों वाले पशुओं का शिकार करता होगा । इस काल में किसी खास प्रकार की शिकारी प्रवृति का पता नहीं चलता है । कहीं–कहीं कुछ विशेष प्रकार के जानवरों के अवशेष बहुतायत में पाए गए, लेकिन इसका कारण यह है कि उस इलाके में उन विशेष जानवरों की बहुतायत थी और उनका शिकार करना आसान था । ऐसा लगता है कि शिकारी/संग्रहकर्ताओं द्वारा पशुओं और पेड़ों को भोजन के रूप में इस्तेमाल करना काफी हद तक शुष्क/आद्र

ऋतुचक्र पर आधारित था । पुरापाषाण युग के लोग मुख्य रूप से बैल, गवल, नीलगाय, भैंसा, चिंकारा, हिरण, बारहसिंगे, साम्भर, जंगली सूअर, कई तरह के पक्षियों, कछुओं, मछलियों, मधु और फलदायक पौधों के फलों, मूल, बीजो और पत्तों को भोजन के रूप में इस्तेमाल करते थे ।

यह कहा जाता है कि आज के वर्तमान शिकारी/संग्रहकर्त्ताओं द्वारा शिकार किए जाने वाले जानवरों से अधिक महत्व शिकारी/संग्रहकर्ताओं द्वारा संग्रहित भोजन का है । संग्रहित भोजन के अवशेष शिकारी के अवशेषों की तुलना में अधिक समय तक सुरक्षित रहते हैं । ये लोग किस प्रकार के पौधों या फलों का भोजन के रूप में इस्तेमाल करते थे इस बारे में उस प्रकार की जानकारी उपलब्ध नहीं है ।

पत्थर पर की गई चित्रकारी और खुदाई से भी हमें पुरापाषाण युग के लोगों के रहन–सहन और सामाजिक जीवन के बारे में पता चलता है । सबसे पुरानी चित्रकारी उत्तर पुरापाषाण युग की है । प्रथम काल में उत्तर पुरापाषाण युग की चित्रकारी में हरे और गहरे लाल रंग का उपयोग हुआ है । इन चित्रों में भैंसें, हाथी, बाघ, गैंडे और सूअर के चित्र प्रमुख है । पुरापाषाण युग के लोगों के शिकारी जीवन की सही जानकारी प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार के जानवरों के कितने और किन रूपों में मित्र मिलें है इसका बारीकी से अध्ययन करना होगा । खुदाई और चित्रकारी से पता चलता है कि शिकार ही जीवन यापन का मुख्य साधन था। इन चित्रों से यह भी पता चलता है कि पुरापाषाण युग के लोग छोटे–छोटे समूहों में रहते थे और उनका जीवन निर्वाह पशुओं और पेड़–पौधों पर निर्भर था ।

बोध प्रश्न

1. प्रागैतिहासिक शिकारी/संग्रहकर्ता युग की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालें ।
2. पूर्व पाषाणकाल के औजार की विशेषताओं का वर्णन करें ।
3. मध्यपाषाण काल के जीवनयापन के तरीके का वर्णन करो ।
4. मध्यपाषाण काल की बस्तियों पर प्रकाश डालें ।
5. मध्यपाषाण काल की अर्थ–व्यवस्था पर प्रकाश डालें ।

* * * * *

अध्याय- 3

प्रागैतिहासिक संस्कृति - नव पाषाणकाल कृषि और पशुपालन का आरंभ

(Pre-Historic Culture– Neolithic age- Begining of Agriculture and Animal Husbandary)

3.0 उद्देश्य (Aims)

3.1 प्रस्तावना (Introduction)

3.2 नव पाषाणकाल संस्कृति की विशेषताएँ (Characterstics of Neolithic age Culture)

3.3 कालक्रम (Pleistoene in India)

बोध प्रश्न

3.0 उद्देश्य (Aims)

- इस इकाई को पढ़ने के बाद कृषि और पशुपालन की प्रारंभिक अवस्था को जान सकेंगे ।
- नवपाषाणकाल के प्रमुख स्थलों से परिचय प्राप्त करेंगे ।
- भारत उपमहाद्वीप के अलग–अलग क्षेत्रों में उगाई जाने वाली विभिन्न प्रकार के फसलों के विषय के बारे में ज्ञान प्राप्त करेंगे ।
- नवपाषाण काल के विभिन्न कालक्रमों को जान सकेंगे ।

3.1 प्रस्तावना (Introduction)

सामान्यतः मानव समुदाय अपने अस्तित्व में सबसे अधिक लम्बे समय तक शिकारी/संग्राहक के रूप में जीवित रहे । उनके अस्तित्व का यह चरण उनके पत्थर के औजारों से प्रकट होता है, जिन्हें पुरातत्वविदों ने पूर्व पाषाण और मध्य पाषाण नामक दो श्रेणियों विभक्त किया है ।

इनके औजारों द्वारा जिन पशुओं का शिकार किया गया है उनके अवशेषों के आधार पर भी उनका वर्गीकरण किया गया है । मानव समुदायों ने संस्कृति के एक नए चरण में उस समय प्रवेश किया, जब जीवित रहने के लिए प्रकृति के साधनों पर पूरी तरह से निर्भर रहने की बजाय जौ, गेहूँ और चावल जैसे अनाज उगाकर अपने भोजन का स्वयं उत्पादन करना शुरू किया और दूध तथा मांस की पूर्ति के लिए और विभिन्न प्रयोजनों के वास्ते उनके श्रम का उपयोग करने के लिए कुछ विशेष प्रकार के पशुओं को पालना शुरू किया । नवपाषाणा औजार और चरण से सम्बद्ध मानव जीवन के विभिन्न पहलु, जब यह औजार बनाा गए थे, संस्कृति के उस चरण के विभिन्न तत्व हैं जिनमें यह नवपाषाण समुदाय रहे थे ।

3.2 नव पाषाणकाल संस्कृति की विशेषताएँ
(Characteristics of New Palaeolithic Culture)

विश्वस्तरीय संदर्भ में नवपाषाण युग 9000 ई0 पू0 से आरम्भ होता है । भारतीय उपमहाद्वीप में नवपाषाण युग की एक ऐसी बस्ती मिली है जिसका समय लगभग 7000 ई0 पूर्व बताया जाता है । यह पाकिस्तान के बलूचिस्तान प्रान्त में अवस्थित मेहरगढ़ में है । मेहरगढ़ बलूचिस्तान के 'ब्रेड बास्केट' नाम से प्रसिद्ध कोची मैदान में बोलन नदी के तट पर अवस्थित था । यहाँ के प्राचीनतम निवासी पशुपालन करते थे और अनाज उपजाते थे । लेकिन 5550 ई0 पू0 के लगभग बाढ़ों के कारण वे तबाह हो गए । लगभग 5000 ई0 पूर्व में पत्थर और हड्डी दोनों के बने औजारो की सहायता से कृषि और अन्य गतिविधियाँ फिर से शुरू हो गई । इस क्षेत्र के नवपाषाणयुगीन लोग शुरू से ही गेहूँ और जौ उपजाते थे । वे प्रारंभिक चरण में गाय, भेड़ और बकरी पालते थे । आरंभ में बकरियों की संख्या ज्यादा रही, लेकिन अंततः गायों की संख्या बकरियों और भेड़ों दोनों से अधिक हो गई । इससे अवश्य ही कृषि को लाभ पहुँचा होगा । अनाज अच्छी मात्रा में उपजाए जाते थे और अन्नागारों में रखे जाते थे । अधिकतर अन्नागार कच्ची ईंटों से, जिनसे आवासीय संरचनाएँ बनाई जाती थीं, बनाए जाते थे । कच्ची ईंटों की अनेक संरचनाएँ जिनमें खाने बने हैं, अन्नागार मालूम पडती हैं । 4500–3500 ई0 पूर्व के काल में कोची मैदानी क्षेत्र से सिंधु नदी के मैदानी क्षेत्र तक कृषि का पर्याप्त विस्तार हुआ । 5000 ई0 पू0 तक लोग चाक से मृद्भांड नहीं बनाते थे, लेकिन 4500 ई0 पू0 के बाद कुम्हार के चाक की जानकारी हो गई । मिट्टी के बरतनों की सख्या तेजी से बढ़ी और उनपर चित्रकारी होने लगी । सिंधु की सहायक नदी हकरा की सूखी घाटी में 47 उत्तर नव पाषाणकालीन बस्तियाँ मिली हैं । स्पष्टतः इनसे हड़प्पा संस्कृति के उद्भव का मार्ग प्रशस्त हुआ ।

विंध्य पर्वत के उत्तरी पृष्ठों पर पाए गए कुछ नवपाषाण स्थलों को 5000 ई0 पूर्व तक पुराना बताया जाता है । किंतु सामान्यतया दक्षिण भारत में पाई गई नवपाषाण बस्तियाँ 2500 ई0 पू0 से अधिक पुरानी नहीं है ।

इस युग के लोग पालिशदार पत्थर के औजारों और हथियारों का प्रयोग करते थे । वे खास तौर से पत्थर की कुल्हाड़ियों का इस्तेमाल करते थे । ये कुल्हाड़ियाँ देश के पहाड़ी इलाकों के अनेक भागों में विशाल मात्रा में पाई गई हैं ।

नवपाषाण युग के निवासियों द्वारा व्यवहृत कुल्हाड़ियों के आधार पर हम उनकी बस्तियों के तीन महत्वपूर्ण क्षेत्र देखते हैं – उत्तर–पश्चिमी, उत्तर–पूर्वी और दक्षिणी । उत्तर–पश्चिमी समूह के नवपाषाण औजारों में वक्र धार की आयताकार कुल्हाड़ियाँ हैं । उत्तर–पूर्वी समूह की कुल्हाड़ियाँ पालिशदार पत्थर की होती थीं जिनमें आयताकार दस्ता लगा रहता था औश्र कभी–कभी कंधेदार खंतियाँ भी लगी होती थीं । दक्षिणी समूह की कुल्हाड़ियों की बगलें अंडाकर होती थीं और हत्था नुकीला रहता था ।

उत्तर–पश्चिम में, कश्मीरी नवपाषाण संस्कृति की कई विशेषताएँ हैं जैसे गर्तावास (गड्ढ़ा–घर), मृद्भांड की विविधिता, पत्थर तथा हड्डी के तरह–तरह के औजारों का प्रयोग और सूक्ष्मपाषाण का पूरा अभाव । इसका महत्वपूर्ण स्थल है बुर्जहोम, जिसका अर्थ होता है बुर्ज वृक्ष का स्थान । यह श्रीनगर से उत्तर–पश्चिमी की ओर 16 कि0 मी0 दूर है । वहाँ नवपाषाणयुगीन लोग एक झील के किनारे जमीन के नीचे घर बनाकर रहते थे, और शिकार और मछली पर जीते थे । कश्मीर में नवपाषाणयुगीन लोग न केवल पत्थर के पालिशदार औजारों का प्रयोग करते थे, अपितु वे हड्डी के बहुत सारे औजारों और हथियारों का भी प्रयोग करते थे ।

भारत में चिराँद ही एक और स्थान है जहाँ हड्डी के उपकरण पाए गए हैं । यह स्थान गंगा के उत्तरी किनारे पर पटना से 40 कि0 मी0 पश्चिम में है । यहाँ के उपकरण हिरण सींगों के हैं और परवर्ती नवपाषाण परिवेश में 100 सेंटीमीटर वर्षा वाले क्षेत्र में पाए गए है । यहाँ बस्ती इसलिए संभव हुई कि गंगा, सोन, गंडक और घाघरा इन चार नदियों का संगमस्थल होने के कारण यहाँ खुली जमीन उपलब्ध थी । पर यहाँ की नवपाषाण संस्कृति में पत्थर के औजारों की कमी ध्यान देने योग्य है ।

बुर्जहोम के लोग रूखड़े, धूसर मृद्भांडों का प्रयोग करते थे । यहाँ कब्रों में पालतू कुत्ते भी अपने मालिकों के शवों के साथ दफनाए जाते थे । पालतू कुत्तों को उनके मालिकों की कब्रों में दफनाने की प्रथा भारत में अन्य किसी भी भाग में नवपाषाणकालीन लोगो में शायद नहीं थी । बुर्जहोम वास्थान की सबसे पूर्व की तिथि 2700 ई0 पूर्व है, किन्तु चिराँद में मिली हड्डियों की तिथि 2000 ई0 पू0 से बहुत पहले नहीं रखी जा सकती है, और संभवत यहाँ के औजार पछेती नवपाषाण काल के हैं ।

नवपाषाण युग के लोगों का दूसरा समूह दक्षिण–भारत में गोदावरी नदी के दक्षिण में रहता था । वे आमतौर से नदी के किनारे ग्रेनाइट की पहाड़ियों के ऊपर या पठारों में बसते थे । वे पत्थर की कुल्हाड़ियों का और कई तरह के प्रस्तर–फलकों का भी प्रयोग करते थे । उनके पास गाय–बैल, भेड़ और बकरी होती थीं । वे सिलबट्टे का प्रयोग करते थे जिससे प्रकट होता है कि वे अनाज पैदा करना जानते थे ।

तीसरा क्षेत्र जहाँ नवपाषाण युग के औजार मिले हैं, असम की पहाड़ियों में पड़ता है । नवपाषाण औजार भारत की उत्तर–पूर्वी सीमा पर मेघालय की गारो पहाड़ियों में भी पाए गए हैं । इसके अतिरिक्त, हम विंध्य के उत्तर, मिर्जापुर और इलाहाबाद जिलों में भी कई नवपाषाण स्थल पाते हैं ।

जिन कई नवपाषाण स्थलों का या नवपाषाण परतों वाले स्थलों का उत्खनन हुआ हैं, उनमें प्रमुख हैं – कनार्टक में मस्की, ब्रह्मगिरि, हल्लुर, कोडक्कल, पिक्लीहल, संगेनकल्लु, टी. नरसीपुर और तैक्कलकोट तथा तमिलनाडु में पैयमपल्ली । उतनूर आंधप्रदेश का महत्वपूर्ण नवपाषाण स्थल है । जान पड़ता है, दक्षिण भारत में नवपाषाणावस्था 2000 ई0 पू0 से 1000 ई0 पू0 तक जारी रहेगा ।

कर्नाटक के पिक्लीहल के नवपाषाणयुगीन निवासी पशुपालक थे और गाय, बैल, बकरी, भेड़ आदि पालते थे । वे अपने शिविर के चारों ओर खंभे और खूँटे गाड़कर मवेशी के बाड़े बनाते जिनमें वे मवेशियों को रखते और गोबर जमा करते थे । फिर वे उस सारे शिविर स्थल में आग लगाकर उसे साफ कर देते थे ताकि अगले मौसम में फिर शिविर लगाए जाएँ । पिक्लीहल में राख के ढ़ेर और निवास स्थान दोनों मिले हैं ।

नवपाषाण युग के निवासी सबसे पुराने कृषक समुदाय के थे । वे पत्थर की कुदालों और खोदने के डंडों से जमीन खोदते थे । डंडों में एक ओर एक से आधो किलोग्राम वजन के पत्थर के छल्ले लगे रहते थे । पत्थर के पालिशदार औजारों के अलावा वे सूक्ष्म पाषाण–फलकों का भी प्रयोग करते थे । वे मिट्टी के सरकंडों के बने गोलाकार या आयताकार धरों में रहते थे । बताया जाता है कि गोलाकार घरों में रहने वालों की सम्पत्ति पर सामुदायिक स्वामित्व होता था । ये लोग रागी और कुल्थी पैदा करते थे ।

मेहरगढ़ में बसने वाले नवपाषाण युग के लोग अधिक उन्नत थे । वे गेहूँ, जौ और रूई उपजाते थे और कच्ची ईंटों के घरों में रहते थे ।

चूँकि नवपाषाण अवस्था के कई लोग अनाजों की खेती करते थे और पशु पालते थे इसलिए उन्हें अनाज रखने के बरतों की जरूरत हुई । फिर पकाने, खाने और पीने के पात्रों की भी आवश्यकता हुई । अतः कुंभकारी सबसे पहले इसी अवस्था में दिखाई देती है । आरंभ में हाथ से बनाए गए मृद्भांड मिलते हैं । बाद में मिट्टी के बरतन चाक पर बनने लगे । इन बरतनों में पालिशदार काला मृद्भांड, धूसर मृद्भांड और चटाई की छाप वाले मृद्भांड शामिल है ।

नवपाषाण युग के सेल्ट, कुल्हाड़ियाँ, बसूले, छेनी आदि औजार उड़ीसा और छोटानागपुर के पहाड़ी इलाकों में भी पाए गए है ।

9000 ई0 पू0 और 3000 ई पू0 के बीच की अवशि में पश्चिमी एशिया में भारी तकनीकी प्रगति हुई, क्योंकि इसी अवधि में लोगों ने खेती, बुनाई, कुंभकारी, भवन–निर्माण, पशुपालन, लेखन आदि का कौशल विकसित हुआ । परन्तु भारत में यह सारा विकास कुछ विलम्ब से हुआ । फिर भी, भारतीय उपमहाद्वीप में नवपाषाण युग ईसा–पूर्व छटी सहस्राब्दी के आसपास शुरू हुआ । गेहूँ, जौ आदि सहित कई महत्वपूर्ण फसलें इस उपमहाद्वीप में इसी अवधि से उपजाई जाने लगी और संसार के इस भाग में कई गाँव बसे ।

प्रस्तर युग के लोगों की एक भारी लाचारी थी । वे पूर्णतः पत्थर के ही औजारों और हथियारों पर आश्रित थे, इसलिए वे पहाड़ी इलाकों से दूर जाकर बस्तियाँ नहीं बना सकते थे । वे पहाड़ियों की ढ़लानों पर, गुफाओं में और पहाड़ियों से युक्त नदी घाटियों में ही अपना निवास बना सके । साथ ही, काफी प्रयास के बावजूद ये सिर्फ उतना ही अनाज पैदा कर सकते थे जिने से किसी तरह अपना जीवन बसर कर सकें ।

3.3 कालक्रम (Pleistoene in India)

9000 ई0 पू0	पश्चिमी एशिया में नवपाषाण युग की शुरूआत ।
7000 ई0 पू0	भारतीय उपमहादेश में नवपाषाणयुगीन बस्ती ।
5000 ई0 पू0	विंध्य के उत्तर में नवपाषाणयुगीन स्थल ।
4500 ई0 पू0	कुम्हार का चाक और उसके बाद
2700 ई0 पू0	कश्मीर में नवपाषाणयुगीन बस्तियों की प्राचीनतम तिथि ।
2500 ई0 पू0	दक्षिण भारत में प्राचीनतम नवपाषाणयुगीन बस्तियाँ ।
2000 ई0 पू0	चिराँद के नवपाषाणयुगीन अवस्था की प्राचीनतम तिथि ।
1000 ई0 पू0	दक्षिणी और पूर्वी भारत में नवपाषाणयुगीन बस्तियोंके नवीनतम साक्ष्य ।

बोध प्रश्न

1. नवपाषाणकाल की संस्कृति की प्रमुख विशेषताएँ क्या थी ?
2. नवपाषाणकालिन स्थलों को जान सकेंगे ।
3. नवपाषाण के औजार प्रौधोगिकी के विकास के विभिन्न कारणों को बतायें ।
4. नवपाषाण काल में मानव–जीवन किस प्रकार शिकारी से खाद्य–संग्राहक के रूप में परिवर्तित हुआ ?

* * * * *

अध्याय- 4

आद्य इतिहास

(Proto History)

4.0 उद्देश्य (Aims)

4.1 प्रस्तावना (Introduction)

4.2 आद्य इतिहास का अर्थ (Meaning of Proto History))

4.3 हड़प्पा सभ्यता का विस्तार (Extension of Hadappa Civilization)

4.4 काल–निर्धारण (Determination of Era)

4.5 हड़प्पा प्रमुख स्थल (Major Places of Hadappa)

4.6 हड़प्पा सभ्यता की विशेषताएँ (Characteristics of Hadappa Civilization)

4.6.1 नगर योजना और संरचनाएँ (Town Planning and Structures)

4.6.2 कृषि (Agriculture)

4.6.3 पशुपालन (Animal Husbandary)

4.6.4 शिल्प और तकनीक विज्ञान (Sculpture and Technical Science)

4.6.5 व्यापार (Trade)

4.6.7 राजनीतिक संगठन (Politicial Organisation)

4.6.8 धार्मिक प्रथाएँ (Religious Convention)

4.6.9 हड़प्पाई लिपि (Hadappai Script)

4.6.10 माप–तौल (Weights and Measures)

4.6.11 मृदभांड (Pottery)

4.6.12 मुहरें (Stamps)

4.6.13 प्रतिमाएँ (Images)

4.6.14 मृण्मूर्तिकाएँ (Terracota Idols)

4.6.15 हड़प्पा संस्कृति की नगरोत्तर अवस्था (Post Town's Conditions of Hadappa Culture)

4.7 हड़प्पा सभ्यता का विनाश (Decline of Hadappa Civilization)

बोध प्रश्न

4.0 उद्देश्य (Aims)

- इस इकाई को पढ़ने के बाद एक प्राचीन सभ्यता की खोज के विषय में जान पायेंगे ।
- यह जान पायेगें कि इसका विस्तार कहाँ–कहाँ था ।
- यह जान पायेंगे कि इसके कालक्रम का निर्धारण कैसे हुआ ।
- यह समझ सकेंगे कि हड़प्पा सभ्यता के प्रमुख स्थल कौन–कौन थे।
- यह जान सकेंगे कि हड़प्पा सभ्यता की प्रमुख विशेषताएँ क्या थीं ।
- यह जान सकेंगे कि हड़प्पा सभ्यता का विनाश किस प्रकार हुआ ।

4.1 प्रस्तावना (Introduction)

पाकिस्तानी पंजाब स्थित हड़प्पा में प्राप्त कांस्ययुगीन नगरीय संस्कृति महान खोज थी । 1853 ई0 में ब्रिटिश अभियंता अलेक्जेंर कनिंघम ने, जो महान उत्खनक और अन्वेषयक हुए, हड़प्पा संस्कृति की मोहर देखी । मोहर के ऊपर वृषभ और कुल छह अक्षर अंकित थे, लेकिन उन्होंने उसका महत्त्व नहीं समझा । बहुत बाद में, 1921 ई0 में जब भारतीय पुरातत्त्वविद् द्यराम साहनी ने हड़प्पा की खुदाई शुरू की तब इसकी संभावनाओं की चर्चा होने लगी । प्रायः उसी समय इतिहासकार राखालदास बनर्जी ने सिंध में मोहेंजोदड़ों की खुदाई की । दोनों ने मृण्पात्र और अन्य पुरावशेष खोज निकाले जिनसे विकसित सभ्यता का संकेत मिलता था ।

1926 से 1934 ई0 तक एम0 एस0 वत्स ने हड़प्पा की खुदाई की; इसकी खुदाई ई0 जे0 एच0 मैके के द्वारा भी हुई । 1934 ई0 से जॉन मार्शल ने मोहेंजोदड़ों की खुदाई का भार अपने ऊपर ले लिया । 1946 ई0 में मॉर्टिमर ह्वीलर ने हड़प्पा की खुदाई की । इस प्रकार स्वतंत्रता और विभाजन के पहले के उत्खनन द्वारा हड़प्पा संस्कृति के अनेक स्थलों के, जहाँ कांसे का इस्तेमाल होता था, महत्वपूर्ण पुरावशेष प्रकाश में लाए गए ।

स्वतंत्रता के बाद के समय में भारत और पाकिस्तान दोनों के पुरातत्त्वविदों ने हड़प्पाई और उससे जुड़े स्थलों की खुदाई की । सूरजभान, एम0 के0 धावलिकर, जे0पी0 जोशी, बी0बी0 लाल, एस0 आर0 राव, बी0 के0 थापर, आर0 एस0 बिष्ट और कुछ अन्य पुरातत्त्वविदों ने इस सिलसिले में गुजरात, हरियाणा और राजस्थान में काम किया ।

एफ0 ए0 खान ने पाकिस्तान में सिंधु घाटी के अन्तर्गत कोटदीजी नामक स्थल की खुदाई की और एम0 आर0 मुगल ने हकरा तथा प्राकृ–हकरा संस्कृतियों की खुदाई पर अधिक ध्यान दिया । ए0 एच0 दानी ने पाकिस्तान के उत्तर–पश्चिमी सीमांत प्रदेश में गंधार के मकबरों की खुदाई की । अमरीकी, ब्रिटिश, फ्रांसीसी ओर इतालवी पुरातत्त्वविदों ने हड़प्पा सहित अनेक स्थलों पर काम किया ।

अब हमारे पास प्रचुर मात्रा में हड़प्पाई सामग्रियाँ हैं, यद्यपि उत्खनन और अन्वेषण अभी भी जारी है । सभी विद्वान हड़प्पा संस्कृति के नगरीय स्वरूप पर एकमत है । लेकिन हकरा–घग्गर नदी से शिनाख्त हुई सरस्वती नदी की भूमिका और इस संस्कृति के निर्माता की पहचान पर भिन्न–भिन्न मत हैं ।

4.2 आद्य इतिहास का अर्थ (Meaning of Proto History)

'आद्य इतिहास' (Proto History) शब्द का कोई नियत अर्थ नही है । किसी देश में इसका विवरण कुछ दिया जाता है किसी में कुछ, परन्तु मोटे तौर पर इसका अभिप्राय उस युग से है जो 'इतिहास' अथवा साक्षर अभिलेखों (Literate Records) से पहले का है, परन्तु उसके आरंभ के बहुत निकट आता है । भारत के संदर्भ में इस शब्द से उस युग का संकेत दिया जाता है, जो खाद्य उत्पादन के आरंभ (इसका सबसे पहला निश्चित साक्ष्य ईसा पूर्व 5,000 (+) के आसपास

उत्तर–पश्चिमी क्षेत्र में ब्लूचिस्तान से मिलता है) तथा ईसा पूर्व 600 के आसपास गंगा घाटी के आरंभिक ऐतिहासिक युग की शुरूआत के बीच में पड़ता है । यह एक अत्यन्त विस्तृत युग है जिसमें अनेक पुरातात्त्विक संस्कृतियाँ आ जाती हैं – हड़प्पा सभ्यता (ईसा पूर्व 2,900–2,000 और शायद थोड़ा बाद का युग भी) इन्हीं में से एक है । हड़प्पा सभ्यता के लिखित अभिलेख मौजूद हैं, इसलिए उसे 'साक्षर इतिहास (Literate History) का अंग मानना चाहिए । परन्तु सिंधुयुगीन लिखावट का अभी तक संतोषजनक पठन नहीं किया जा सका है, अतः साक्षर ऐतिहासिक अध्ययन की पद्वति उस पर लागू नहीं की जा सकती । यही कारण है कि इसे 'आद्य इतिहास' की परिधि में रखा गया है । बहरहाल, यह बात सच नहीं है कि ईसा पूर्व 600 से पहले भारत में 'इतिहास' क्रम का ठीक से आरंभ नहीं हुआ था । उदाहरण के लिए सारा–का–सारा वैदिक बाड्.मय ईसा पूर्व 600 से पहले का माना जाता है । भारत का आरंभिक ऐतिहासिक लेखन भी ईसा पूर्व 600 से एक–दो शताब्दी पुराना माना जाता है । परन्तु मुख्य बात यह है कि भारत में ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के मौर्ययुगीन शिलालेखों से पहले आरंभिक ऐतिहासिक लेखन का कोई निश्चित पुरातात्त्विक साक्ष्य नहीं मिलता । यह बात ध्यान देने की है कि वैदिक बाड्.मय तथा पुरातात्त्विक संस्कृतियों के बीच कोई संतोषजनक सहसंबंध स्थापित करना संभव नहीं हुआ है, हालाँकि ऐसे अनेक प्रयास किए गए हैं । यही कारण है कि पुरातत्त्ववेत्ताओं को अपने अध्ययन के संदर्भ से वैदिक बाड्.मय की उपेक्षा करनी पड़ती है । अतः 'आद्य इतिहास' की हमारी परिभाषा पर अनेक प्रश्नचिह्न तो लगे हैं, परन्तु भारतीय संदर्भ में कुल मिलाकर इसका अभिप्राय उस विस्तृत युग से है जब खाद्य उत्पादन का आरंभ हुआ और उसके परिणामस्वरूप ब्लूचिस्तान तथा वृहत्तर सिंधु घाटी में बस्तियाँ बस गयी । ('बृहत्तर सिंधु घाटी' केवल एक सुविधाजनक शब्द है जो दिल्ली और खंभात के बीच अरावली पर्वत के अक्ष के साथ–साथ एक काल्पनिक रेखा के पश्चिम तक सम्पूर्ण उपमहाद्वीप का संकेत देता है)

यह सही है कि भारतीय संदर्भ में आद्य इतिहास की परिभाषा को लेकर भारतीय पुरातत्ववेत्ताओं में मतभेद देखने को मिलता । उनका विचार यह है कि भारत में ईसा पूर्व 600 से पहले मानवीय जीवनयापन के सम्पूर्ण इतिहास को व्यक्त करने के लिए केवल एक ही शब्द 'प्रागैतिहास' का प्रयोग करना चाहिए, परन्तु अधिकांश विद्वान प्रस्तुत अर्थ में 'आद्य इतिहास' शब्द का प्रयोग करते हैं ।

4.3 हड़प्पा सभ्यता का विस्तार (Extension of Hadappa Civilization)

उत्खनित विभिन्न सैंधव स्थलों के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट है कि यह 'सभ्यता उत्तर में कश्मीर के मांदा से लेकर दक्षिण में महाराष्ट्र के दायमाबाद तक, पश्चिम में मकरान समुद्रतट पर स्थित सुत्केगेंडोर से लेकर पूर्व में आलमगीरपुर (मेरठ, उत्तरप्रदेश) तक विस्तृत थी, इसमें पाकिस्तान के पंजाब, बलुचिस्तान, सिंध, बहावलपुर के भू–क्षेत्र और भारत में पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, उत्तरप्रदेश एवं गुजरात के कई क्षेत्र सम्मिलित थे । पश्चिम से पूर्व में यह 1600 किमी और उत्तर से दक्षिण में 1100 किमी तक विस्तृत थी, जो समकालीन अन्य किसी भी सभ्यता की अपेक्षा अधिक भू–क्षेत्र में फैली हुई थी । इसकी आकृति त्रिभुजाकार और क्षेत्रफल 12,99,600 वर्ग किमी था ।

अब तक इस उपमहादेश में हड़प्पा संस्कृति के लगभग 2800 स्थलों का पता लग चुका है । इनमें कुछ हड़प्पा संस्कृति की आरंभिक अवस्था के हैं, कुछ परिपक्व अवस्था के और कुछ उत्तर अवस्था के हैं किन्तु परिपक्व अवस्था वाले स्थलों की संख्या सीमित है, और उनमें केवल सात को ही नगर की संज्ञा दी जा सकी है ।

4.4 काल–निर्धारण (Determination of Era)

सैंधव सभ्यता का काल को निर्धारित करना निःसंदेह बड़ा ही कठिन काम है, । फिर भी विभिन्न विद्यानों ने इस विवादास्पद विषय पर अपने विचार व्यक्त किये हैं – इस क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रयास जॉन मार्शल का रहा । उन्होंने 1931

ई0 में इस सभ्यता का काल लगभग 3250 ई0 पूर्व से 2750 ई0 पूर्व निर्धरित किया ।

काल	विद्वान
3250–2750 ई0 पू0	जॉन मार्शल
2800–2500 ई0 पू0	अर्नेस्ट मैके
3500–2700 ई0 पू0	माधोस्वरूप वत्स
2350–1700 ई0 पू0	सी0 जे0 गैड
2500–1500 ई0 पू0	मारटीमर ह्वीलर
2000–1500 ई0 पू0	फैयर सर्विस

कुछ इतिहासकार सिन्धु सभ्यता को मिस्र और मेसोपोटामिया की सभ्यताओं का समकालीन मानते हैं । आधुनिक काल में सिन्धु–सभ्यता का काल रेडिरूो–कार्बन विधि (C-14) से निर्धारित किया गया है । इसके अनुसार, इस सभ्यता का काल 2300 ई0 पू0 से 1750 ई0 पू0 माना जाता है । 1750 ई0 पू0 के आसपास तक सिन्धु सभ्यता के दो प्रमुख नगर – हड़प्पा और मोहनजोदड़ो नष्ट हो चुके थे । लेकिन दूसरे स्थलों पर हड़प्पा संस्कृति का ह्रास धीरे–धीरे हुआ और ह्रासोन्मुख स्थिति में गुजरात, राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश तक के अपने सीमान्तों में यह सभ्यता लम्बे समय तक जीवित रही ।

4.5 हड़प्पा प्रमुख स्थल (Major Places of Hadappa)

हडप्पा (Hadappa)– पाकिस्तान के पंजाब प्रांत में स्थित माण्टगोमरी जिले में रावी नदी के बायें तट पर यह पुरास्थल है । हड़प्पा में ध्वंसावशेषों के विषय में सबसे पहली जानकारी 1826 इ0 में चार्ल्स मैन्सर्न ने दी । जॉन मार्शल के निर्देशन में 1921 ई0 में दयाराम साहनी ने इस स्थल का उत्खनन काय्र प्रारंभ करवाया । यह नगर करीब 5 किमी0 के क्षेत्र में बसा हुआ है । हड़प्पा में प्राप्त दो टीलों में पूर्वी टीले को नगर टीला तथा पश्चिमी टीले को दुर्ग टीला के नाम से सम्बोधित किया गया । यहाँ पर 6 : 6 की दो पंक्तियों में निर्मित कुल बारह कक्षों वाले एक अन्नागार का अवशेष प्राप्त हुआ है, जिनमें प्रत्येक का आकार 50 x 20 मी का है, जिनका कुल क्षेत्रफल 2,745 वर्गमीटर से अधिक है । श्रमिक आवास के रूप में विकसित 15 मकानों की दो पंक्तियाँ मिली हैं जिनमें उत्तरी पंक्ति में सात एवं दक्षिणी पंक्ति में 8 मकानों के अवशेष प्राप्त हुए । प्रत्येक मकान का आकार लगभग 17 x 7.5 मीटर का है । श्रमिक आवास के नजदीक ही करीब 14 भट्ठों के अवशेष मिलते हैं । इसके अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण अवशेष जैसे एक बर्तन पर बना मछुआरे का चित्र, शंख का बना बैल, पीतल का बना इक्का मिले है ।

मोहनजोदड़ों (Mohanjodare) – इस सभ्यता के ध्वंशावशेष पाकिस्तान के सिंध प्रान्त के लरकाना जिले में सिन्धु नदी के दाहिने किनारे पर प्राप्त हुआ है । यह नगर करीब 5 किमी0 के क्षेत्र में फैला हुआ है । मोहनजोदड़ों के टीलों को 1922 ई0 में खोजने का श्रेय राखालदास बनर्जी को प्राप्त हुआ । यहाँ पूर्व और पश्चिम (नगर के) दिशा में प्राप्त दो टीलों के अतिरिक्त सार्वजनिक स्थलों में एक विशाल स्नानागार एवं महत्वपूर्ण भवनों में एक विशाल अन्नागार जिसका आकार 150 x 75 मीटर है के अवशेष मिले है । संभवतः यह अन्नागार मोहनजोदड़ों के वृहद् भवनों से एक है । इसके अतिरिक्त सभाभवन और पुरोहित आवास के ध्वंशावशेष भी सार्वजनिक स्थलों की श्रेणी में आते हैं । मोहनजोदड़ों के पश्चिमी भाग में स्थित दुर्ग टीले को 'स्तूप टीला' भी कहा जाता है ।

चन्हूदड़ो (Chanhudaro)– मोहनजोदड़ों के दक्षिण में स्थित चन्हूदड़ों नामक स्थान पर मुहर एवं गुडियों के निर्माण के साथ–साथ हड्डियों से भी अनेक वस्तुओं का निर्माण होता था । इस नगर की खोज सर्वप्रथम 1931 में गोपाल मजूमदार ने किया । यहाँ पर गुड़िया निर्माण हेतु एक कारखाने का अवशेष मिला है ।

लोथल (Lothal)– यह गुजरात के अहमदाबाद जिले में भोगवा नदी के किनारे सरागवाला नामक ग्राम के समीप स्थित है । खुदाई 1957–58 ई0 में रंगनाथ राव के नेतृत्व में । यहाँ की सर्वाधिक प्रसिद्ध उपलब्धि हड़प्पाकालीन बन्दरगाह के

अतिरिक्त विशिष्ट मृद्भाण्ड, उपकरण, मुहरें, वाट तथा माप एवं पाषाण उपकरण हैं । लोथल के पूर्वी भाग में स्थित बन्दरगाह (गोदी) का औसत आकार 214 x 36 मीटर तथा गहराई 3.3 मीटर है । लोथल में गढ़ी और नगर दोनों एक ही रक्षा प्राचीर से घिरे है । अन्य अवशेषों में धान (चावल), फारस की मुहरों एवं घोड़ों की लघु मृण्मूर्तियों के अवशेष प्राप्त हुए है ।

कालीबंगा (काले रंग की चूडियाँ) (Kalibanga Black Coloured Bangles) – यह स्थल राजस्थान के गंगा नगर जिले में घग्घर नदी के तट पर स्थित है । खुदाई 1953 ई0 में बी0 बी0 लाल एवं बी0 के0 थापड़ द्वारा करायी गयी है । यहाँ पर प्राकृ हड़प्पा एवं हड़प्पाकालीन संस्कृति के अवशेष मिले हैं । यहाँ प्राप्त अनेक ईटों के चबूतरों के शिखर पर हवन कुण्ड्रों के होने के साक्ष्य मिले हैं । यहाँ पर भवनों के अवशेष से स्पष्ट होता है कि यहाँ भवन कच्ची ईंटों के बने थे ।

कांलीबंगा में प्राकृ सैंधव संस्कृति की सबसे महत्वपूर्ण उपलबिध एक जुते हुए खेत का साक्ष्य है जिसके कूड़ों के बीच का फासला पूर्व से पश्चिम की ओर 30 से0 मी0 है और उत्तर से दक्षिण 1.10 मीटर पर । यहाँ लघु पाषाण उपकरण, माणिक्य एवं मिट्टी के मनके, शंख, काँच एवं मिट्टी की चूड़ियाँ, खिलौना, गाड़ी के पहिए, साँड़ की खण्डित मृण्मूर्ति, सिलवट्टे आदि पुरावशेष मिले हैं ।

धोलावीरा (Dholavira)– इस स्थल की खुदाई से एक विशाल सैन्धव कालीन नगर के अवशेष का पता चलता है ।

सुरकोतड़ा (Surkotda)– यह स्थल गुजरात के कच्छ जिले में स्थित है । इसकी खोज 1964 में जगपति जोशी ने की । इस स्थल से सिन्धु सभ्यता के पतन के अवशेष परिलक्षित होते हैं । यहाँ से प्राप्त अवशेषों में महत्वपूर्ण हैं घोड़े की असियां एवं एक अनोखी कब्रगाह ।

आलमगीरपुर (Alamgirpur)– पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले में यमुना की सहायक हिण्डन नदी इस पुरास्थल की खोज 1958 ई0 में यज्ञ दत्त शर्मा द्वारा की गई । यहाँ मिट्टी के बर्तन, मनके एवं पिण्ड मिले है ।

रंगपुर (Rangpur)– गुजरात के काठियावाड़ प्रायद्वीप में मादर नदी के समीप स्थित है । यहाँ मिले कच्ची ईंटों के दुर्ग, नालियां, मृद्भाण्ड, बाँट, पत्थर के फलक आदि महत्वपूर्ण है । यहाँ उत्तरोत्तर हड़प्पा संस्कृति के साक्ष्य मिलते हैं ।

वनवाली (Vanwali)– हरियाणा के हिसार जिले में स्थित दो सांस्कृतिक अवस्थाओं के अवशेष मिले हैं । यहाँ अच्छे किस्म के जौ मिले हैं । इसके अतिरिक्त मिट्टी के बर्तन, कार्नीलियन के मनके हल की आकृति मिले हैं ।

4.6 हड़प्पा सभ्यता की विशेषताएँ (Characteristics of Hadappa Culture)

4.6.1 नगर योजना और संरचनाएँ (Townplanning and Structures)

हड़प्पा संस्कृति की विशेषता थी इसकी नगर–योजना प्रणाली । हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों दोनों नगरों के अपने–अपने दुर्ग थे जहाँ शासक वर्ग के लोग रहते थे । प्रत्येक नगर में दुर्ग के बाहर एक–एक उससे निम्न स्तर का शहर था जहाँ ईंटों के मकानों में सामान्य लोग रहते थे । इन नगरों में भवनों के बारें में विशिष्ट बात यह थी कि ये जाल (ग्रिड) की तरह व्यवस्थित थे । तद्दुसार सड़कें एक–दूसरे को समकोण बनाते हुए काटती थीं और नगर अनेक खंडों में विभक्त थे । यह बात सभी सिंधु बस्तियों पर लागू थी, चाहे वे छोटी हो या बड़ी । बड़े–बड़ें भवन हड़प्पा और मोहेंनजोदड़ों दोनों की विशेषता है; दूसरा तो भवनों में और भी समृद्ध है । उनके स्मारक बतलाते हैं कि वहाँ के शासक मजदूर जुटाने और कर–संग्रह में परम कुशल थे । ईंटों की बड़ी–बड़ी इमारतें देखकर सामान्य लोगों को यह भी लगता होता कि उनके शासक कितने प्रतापी और प्रतिष्ठावान हैं ।

मोहेनजोदड़ों की शायद सबसे महत्वपूर्ण सार्वजनिक स्थल है विशाल स्नानागार; जिसका जलाशय दुर्ग के टीले में हैं । यह ईंटों के स्थापत्य का सुंदर उदाहरण है । यह 11.88 मी0 लम्बा, 7.01 मी0 चौड़ा और 2.43 मी0 गहरा है । दोनों सिरों पर तल तक सीढ़ियाँ बनी हुई है । बगल में कपड़े बदलने के कमरे हैं । स्नानागार का फर्श पक्की ईंट का बना है । पास के कमरे में बड़ा–सा कुआँ है । इससे पानी निकालकर हौज में डाला जाता था । हौज के कोने में निर्गम–मुख है जिससे पानी बहकर नाले में जाता था । बताया जाता है कि यह विशाल स्नानागार धर्मानुष्ठान संबंधी स्नान के लिए बना होगा, जो भारत में हर धार्मिक कर्म की आवश्यकता रहा है ।

मोहेंनजोदड़ों की सबसे बड़ी इमारत है अनाज रखने का कोठार, जो 45.71 मी0 लम्बा और 15.23 मी0 चौड़ा है । पर हड़प्पा के दुर्ग में छह कोठार मिले हैं जो ईंटों के बने चबूतरों पर दो पाँतों में खड़े हैं । प्रत्येक कोठार 15.23 ली0 लम्बा और 6.09 मी0 चौड़ा है । हड़प्पा के कोठारों के दक्षिण में खुला फर्श है और इस पर दो कतारों में ईंट के वृत्ताकार चबूतरे बने हुए हैं ।

कालीबंगा में भी नगर के दक्षिण भाग में ईंटों के चबूतरे मिले हैं जो शायद कोठारों के लिए बने होंगे । इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि कोठार हड़प्पा संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग थे ।

हड़प्पा संस्कृति के नगरों में पक्की ईंटों का इस्तेमाल विशेष बात है, क्योंकि मिस्र के समकालीन भवनों में धूप में सुखाई गई ईंटों का ही प्रयोग हुआ था ।

मोहेनजोदड़ों की जल निकास प्रणाली बहुत ही बेजोड़ थी । लगभग सभी नगरों में हर छोटे या बड़े मकान में प्रागंण और स्नानागार होते थे । कालीबंगा के अनेक घरों में अपने–अपने कुँए थे । घरों का पानी बहकर सड़कों तक आता जहाँ इनके नीचे मोरियाँ बनी हुई थीं । अक्सर ये मोरियाँ ईंटों और पत्थर की सिल्लयों से ढ़की रहती थीं । कुल मिलाकर स्नानघरों और मोरियों की व्यवस्था अनोखी है । हड़प्पा की निकास प्रणाली तो और भी विलक्षण है । शायद कांस्य युग की दूसरी किसी भी सभ्यता ने स्वास्थ्य और सफाई को इतना महत्व नहीं दिया जितना कि हड़प्पा के लोगों ने दिया ।

4.6.2 कृषि (Agriculture)

सिंधु प्रदेश में आज पहले की अपेक्षा बहुत ही कम वर्षा होती है, इसलिए यह प्रदेश अब उतना उपजाऊ नहीं रहा । यहाँ के समृद्ध देहातों और शहरों को देखने से प्रकट होता है कि प्राचीन काल में यह प्रदेश खूब उपजाऊ था । अब यहाँ केवल 15 सेंटीमीटर वर्षा होती है । लम्बे अरसे तक खेती का विस्तार, बड़े पैमाने पर चराई और ईंधन के लिए लकड़ी की खपत होते रहने से यहाँ की प्राकृतिक वनस्पति–संपदा क्षीण होती गई । इस प्रदेश की उर्वरता का विशेष कारण शायद सिंधु नदी से हर साल आने वाली बाढ थी । सिंधु नदी मिस्र की नील नदी की अपेक्षा कहीं अधिक जलोढ़ मिट्टी बहाकर लाती थी और इसे बाढ़ वाले मैदान में छोड़ जाती थी । जैसे नील ने मिस्र का निर्माण और वहाँ के लोगों का भरण–पोषण किया, वैसे ही सिंधु नदी ने सिंध क्षेत्र का निर्माण और वहाँ के लोगों का भरण–पोषण किया । यहाँ कोई फावड़ा या फाल तो नहीं मिला है, लेकिन कालीबंगा की प्राक्–हड़प्पा अवसी में जो कूँड (हलरेखा) देखे गए हैं, उनसे अनुमान लगाया जाता है कि हड़प्पा काल में राजस्थान में हल जोते जाते थे । फसल काटने के लिए शायद पत्थर के हँसियों का प्रयोग होता था । गबरबंदों या नालों को बाँधों से घेरकर जलाशय बनाने की परिपाटी बलूचिस्तान और अफगानिस्तान के कुछ हिस्सों की विशेषता रही है, किन्तु लगता है कि नहरों या नालों से सिंचाई की परिपाटी नहीं थी ।

सिंधु सभ्यता के लोग गेहूँ, जौ, राई, मटर आदि अनाज पैदा करते थे । वे दो किस्म का गेहूँ और जौ उगाते थे । बनावली में मिला जौ बढ़िया किस्म का है । इनके अलावा वे तिल और सरसों भी उपजाते थे । लगता है कि लोथल के लोग 1800 ई0 पूर्व में ही चावल उपजाते थे जिसका अवशेष वहाँ पाया गया है । सबसे पहले कपास पैदा करने का श्रेय सिंधु सभ्यता के लोगों को है । चूँकि कपास का उत्पादन सबसे पहले सिंधु क्षेत्र में ही हुआ, इसलिए यूनान के लोग इसे सिन्डन कहने लगे जो सिंधु शब्द से निकला है ।

4.6.3 पशुपालन (Animal Husbandary)

कृषि पर निर्भर होते हुए भी हड़प्पाई लोग बहुत सारे पशु पालते थे । वे बैल–गाय, भैंस, बकरी, भेड़ और सूअर पालते थे । उनके कूबड़ वाला साँड़ विशेष प्रिय था । कुत्ते शुरू से ही पालतू जानवरों में थे । गुजरात के पश्चिम में अवस्थित सुरकोटड़ा में घोड़े के अवशेषों के मिलने की रिपोर्ट आई है और वे 2000 ई0 पूर्व के आसपास के बताए गए हैं, परन्तु पहचान संदेहग्रस्त है । जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि हड़प्पाई सभ्यता अश्वकेन्द्रित नहीं थी ।

हड़प्पाई लोगों को हाथी का ज्ञान था । वे गैंडे से भी परिचित थे । मेसोपाटामिया के समकालीन सुमेर के नगरों के लोग भी इन्हीं लोगों की तरह अनाज पैदा करते थे और उनके पालतू पशु भी प्रायः वही थे जो इनके थे । परन्तु गुजरात

में बसे हड़प्पाई लोग चावल उपजाते थे और हाथी पालते थे । ये दोनों बाते मेसोपोटामिया के नगरवासियों पर लागू नहीं होती हैं ।

4.6.4 शिल्प और तकनीक विज्ञान (Sculpture and Technical Science)

हड़प्पा संस्कृति कास्य युग की है । यों तो इस संस्कृति के लोग पत्थर के बहुत सारे औजारों और उपकरणों का प्रयोग करते थे, लेकिन वे कास्य के निर्माण और प्रयोग से भी भली–भाँति परिचित थे । सामान्यतः कांसा, तांबे में टिन मिलाकर धातुशिल्पियों द्वारा बनया जाता था । पर, दोनों में एक भी धातु हड़प्पाई लोगों को आसानी से उपलब्ध नहीं थी । इसलिए हड़प्पा में कांसे के औजार बहुतायत से नहीं मिलते हैं । हड़प्पाई स्थलों में जो कांसे के औजार और हथियार मिले हैं उनमें टिन की मात्रा कम है । फिर भी ये जो कांसे की वस्तुएँ छोड़ गए हैं वे नगण्य नहीं है । इन वस्तुओं से संकेत मिलता है कि हड़प्पा समाज के शिल्पियों में कसेरों (कास्य–शिल्पियो) के समुदाय का महत्वपूर्ण स्थान था । हड़प्पाई लोग नाव बनाने का काम भी करते थे । जैसा कि आगे बताया जाएगा, मिट्टी की मुहरें बनाना और मिट्टी की पुतलियाँ बनाना भी महत्वपूर्ण शिल्प थे । स्वर्णकार चांदी, सोना और रत्नों के आभूषण बनाते थे । सोना, चांदी संभवतः अफगानिस्तान से और रत्न दक्षिण भारत से आते थे । हड़प्पाई कारीगर मणियों के निर्माण में भी निपुण थे । कुम्हार के चाक का खूब प्रचलन था और हड़प्पाई के मृद्भांडों की अपनी खास विशेषताएँ थीं । ये भांडों को चिकने और चमकीले बनाते थे ।

4.6.5 व्यापार (Trade)

सिंधु सभ्यता के लोगों के जीवन में व्यापार का बड़ा महत्व है । इसकी पुष्टि हड़प्पा, मोहेंजोदड़ों और लोथल में अनाज के बड़े–बड़े कोठारों के पास पाए जाने से ही नहीं होती, बल्कि बड़े भू–भाग में ढ़ेर सारी मिट्टी की मुहरों (सील), एकरूप लिपि और मानकीकृत माप–तौलों के अस्तित्व से भी होती है । वे धातु के सिक्कों का प्रयोग नहीं करते थे । संभव है कि वे सादे आदान–प्रदान विनियम द्वारा करते हों । अपने तैयार माल और संभवतः अनाज भी नावों और बैलगाड़ियों पर लादकर पड़ोस के इलाकों में ले जाते और उन वस्तुओं के बदले धातुएँ ले आते । वे पहिया से परिचित थे, और हड़प्पा में ठोस पहियों वाली गाड़ियाँ प्रचलित थीं ।

हड़प्पाई लोगों का व्यापारिक संबंध राजस्थान के एक क्षेत्र से था और अफगानिस्तान और ईरान से भी । उन्होंने उत्तरी अफगानिस्तान में अपनी वाणिज्य–बस्ती स्थापित की थी जिसके सहारे उनका व्यापार मध्य एशिया के साथ चलता था ।

हड़प्पाई लोगों ने लाजवर्द मणि (लापिस लाजूली) का सुदूर व्यापार चलाया था । अवश्य ही इस मणि से शासक वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती होगी । 2350 ई0 पूर्व के आसपास और उसके आगे के मेसोपोटामियाई अभिलेखों में मेलुहा के साथ व्यापारिक संबंध की चर्चा है; मेलुआ सिंधु क्षेत्र का प्राचीन नाम है । मेसोपोटामिया के पुरालेखों में दो मध्यवर्ती व्यापार केन्द्रों का उल्लेख मिलता है –दिलमन और मकन । दिलमन की पहचान शायद फारस की खाड़ी के बहरैन से की जा सकती है । उस बंदरगाह नगर में हजारों कब्रे खुदाई का इंतजार कर रही है ।

4.6.7 राजनीतिक संगठन (Political Organization)

हमें हड़प्पा के राजनीतिक संगठन का कोई स्पष्ट आभास नहीं है । किन्तु यदि सिंधु सभ्यता की सांस्कृतिक एकता पर ध्यापन दिया जाए तो ऐसी एकता किसी केंद्रित सत्ता के बिना संभव नहीं हुई होगी । यदि हड़प्पाई सांस्कृतिक अंचल को राजनीतिक अंचल भी समझा जाए तो इस उपमहादेश ने मौर्य साम्राज्य की स्थापना से पूर्व इतनी बड़ी राजनीतिक इकाई कभी नहीं देखी ।

मिस्र और मेसोपोटामिया के नितांत विपरीत किसी भी हड़प्पाई स्थल पर मंदिर नहीं पाया गया है । किसी भी प्रकार का कोई भी धार्मिक भवन नहीं मिला । इसका अपवाद विशाल स्नानागार हो सकता है, जिसका उपयोग नहाने–धोने के लिए किया जाता रहेगा । हड़प्पा अंचल में धार्मिक विश्वासों और आचारों में एकरूपता नहीं है । ऐसा संकेत मिलता है कि उत्तर हड़प्पाई अवस्था में गुजरात के लोथल में शायद अग्नि पूजा की परम्परा चली, किन्तु इसके लिए मंदिरों का उपयोग नहीं होता था शायद हड़प्पाई शासकों का ध्यान विजय की ओर उतना नहीं था जितना वाणिज्य की ओर और हड़प्पा का शासन संभवतः वणिक वर्ग के हाथ में था । ध्यान रहे कि सिंधु सभ्यता में अस्त्र–शस्त्र का अभाव था ।

4.6.8 धार्मिक प्रथाएँ (Religious Conventions)

हड़प्पा में पकी मिट्टी की स्त्री–मूर्तिकाएँ भारी संख्या में मिली हैं । एक मूर्तिका में स्त्री के गर्भ से निकलता पौधा दिखाया गया है । यह संभवतः पृथ्वी देवी की प्रष्ठिा है, और इसका निकट संबंध पौधों के जन्म और वृद्धि से रहा होगा । इसलिए मालूम होता है कि हड़प्पाई लोग धरती को उर्वरता की देवी समझते थे और इसकी पूजा उसी तरह करते थे जिस तरह मिस्र के लोग नील नदी की देवी आइसिस् की पूजा करते थे । मिस्र में राज्य सा सम्पति का उत्तराधिकारी कन्या को मिलता था, किन्तु हड़प्पा समाज में उत्तराधिकारी का स्वरूप क्या था वह हमें ज्ञात नहीं है ।

कुछ वैदिक सूक्तों में पृथ्वी माता को स्तुति हैं, किन्तु उसकों कोई प्रमुखता नहीं दी गई है । सुदीर्धकाल के बाद ही हिन्दु धर्म में इस मातृदेवी को उच्च स्थान मिला है ।

4.6.9 हड़प्पाई लिपि (Hadappai Script)

प्राचीन मेसोपोटामियाइयों की तरह हड़प्पाई लोगों ने भी लेखन–कला का आविश्कार किया था । यद्यपि हड़प्पाई लिपि का सबसे पुराना नमूना 1853 में मिला था और 1923 तक पूरी लिपि प्रकाश में आ गई, किन्तु वह अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है । कुछ लोग इसे द्रविड या आद्य–द्रविड भाषा से जोडने का प्रयास करते हैं, कुछ लोग संस्कृत से, तो कुछ लोग सुमेरी भाषा से, परन्तु इन पठनों में से कोई भी संतोषप्रद नहीं है । लिपि न पढ़े जाने के कारण साहित्य में हड़प्पाई लोगों का क्या योगदान रहा, कुछ कहा नहीं जा सकता । हम उनके विचारों और विश्वासों के बारे में भी कुछ नहीं कह सकते हैं ।

पत्थर की मुहरों और अन्य वस्तुओं पर हड़प्पाई लेखन के लगभग 4000 नमूने हैं । हड़प्पाईयों के अभिलेख उतने लम्बे–लम्बे नहीं है जितने मिस्रियों और मेसोपोटामियाइयाँ के हैं । अधिकांश अभिलेख मुहरों पर हैं और हर एक में दो–चार ही शब्द हैं । मेसोपोटामिया और मिस्र की समकालीन लिपियों के साथ इसकी तुलना करने के प्रयास किए गए है । परन्तु यह तो सिंधु प्रदेश का आविष्कार है, और पश्चिम एशिया के लिपियों से इसका कोई संबंध दिखाई नही देता है ।

4.6.10 माप–तौल (Weights and Measures)

लिपि का ज्ञान हो जाने से निजी संपत्ति का लेखा–जोखा रखना आसान हो गया होगा, सिंधु क्षेत्र के नगरवासियों को व्यापार और अन्य प्रदान–प्रदानों में माप–तौल की आवश्यकता हुई और उन्होंने इसका प्रयोग भी किया । बाट के रूप में व्यवहार बहुत–सी वस्तुएँ पाई गई है । उनसे प्रकट होता है कि तौल में 16 या उसके आवर्त्तकों का व्यवहार होता था, जैसे 16, 64, 160, 320 और 640 । दिलचस्प बात यह है कि सोलह के अनुपात की यह परम्परा भारत में आधुनिक काल तक चलती रही है । हाल तक एक रूपया सोलह आने का होता था । हड़प्पाई लोग मापना भी जानते थे । ऐसे डंडे पाए गए हैं जिन पर माप के निशान लगे हुए हैं । इनमें एक डंडा कांसे का भी है ।

4.6.11 मृदभांड (Pottery)

हड़प्पाई लोग कुम्हार के चाक का प्रयोग करने में बड़े कुशल थे । उनके अनेक बरतनों पर विभिन्न रंगों की चित्रकारी देखने को मिलती है । हड़प्पा–भांडों पर आमतौर से वृत्त या वृक्ष की आकृतियाँ मिलती है । कुछ ठीकरों पर मनुष्य की आकृतियाँ भी दिखाई देती है ।

4.6.12 मुहरें (सीलें) (Stamps)

हड़प्पा संस्कृति की सर्वोत्म कलाकृतियाँ हैं उसकी मुहरें । अबतक लगभग 2000 सीलें प्राप्त हुई है । इनमें से अधिकांश सीलों पर लघु लेखा के साथ–साथ एकसिंगी जानवर, भेंस, बाघ, बकरी और हाथी की आकृतियाँ उकेरी हुई है ।

4.6.13 प्रतिमाएँ

हड़प्पाई शिल्पी धातु की खूबसूरत मूतियाँ बनाते थे । कांसे की नर्तकी उनकी मूर्तिकला का सर्वश्रेष्ठ नमूना है । पूरी मूर्ति गले में पड़े हार के अलावा एकदम नग्न है । कुछ हड्प्पाई प्रस्तर प्रतिमाएँ मिली है । सेलखड़ी की एक मूर्ति के बाएँ कंधे तथा दाएँ हाथ के नीचे अलंकृत वस्त्र हैं और सिर के पीछे उसके बालों की छोटी लटें बनी हुई पट्टिका द्वारा संवारी गई है ।

4.6.14 मृण्मूर्तिकाएँ (Terracota Idols)

सिंधु प्रदेश में भारी संख्या में आग में पकी मिट्टी की बनी मूर्तिकाएँ (जो टेराकोटा कहलाती है) मिली हैं । इनका प्रयोग या तो खिलौने के रूप में या पूज्य प्रतिमाओं के रूप में होता था । इनमें पक्षी, कुत्ते, भेड़, गाय–बैल और बंदर की प्रतिकृतियाँ मिलती हैं । पुरूषों और स्त्रियों की प्रतिकृतियाँ भी मिली हैं, जिनमें पुरूषों से स्त्रियों की संख्या अधिक है । प्रथम कोटि की कलाकृतियों का उपयोग उच्च वर्ग के लोगों में होता था और द्वितीय कोटि का जनसामान्य में । प्रस्तर–शिल्प में हड़प्पा संस्कृति पिछड़ी हुई थी । प्राचीन मिस्र ओर मेसोपोटामिया की तरह यहाँ हम कोई महान प्रस्तर–प्रतिमा नहीं पाते हैं ।

4.6.15 हड़प्पा संस्कृति की नगरोत्तर अवस्था (Post Town's Conditions of Hadapa Culture)

हड़प्पा संस्कृति शायद 1900 ई0 पूर्व तक जीती–जागती रही । बाद में इसकी नगरीय अवस्था लुप्त–सी हो गई । परिपक्व संस्कृतिक के परिचयक थे सुव्यवस्थित नगर–निवेश व्यापक स्तर पर ईंटों की संरचनाएँ, लेखन–कला, मानक, वाट–माप, दुर्गनगर औश्र निम्नस्तरीय शहरों के बीच अंतर, कांसे के औजारों का इस्तेमाल और काले रंग की आकृतियों से चित्रित लाल मृद्भांड का निर्माण । इसकी शैलीगत एकरूपता समाप्त हो गई और शैली में भारी विधिवता आ गई ।

नगरोत्तर हड़प्पा संस्कृति के कुछ लक्षण पाकिस्तान में, मध्य एवं पश्चिमी भारत में भाग पंजाब, राजस्थान, हरियाणा, जम्मू और कश्मीर, दिल्ली और पश्चिम उत्तर प्रदेश में भी दिखाई देते हैं । इनका काल लगभग 1900 ई0 पूर्व से 1200 ई0 पू0 तक हो सकता है । हड़प्पा संस्कृति की नगरोत्तर अवस्था को उपसिंधु संस्कृति भी कहते हैं । पहले इस संस्कृति को हड़प्पोत्तर बनाया जाता था, पर अब यह उत्तर–हड़प्पा संस्कृति के नाम से अधिक जाना जाता है ।

उत्तर–हड़प्पा संस्कृतियाँ मूलतः ताम्रपाषाणिक हैं, जिनमें पत्थर और तांबे के औजारों का उपयोग होता था । इनमें धातु के ऐसे ही उपकरण बनते थे । जिनकी ढ़लाई आसान है । फिर भी कुल्हाड़ी, छेनी, कंगन, वक्र, अस्तूरा, बंसी और बरछा मिलते हैं । ताम्रपाषाण संस्कृति के लोग हड़प्पा संस्कृति की उत्तर अवस्था में गाँवों में बस गए, और खेती, पशुपालन, शिकार और मछली पकड़ने का धंधा करने लगे । शायद देहातों में धातु संबंधी तकनीकी जानकारी के फैलने से खेती करने और बस्तियाँ बन पाने में सहूलियत हुई । गिलुंद में, जो आहार संस्कृति का स्थानीय केंद्र जैसा लगता है, ईंटों की संरचनाएँ भी मिली हैं, जिन्हें लगभग 2000 ई0 पू0 और 1500 ई0 पूर्व के बीच रखा जा सकता है ।

नगरोत्तर हड़प्पाई बस्तियाँ स्वात घाटी में मिली है । यहाँ वे लोग पशुचारण के साथ–साथ अच्छी खेती और पशुपालन भी करते थे । वे मंद चाल वाले चाक पर बने काला–धूसर ओपदार मृद्भांडों का प्रयोग करते थे । भारत स्थित पंजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश और जम्मू में भी कई उत्तर–हड़प्पा स्थलों की खुदाई हुई है । इनमें जम्मू में मंडा, पंजाब में चंडीगढ़ और संघोल, हरियाणा में दौलतपुर और उत्तरप्रदेश में आलमगीरपुर और हुलास उल्लेखनीय है ।

उत्तर–हड़प्पा अवस्था में लंबाई मापने की कोई वस्तु नहीं पाई गई है । गुजरात के उत्तर काल में पत्थर के घनाकार बाट और पकी मिट्टी की पिंडिकाएँ नहीं मिलते हैं । आमतौर से सभी उत्तर–हड़पा स्थलों में मानव मूर्तिकाओं और वैशिष्ट्य सूचक चित्राकृतियों का अभाव है । यद्यपि गुजरात में वाग्दत्र अप्रचलित हो चुका था, तथापित उत्तर भारत में यह खूब चलता था । आमतौर से सभी डत्तर–हड़प्पा स्थलों में मानव मूर्तिकाओं और अप्रचलित हो चुका था, तथापित उत्तर भारत में यह खूब चलता था । यह सब स्वाभाविक था, क्योंकि पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश में उत्खनित अधिकांश उत्तरकालीन हड़प्पा स्थल देहाती बस्तियाँ ही हैं ।

4.7 हड़प्पा सभ्यता का विनाश (Decline of Hadappa Civilization)

1750 ई0 पू0 के आसपास हड़प्पा संस्कृति नष्ट हो गयी । इसके विनाश के अनेक कारण बतलाये जाते हैं । कुछ विद्वानों का अनुमान है कि सिन्धु और रावी नदियों की धाराओं में भयानक परिवर्तन के कारण आसपास का क्षेत्र सूखाग्रस्त हो गया । एम0 आर0 साहनी, राईक्स तथा कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि विवर्तनिक हलचलों के कारण

समुद्र का जलस्तर काफी ऊँचा उठ गया और सम्पूर्ण सिन्धु प्रदेश जलमग्न हो गया । इस कारण यह सभ्यता नष्ट हो गई ।

दूसरा मत यह है कि भूकम्प या बाढ़ के कारा यह सभ्यता नष्ट हो गयी । हड़प्पा सभ्यता के केन्द्र नदियों के किनारे बसे थे । नगरों को बसाते समय सुरक्षा के उपय किये जाते थे । संभव है कि बाढ़ के कारण ही यह सभ्यता नष्ट हुई हो । खुदाई से पता चला है कि मोहनजोदड़ों कई बार भीषण बाढ़ के प्रकोप का शिकार हुआ था ।

कुछ लोगों का अनुमान है कि भीषण अग्निकाण्ड के कारण यह सभ्यता नष्ट हो गयी । सिन्धु प्रदेश के निवासी भवनों के निर्माण में लकड़ी का प्रयोग बड़े पैमाने पर करते थे । उत्तरी ब्लूचिस्तान के कुछ स्थानों में जली हुई चीजों की मोटी तहें मिली है । इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि भीषण अग्निकाण में पूरी आबादी बर्बाद हो गयी । कुछ विद्वानों का अनुमान है कि महामारी जैसे मलेरिया, प्लेग के कारण बड़ी संख्या में लोगों की मृत्यु हो गई किन्तु महामारी का स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है ।

कुछ विद्वानों का मत है कि विदेशी एवं बर्बर जातियों के लगातार आक्रमण से यह सभ्यता नष्ट हो गयी । मोहनजोदड़ों में अस्थिपंजरों के ढ़ेर मिले हैं । इससे बर्बर आक्रमण औश्र सामूहिक हत्याकांड का अनुमान लगाया जाता है । नरकंकालों पर किसी तेज हथियार का निशान है । ये नरकंकाल गहने भी पहने हुए थे । कुछ नरकंकाल सीढ़ियों पर पड़े मिले है । ऐसा प्रतीत होता है कि कि किसी आकस्मिक घटना से वहाँ के निवासी भागने पर मजबूर हो गये और उनमें से बहुतों की हत्या कर दी गयी । वहाँ के निवासी न तो शवों का विसर्जन कर सके और न गहनों को ही उतार सके । इससे प्रमाणित होता है कि सिन्धु–प्रदेश पर आक्रमण हुए थे । इन बर्बर आक्रमणकारियों को कुछ विद्वानों ने आर्य मान लिया । उनका तर्क है कि आर्यो के प्रमुख देवता इन्द्र को 'पुरन्दर (दुर्गों का नाश करने वाला) कहा गया है । उसने दिवादास के लिए नब्बे दुर्गो का विनाश किया था । उत्खनन से प्रमाणित हो चुका है कि हड़प्पा, मोहनजोदड़ों, कालीबंगा आदि में अनेक दुर्ग थे ।

कुछ विद्वानों नें आर्थिक स्थिरता को हड़प्पा–सभ्यता के पतन का कारण माना है । सिन्धु–प्रदेश के नवासियों का व्यापारिक सम्बन्ध मेसोपोटामिया,मिस्र आदि देशों से था । इन देशों की राजनीतिक स्थिति अस्थिर थी । इससे वाणिज्य–व्यापार को क्षति पहुँी । व्यापार सिन्धु प्रदेश के निवासियों के आर्थिक जीवन का आधार था और इसके नष्ट होते ही सभ्यता का आधार ही नष्ट हो गया । इसके अतिरिक्त, जनसंख्या में वृद्धि, प्राकृतिक साधनों की कमी और भूमि की अर्वर शक्ति की कमी ने सिन्धु–सभ्यता के आधार को ही कमजोर बना दिया । इस प्रकार सिन्धु–सभ्यता के अन्त के कई कारण थे । यद्यपि निश्चित और प्रामाणिक साक्ष्यों के अभाव में पतन के किसी निश्चित कारण को विहित करना दुष्कर है, लेकिन अधिक उपयुक्त सम्भावना यही है कि अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग कारक तत्वों की भूमिका रही ।

बोध प्रश्न

1. सिन्धुघाटी सभ्यताओं की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए ।
2. सिन्धुघाटी के लोगों की नगर योजना एवं धार्मिक जीवन की समीक्षा कीजिए ।
3. सिन्धुघाटी सभ्यता के विभिन्न प्रमुख स्थलों के महत्व का वर्णन करें ।
4. सिन्धुघाटी सभ्यता के विनाश के क्या कारण थे ?

अध्याय- 5

वैदिक सभ्यता
(Vedic Civilization)

5.0 उद्देश्य (Aims)

5.1 प्रस्तावना (Introduction)

5.2 वैदिक काल के जानकारी के स्रोत (Soures of Knowledge of Vedic Era)

5.2.1 साहित्यिक स्रोत (Literary Sources)

5.3 ऋग्वैदिक काल (Rigveda Era)

5.3.1 ऋग्वैदिक काल की राजनीतिक अवस्था (Political Situation of Rigvedic Era)

5.3.1.1 विद्थ, समिति, सभा (Committees and Meetings)

5.3.1.2 राज्याभिषेक (Incarnation)

5.3.1.3 राज्यों का स्वरूप (Farms of States)

5.4 सामाजिक जीवन (Social Life)

5.4.1 वर्ण व्यवस्था (Caste System)

5.4.2 परिवार (Family)

5.4.3 विवाह (Marriage)

5.4.4 समाज में स्त्रियों का स्थान (Position of Women in Society)

5.4.5 भोजन और पेय (Foods and Beverages)

5.4.6 वस्त्र, श्रृंगार और आभूषण (Costume, Make-up and Ornaments)

5.4.7 आमोद–प्रमोद (Recreation)

5.5 धर्म (Religion)

5.6 आर्थिक जीवन (Economic Life)

5.7 उत्तर वैदिक काल (Uttar Vedic Era)

5.7.1 राजनीतिक संगठन (Political Organisation)

5.7.2 सामाजिक जीवन (Social Life)

5.7.3 आर्थिक जीवन (Economic Life)

5.7.4 धर्म और दर्शन (Religion and Philosophy)

बोध प्रश्न

5.0 उद्देश्य (Aims)

इस इकाई को पढ़ने के बाद यह समझ पाएगें कि –

- वैदिक काल की जानकारी के कौन–कौन से स्रोत हैं ।
- ऋग्वैदिक काल की राजनीतिक अवस्थाएँ कैसी थीं ?
- ऋग्वैदिक काल का स्थानांतरण उत्तर वैदिक काल में किस प्रकार हुआ ।
- उत्तर वैदिक काल की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक विशेषताओं को जान पाएगें ।

5.1 प्रस्तावना (Introduction)

भारत हड़प्पा संस्कृति के पतन के बाद भारत में एक नयी सभ्यता का उदय हुआ । इस सभ्यता के निर्माता आर्य थे । इसलिए इस सभ्यता को 'आर्य सभ्यता' कहा गया । वैदिक काल के लोगों के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन तथा उनकी सैद्धान्तिक अवस्था को जाननके के लिए हम इस युग को दो भागों में बाँटेंगे – पूर्व वैदिक अर्थात ऋग्वैदिक काल एवं उत्तर वैदिक काल । इस सम्पूर्ण विवरण का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि विवेच्य काल में विभिन्न प्रवृतियों में क्या–क्या परिवर्तन हुए ।

5.2 वैदिक काल के जानकारी के स्रोत (Sources of Knowledge of Vedic Era)

5.2.1 साहित्यिक स्रोत (Literary Sources)–

आर्यो का ज्ञान वैदिक–सभ्यता में निहित है जो बहुत विस्तृत और मूल्यवान माना गया है । इस साहित्य को दो भागों में बांटा गया है । पहला श्रुति–साहित्य है जिसके विषय में विद्वानों का कहना है कि इसे ईश्वर ने कुछ ऋषियों को ज्ञान के रूप में स्वयं प्रदान किया है और उसके पश्चात्इऐ एक ऋषि ने दूसरे ऋषि को मौखिक रूप से प्रदान किया तथा यह ईश्वरीय ज्ञान मौखिक रूप से ही सदियों तक एक–दसूरे को दिया जाता रहा । दूसरे भाग को स्मृति–साहित्य पुकारा जाता है । इसके विषय में कहा जाता है कि यह मनुष्य द्वारा रचित है । इस साहित्य में वेदांग, सूत्र–ग्रन्थ और धर्मशास्त्रों को सम्मिलित किया गया है । निस्सन्देह, श्रुति–साहित्य को स्मृति–साहित्य की तुलना में अधिक पवित्र और श्रेष्ठ माना गया है ।

श्रुति–साहित्य में प्रथम स्थान चार वेदों का है जिन्हें संहिताएँ भी पुकारा जाता है । इनकी रचना काल 1000 से 6000 ई0 पूर्व का माना गया है । इनमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद हैं जिसकी रचना प्रायः 1000 ई0 पू0 या उससे भी पहले हुई । ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं के लिए की गयी 1017 स्तुतियाँ हैं । इसमें अधिकांश मंत्र ऋग्वेद से ही लिये गये हैं और उनका उच्चारण विशेष प्रकार के यज्ञ के अवसर पर ही किया जाता है । यजुर्वेद में वे मंत्र है जो यज्ञ में बलि दिये जाने के अवसर पर बोले जात हैं । अथर्ववेद में अधिकांशताया वे मंत्र हैं जो तंत्र या जादू–टोना से संबंधित है । उसके मंत्रों को भारतीय विज्ञान का भी आधार माना जाता है ।

ब्राह्मण ग्रंथों में वेदों की टीकाएँ हैं, जैसे – शतपथ–ब्राह्मण यजुर्वेद का टीका है और गोपथ ब्राह्मण में अथर्ववेद के मंत्रों को समझाया गया है ।

अरण्यक–ग्रन्थों को 'जंगल के ग्रन्थ' अर्थात् वे ग्रन्थ जिनका अध्ययन जंगों में रहकर ही किया जाना चाहिए, पुकारा गया है । ये दर्शन के ग्रन्थ हैं और एक प्रकार से ब्राह्मण–ग्रंथों के दर्शन की पूर्ति करते हैं ।

उपनिषद–ग्रन्थों को 'वेदान्त' भी पुकारा गया है । ये ग्रन्थ भी दर्शन के ग्रन्थ है । इनमें प्रकृति,आत्मा, परमात्मा, कर्म, माया, मुक्ति आदि आर्यो के विभिन्न दार्शनिक विचारों का वर्णन किया गया है ।

उपर्युक्त श्रुति–साहित्य के अतिरिक्त कुछ अन्य विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों को भी वैदिक–साहित्य में स्थान प्रदान किया गया है जिन्हें स्मृति–ग्रन्थ स्वीकार किया गया है । जिनकी संख्या छः है । वे हैं – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष । इनके अतिरिक्त वैदिक–सभ्यता का अध्ययन हिन्दुओं के दर्शन अथवा धर्मशास्त्रों के अध्ययन के

बिना पूर्ण नहीं माना जा सकता है । हिन्दू दर्शन–शास्त्रों को छः भागों में बांटा गया है– कपित का सांख्य–दर्शन, पतंजलि का योग–दर्शन, गौतम का न्याय–दर्शन, कनद का वैशेषिक–दर्शन, जैमिनी का पूर्व–मीमांस तथा व्यास का उत्तर–मीसांस ।

सम्भवतया इसी कारण हिन्दू यह दावा करते हैं है कि उनके धार्मिक ग्रथों में सभी प्रकार का ज्ञान उपलब्ध है ।

5.3 ऋग्वैदिक काल (Rigvedic Civilization)

इस सभ्यता के विषय में हमारा ज्ञान ऋग्वेद पर आधारित है । ऋग्वेद प्राकृतिक शक्तियों को और अपने प्रमुख व्यक्तियों को देवता मानकर उनकी स्तुतियों में कही गयी ऋचाओं अर्थात् श्लोकों का संग्रह है । श्लोकों को मंत्र भी कहते हैं । इस मंत्र की रचना किसी एक ऋषि के द्वारा या किसी एक निश्चित अवधि में नहीं हुई । इन मंत्रों की रचना विभिन्न कालों में विभिन्न ऋषियों ने की है । ऋग्वेद में दस मंडलों अर्थात् अध्यायों में 1029 प्रकरण अर्थात् सूक्त हैं जिनमें 10580 ऋचाएँ अर्थात मंत्र है । यद्यपि इस ग्रन्थ में प्रत्यक्षः किसी ऐतिहासिक घटना का वर्णन नहीं हैं, न किसी सामाजिक या रानजीतिक स्थिति का चित्रण है, फिर भी इसके अध्ययन से उस समय की पर्याप्त सामग्री का हमें ज्ञान हो जाता है, जिसके आधार पर हम ऋग्वैदिक काल की सभ्यता का एक खाका खींच सकते हैं ।

5.3.1 ऋग्वैदिक काल की राजनीतिक अवस्था (Political Situation of Rigvedic Era)

विवाह की ओर पितृमूलक परिवार की सस्था आर्यो में चल चुकी थी और और समूचा समाज ही परिवार के नमूने पर था । वैदिक समाज का संगठन कबीलों के रूप में था और उन कबीलों को वे लोग जन कहते थे । राजनीतिक रूप से संगठित विशः राष्ट्र कहलाता था । जन नामक बड़ी परिवार का पितामह शासन करता था । प्रत्येक जन में अनेक टुकड़ियाँ होती थीं, जो ग्राम कहलाती थीं । ग्राम का नेता 'ग्रामणी' कहलाता था । युद्ध में जन का नेता राजा होता था । राजा जन या विशः का राजा होता था न कि भूमि का, राजत्व एक प्रकार का नेतृत्व था, और कुछ नहीं । वह पूरी तरह नियंत्रित था । स्वेच्छाचारी होने का उसे अवसर ही नहीं था । विशः या प्रजा राजा का वरण करती थी । वरण होने से उसका राज्याभिषेक होता था और वह राज–पद का अधिकारी हो जाता था । वरण प्रजा और राजा के बीच एक प्रकार का समझौता था ।

धीरे–धीरे राजा कुलागत होने लगा । ऋग्वेद में एक ही कुल के क्रमागत राजाओं के अनेक उल्लेख है । युद्ध के दिनों में राजा जन का नेतृत्व और उसकी रक्षा करता था । बदले में प्रजा उसका अनुशासन मानती और उपहारों से उसे समादृत करती थी । राजा के सहायकों के रूप मं पुरोहित, सेनानी और ग्रामणी थे । राजा स्वेच्छा से कुछ करने की स्थिति में उस समय नहीं था । राजकीय सत्ता परंपरागत थी । वंशानुगत राज्याधिकार तभी वैध समझा जाता था, जब जनता उसका अनुमोदन कर दे । जनता के हित की रक्षा करना ही राजा का सर्वक्षेष्ठ कर्तव्य था । पूर्व वैदिक काल में ही राजनीतिक एकता का प्रयास शुरू हो चुका था और छोटे–छोटे राज्योंको मिलाकर बड़े राज्रों के निर्माण का प्रयास भी ।

इस काल में पुरोहितों का सम्मान बढ़ने लगा था और ऐसा ज्ञात होता है कि कालांतर में उन्हीं लोगों से राजमंत्री–पद का विकास हुआ । सामूहिक कल्याण के लिए विभिन्न यज्ञों का जो आयोजन होता था, उसमें भी पुरोहित लोग सक्रिय भाग लेते थे । युद्धकाल में वे राजा के लिए विजय की कामना करते थें । पुरोहित के साथ–ही–साथ वे राज्यमंत्री, मुख्य सलाहकार, पथप्रदर्शक और योद्धा भी थे । सेनानी या सेनापति सेना के प्रधान होते थे और युद्ध का संचालन करते थे । इन मुख्य सहायकों के अतिरिक्त ऋग्वेद में ग्रामणी, सूत, रथकार और कर्म्मार के भी नाम मिलते हैं । ये लोग राज्याभिषेक के समय उपस्थित रहते थे । पुरप, स्पश और दूत के भी उल्लेख मिलते हैं । 'पूरप' दुर्ग के प्रधन होते थे और इनका काम सैनिक ढंग का होता था । 'स्पश' गुप्तचर होते थे जो जनता की गतिविधि पर नजर रखते थे । 'दूत' का कार्य तरह–तरह के प्रस्ताव लेकर विभिन्न राज्यों में जाना होता था । वह एक ही साथ सर्वोच्च पदाधिकारी, सेनापति और न्यायाधीश भी था । राजा की ओर से ही सबको दंड दिया जाता था । युद्धों और दस्युओं के साथ संघर्ष के फलस्वरूप धीरे–धीरे एक नेता के नेतृत्व में संगठन की प्रवृति उदित हुई और जनपद राज्यों का सूत्रपात हुआ ।

राजनीतिक तथा सामाजिक संगइन का आधार पितृमूलक परिवार था । जन और जनपद की रक्षा करना ही राजा का सर्वप्रथम कर्तव्य था । युद्ध में पदाति ओर रथ से लड़ने वाले योद्धा भी होते थे । युद्ध में सेना कवच, धातु,

शिरस्त्राण और हस्तरक्ष हनती थी । भाले, तलवार और कुल्हाड़ी का भी उल्लेख मिलता था । वाद्ययंत्र के साथ–ही–साथ युद्ध में पताका का व्यवहार भी होता था । सेना की इकाइयों के नाम शर्ध, व्राध और गण थे ।

5.3.1.1 विदथ, समिति, सभा (Committee and Meetings)– राजा की शक्ति प्रजा के मन्तव्यों से परिमित थी । विभिन्न संस्थाएँ उसके शासन पर अंकुश का काम करती थीं । लोगों की सभा–जिसे समिति कहते थे–में 'जन' की कार्यवाही होती थी । उसमें राजा औश्र प्रजा समान रूप से उपस्थित होते थे । सभा श्रेष्ठजनों की सभा थी । सभा समूचे जन की परिषद नहीं थी । सार्वजनिक बातों का फैसला सभा में होता था और न्याय–शासन से इसका घनिष्ठ संबंध था । स्त्रियों को सभा में सम्मिलित नहीं होने दिया जाता था । कीथ के अनुसार 'समिति' वह संस्था थी जो जन के कार्य और आवश्यकताएँ संपादित करती थीं और 'सभा' अधिवेशन का स्थल थीं, जहाँ अन्य सामाजिक कार्य सम्पन्न होते थे ।

'समिति' समूची विशा की संस्था थी और राज्यों की बागडोर उसी के हाथ रहती थी । राजा का चुनाव, पदच्युति और पुनर्वरण समिति ही करती थी । राजकीय प्रश्नों पर विचार करना समिति का ही काम था । राज्य का नीति का निर्धारण वहीं से होता था । ग्राम ही समिति के आधार थे । समिति के सदस्य कौन होते थे, यह कहना कठिन है । संभवतः प्रत्येक जन का और ग्रामों का भी प्रतिनिधित्व उसमें होता था ।

'समिति' और 'सभा' दो पृथक संस्थाएँ थीं और समिति सभा से ऊँी संस्था थी । सभा राष्ट्र के न्यायालय का कार्य करती थी । उसमें केवल वृद्ध लोग ही नहीं, प्रत्युत् जवान लोग भी सम्मिलित होते थे । हिलब्रैंड का विचार है कि समिति संस्था थी और सभा उसका अधिवेशन–स्थल । परन्तु, यह मत अमान्य हैं; क्योंकि अर्थववेद में दोनों को पृाकि संस्थाओं के रूप में माना गया है । अथर्ववेद में कहा गया है, ''सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापते दुहितरौ संविदाने ।'' अथर्ववेद में सभा, सिमति और परिषद का उल्लेख मिलता है । समिति के सभापति को ईशान नाम से संबोधित किया जाता था ।

5.3.1.2 राज्याभिषेक (Incarnation)– राज्याभिषेक एक महत्वपूर्ण कार्य था, जिसके माध्यम से प्रजा और उसकी समिति राजा को राय की थाती सौंपती थीं । धीरे–धीरे अभिषेक का क्रियाकलाप विस्तृत होता चला गया । पुरोहित, सेनापति, ग्रामणी और अन्य मुख्य कर्मचारी राजानो राजकृतः कहलाते थे । सूत्र, ग्रामणी, कर्म्मार, रथकार आदि अीिषेक के समय इकट्ठे होते थे ओर राजा को पलाश–वृक्ष की एक डाल (पर्ण और मणि) देते थे । मणि राजय की थाती का सांकतिक चिह्न थी । आगे चलकर 'मणि' या 'रत्न' देनेवाले राजकृतः 'रत्री' कहलाए । राजा सर्वप्रथम प्रजा के प्रतिनिधिस्वरूप इन 'रत्रियों' की पूजा राजसूर्य यज्ञ रचकर करता था । तब वह पृथ्वीमाता से अनुमति मांगता था । उसके बाद पवित्र जलों का संग्रह किया जाता था– गंगा, सरस्वती आदि निर्दिष्ट नदियों के अतिरिक्त जहाँ का वह राजा हो, उस भूमि के एक क्षुद्र जलाशय का जल लेने से वह संग्रह पूर्ण होता था । उन मिश्रित जलों से ही राजा का अभिषेचन होता था । उसके बाद उसे किरीट (मुकुट) आदि पहनाए जाते थे औश्र उसके अभिषेक की घोषणा होती थी । तब राजा शपथ लेता था कि यदि मैं प्रजा का द्रोह करूँ तो अपने जीवन, सुकृति, संतान सबसे वंचित किया जाऊँ । यह शपथ लेने के बाद वह बाध की खाल से आवेष्टित लकड़ी की चौकी पर चढ़ता और चढते सम पुरोहित उस पर फिर पानी का अभिषेचन करते हुए कहते – (1) ''हे देवताओ, इस अमुक विशः के राजा को बड़े क्षेत्र के लिए शत्रुही करो'', (2) 'यह राज्य तुम्हें कृषि के लिए, क्षेम के लिए, समृद्धि के लिए, पुष्टि के लिए दिया गया; तुम इसके संचालक और ध्रुव धारणकर्ता हो'' इस प्रकार उसे राज्य की थाती सौंपी जाती थी । तब राजा की पीठ पर दंड से हलकी चोट की जाती थी । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राजा दंड के ऊपर नहीं था । वह पृथ्वी को नमस्कार करता और फिर सब उसे नमस्कार करते । तब उसे तलवार दी जाती और वह राजकृतों और ग्रामणी के हाथ उसे क्रमशः देकर उनका सहयोग मांगता था । इस प्रकार, राजा के ऊपर एक उत्तरदायित्व डाला जाता था । इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिए उसे प्रजा से बलि लेने का अधिकार था ।

5.3.1.3 राज्यों का स्वरूप (Forms of States)– संगठित राज्यों के अतिरिक्त पूर्व वैदिक काल में और कई प्रकार के राज्यों का वर्णन मिलता है । कुछ तो अराजक राज्य थे । कहीं बिना राजा के समिति ही राज्य करती थी । कुछ अराजक जनों में यादवों में वीतिहोत्र का उल्लेख मिलता है । ये लोग प्रसिद्ध अराजक जन थे । सम्राट का भी उल्लेख मिलता है । फिर सार्वभौम राजा का आदर्श चला । चक्रवर्ती राज्यों का उल्लेख भी मिलता है ।

5.4 सामाजिक जीवन (Social Life)

वैदिक काल में भारतीय समाज आर्य और आर्येतर जातियों के मिलने से बना था । समाज मे प्रत्येक व्यक्ति का बराबर का स्थान प्राप्त था । प्रारंभ में जाति के आधार पर समाज दो वर्गो – आर्य और आर्येतर में बंटा हुआ था । लेकिन समाज का यह सरल रूप बहुत दिनों तक कायम नहीं रहा । काम के अनुसार समाज अनेक वर्गो में बंट गया ।

5.4.1 वर्ण–व्यवस्था (Caste-System)–

आर्यो का सामाजिक जीवन प्रारंभ में वर्गविभेद की भावना से रहित था । हर व्यक्ति की समाजिक स्थिति समान थी । जब भारत में आर्य आये तो वे तीन सामाजिक वर्गो में विभक्त थे । ये वर्ग – कूलीन वर्ग, पुरोहित और सर्वसाधारण वर्ग थे । अभी तक वर्ग चेतना का विकास नहीं हुआ था । व्यवसाय को पैतृक रूप में स्वीकार नहीं किया गया था । विभिन्न धर्मो में लगे लोगों के बीच विवाह तथा भोजन के संबंध में कड़े नियम नहीं थे । समाज का तीन वगों में विभाजन सामाजिक तथा आर्थिक सुविधा के लिए किया गया था ।

वर्ण–व्यवस्था की दिशा में पहला कदम आर्यो ने अपने रक्त की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए उठाया । उन्होंने अनार्यो से अपने को श्रेष्ठ बताने के लिए वर्ण का विधान बनाया था । आर्यो की अपनी मान्यताएँ, परम्पराएँ, रीति–रिवाज और समस्याएँ थीं । उनहें भय था कि अनार्यो के साथ घुलने–मिलने से उनका आर्यत्व नष्ट हो जएगा ।

प्रारंभ में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग आर्यो और अनार्यो में भेद बताने के लिए किया गया था । उस समय वर्ण–व्यवस्था का आधार जातिभेद था, श्रेणी–भेद नहीं । व्यक्तियों की योग्यता और कार्य करने की क्षमता के आधार पर ही वर्ग–विभाजन होता था । किन्तु बाद में यह आधार बदल गया और वर्ण–व्यवस्था का आधार पैतृक अथवा जातीय हो गया । ऋग्वेद के अन्तिम मंडल में कहा गया है कि ब्राह्मण ब्रह्मा से मुख, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य जंधा से और शुद्र की उत्पत्ति पाँव से हुई है ।

आर्यो का ज्यों–ज्यों प्रसार होता यगया त्यों–त्यों यात्रिक विधियों और धार्मिक उपादानों में अत्यधिक जटिलता आती गयी । जिन व्यक्तियों ने इस दिशा में दक्षता हासिल की उन्हें ब्राह्मण कहा गया । जिन लोगों ने युद्ध–विद्या में विशेषज्ञ हो औश्र धन–जन की रक्षा की उन्हें क्षत्रिय कहा गया । कृषि, गोरक्षा, आदान–प्रदान तथा व्यापार के कार्यो में लगे लोग वैश्य कहलाये । युद्ध में पराजित अनार्य तथा केवल शारीरिक श्रम करने वाले व्यक्तियों को शुद्र कहा गया । इस प्रकार ऋग्वैदिक काल में आर्यो के समाज में वर्ण–व्यवस्था विकसित हुई । ऋग्वेद के दसवें मण्डल में पहली बार जन्म पर आधारित वर्ण–व्यवस्था की चर्चा की गई है ।

5.4.2 परिवार (Family)–

ऋग्वैदिक काल में एक सुसंगठित पारिवारिक जीवन का विकास हो चुका था । परिवार समाज की सबसे छोटी इकाई थी । परिवार का प्रधान गृहपति कहलाता था । संयुक्त परिवाार की प्रथा प्रचलित थी । एक परिवार में माता–पिता, पति–पत्नी, भाई–बहन, पुत्र–पुत्री रहते थे । चूँकि परिवार पितृसत्तात्मक था, इसलिए सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पुत्र होता था । लड़कियों को विवाह के समय पिता की सम्पत्ति का कुछ भाग मिलता था । आजीवन कुमारी लड़कियों का भरण–पोषण परिवार करता था ।

परिवार का प्रधान पिता होता था । वह अपने परिवार के सदस्यों की सुख–सुविधा का ध्यान रखता था, धन–जन की रक्षा करता था तथा यज्ञ से संबंधित कार्यो का सम्पादन करता था । ऋग्वैदिक काल में पिता के अधिकार असीमित थे । साधारणतः पिता उदार और दयालु होते थे ।

5.4.3 विवाह (Marriage)–

ऋग्वैदिक काल में विवाह एक पवित्र सामाजिक संस्कार के रूप में स्वीकृत हो चुका था । 16–17 वर्ष की आयु में कन्या का विवाह होता था । वर–कन्या के परस्पर चुनाव के बाद अभिभाव की स्वीकृति ली जाती थी । दहेज की प्रथा नहीं थी, लेकिन कन्या की विदाई के समय उपहार एवं द्रव्य दिये जाते थे ।

ऋग्वैदिक समाज में साधारतया एकविवाह की प्रथा प्रचलित थी, लेकिन बहुविवाह के भी उदाहरण मिलते हैं । संभवतः बहुपत्नी–प्रथा समाज के धनी लोगों और राजाओं तक सीमित थी । बहुपतित्व के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं । आर्यो और दासों एवं भाई–बहन के बीच विवाह वर्जित था । विवाह के बाद पत्नी पति के संरक्षण में रहती थी । बाल–विवाह जैसी प्रथा उस समय नहीं थी ।

5.4.4 समाज में स्त्रियों का स्थान (Position of Women in Society)–

ऋग्वैदिक समाज में स्त्रियों को सम्मान दिया जाता था । किन्तु वे सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं होती थीं, कन्या, पत्नी तथा माता के रूप में नारी की काफी प्रतिष्ठा थी । पर्दा–प्रथा का प्रचलन नहीं था । कन्या के रूप में नारी को उच्चतम शिक्षा पाने का अधिकार था । पत्नी के रूप में नारी 'गृहस्वामिनी' कहलाती थी ।

5.4.5 भोजन और पेय (Foods and beverages)–

आर्यो का भोजन सादा तथा पौष्टिक था । चूँकि आर्य कृषक तथा पशुपालक थे, इसलिए उनके भोजन में अनाज, साग–सब्जी, फल, दूध, घी, दही की प्रधानता रहती थी । आर्य मांसाहारी भी थे । भेड़, बकरी आदि जानवरों का मांस खाया जाता था । गाय का मांस वर्जित था ।

जल और दूध सामान्य पेय थे । इनके अतिरिक्त सोमरस और सुरा का भी सेवन होता था । ऋग्वेद की ऋचाओं में सोमरस की प्रशंसा की गयी है । यज्ञ और धार्मिक अवसरों पर सोमरस का सेवन किया जाता था । सोमरस को प्रेरणादायक माना जाता था । आर्यो के देवता इन्द्र सोमरस का पान कर शत्रुओं का नाश करता था । सुरा की मादकता के कारण ऋग्वेद में उसकी निन्दा की गयी है ।

5.4.6 वस्त्र, श्रृंगार और आभूषण (Costume, Make-up and Ornaments)–

आर्य साधारण वस्त्र पहनते थे । वस्त्र तीन प्रकार के होते थे –अधोवस्त्र, अधिवास और पेशस । वे मृगछाले का भी प्रयोग करते थे । वे काटने और सीने की कला से परिचित थे । पुरूष पगड़ी बांधते थे और शाल धारण करते थे । कपड़े कपास, ऊन और रेशम से तैयार किये जाते थें ।

आर्य आभूषण प्रेमी होते थे और आभूषणों का प्रयोग बहुत अधिक होता था । स्त्री–पुरूष दोनों आभूषण के शौकीन होते थें । कर्णफूल, कंठहार, कंगन, मोती का हार आदि आभूषण प्रिय थे । स्त्रियाँ शिरस्त्राण भी धारण करती थीं ।

पुरूष दाढ़ी–मूँछ रखते थे तथा कटवाते भी थे । स्त्रियाँ श्रृगाड़प्रिय होती थीं वे वेणी धारण करती थीं । वे बालों को कंघी तथा तेल से संवारती थीं । कभी–कभी आर्य स्त्री–पुरूष सिर के बालों को जूड़ें के रूप में बांध लेते थे ।

5.4.7 आमोद प्रमोद (Recreation)–

आर्य जीवन के प्रति उदासीन नहीं थे । उनके जीवन में रसमयता थी। अवकाश का समय संगीत, नृत्य तथा जुए में बीतता था । घुड़दौड़, रथदौड़, आखेट, मल्लयुद्ध के द्वारा भी वे अपना मन बहलाते थे । संगीत और जुआ उनके मनोविनोद के मुख्य साधन थे । नाच, गान और वाद्य तीन तरह का संगीत प्रचलित था । वाद्य–संगीत के यंत्र वीणा, शंख, झझँझ, मृदंग थे ।

ऋग्वैदिक काल में आर्य बांस, लकड़ी तथा फूस का घर बनाते थे । प्रत्येक घर में अग्निशाला का अनिवार्य रूप से प्रबंध किया जाता था । जिसका प्रयोग पूजा तथा घर के कामों में होता था । आर्य मृतकों का दाह–संस्कार करते थे ।

ऋग्वैदिक आर्य अपने स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देते थे । ऋग्वेद की एक सूक्ति में जड़ी–बूटियाँ और औषधि शास्त्र के देवता 'अश्विनी' का उल्लेख मिलता है जिसमें भयंकर रोगों को दूर करने की विलक्षण शक्ति मौजूद थी ।

ऋग्वैदिक काल में शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक विकास तथा आचार–विार की शुद्धता थी । इस युग में मौखिक शिक्षा की व्यवस्था थी । विद्यार्थी गुरूकूल में शिक्षा प्राप्त करते थे । ब्राह्मण ही मुख्यतः शिक्षक का काम करते थे । विद्यार्थी धार्मिक ग्रन्थों एवं सूक्तों को कंठस्थ कर लेते थे ।

आर्यो का नैतिक जीवन उच्च कोटि का था । वे सादा जीवन व्यतीत करते थे । अतिथियों का सत्कार करना, सत्य बोलना, दान देना, बड़ों की इज्जत करना उनके मुख्य गुण थे । चोरी, झूठ, व्याभिचार, धोखेबाजी आदि दण्डनीय थे ।

5.5 धर्म (Religion)

ऋग्वैदिक काल में पुरूष देवताओं की प्रधानता थी । उसमें 33 देवताओं का उल्लेख मिलता है । आर्यो के सभी देवता प्रकृति के विभिन्न तत्वों के प्रतीथ थे । इस कारण यह माना जाता है कि आर्यो के धर्म का आधार प्रकृति–पूजा था । आर्यो के देवताओं को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है ।

1. वे देवता जो भूमि के प्रतीक थे । इनमें पृथ्वी, अग्नि, सोम और वृहस्पति आदि थे ।
2. वे देता जो वायुमंडल के प्रतिक थे । इनमें वायु, इन्द्र, मारूत, प्रजन्य, रूद्र, आपह आदि थे ।
3. वे देवता जो आकाश के प्रतीक थे । इनमें वरूण, मित्र, सूर्य, उषा, सावित्री, पूशान, आदित्य, विष्णु, अश्विनी कुमार आदि थे ।

इन देवताओं में इन्द्र, वरूण, अग्नि, सोम और सूर्य प्रमुख माने गये थे । ऋग्वेद में इन्द्र की स्तुति सबसे अधिक की जाती थी । वह एक शक्तिशाली देवता था जिसका मुख्य शस्त्र वज्र था । अग्नि आहार का देवता था । जिसके द्वारा सभी देवताओं को भोजन प्राप्त होता था । ऋग्वेद के करीब 200 सूक्तों में अग्नि का जिक्र मिलता है । इस प्रकार यज्ञों में सभी पदार्थो की आहुति अग्नि को दी जाती थी । सूर्य प्रकाश का देवता था और सावित्री, विष्णु, ऊषा आदि उसके सहायक देवता माने गये थे । सोम आर्यो का प्रिय पेय–पदार्थ था । इस कारण उसे भी देवताओं में स्थान दिया गया था ।

आर्यो में यज्ञ, आहुति और पशु–बलि को प्रधानता दी गयी थी जिनके द्वारा वे देवताओं को प्रसन्न करके शक्ति, सम्पत्ति और विभिन्न पदार्थो एवं सुविधाओं को प्राप्त करने की आशा करते थे । वे ज्ञान के आधार पर 'एकेश्वरवाद' में विश्वास करने लगे थे ।

आर्यो ने मृत्यु के पश्चात् के जीवन तथा स्वर्ग एवं नर्क की कल्पना की थी परन्तु वह जीवन उनके लिए अधिक महत्वपूर्ण न था । वे इस जीवन से प्रेम करते थे और उसकी वृद्धि एवं सम्पन्ना के लिए देवताओं को प्रसन्न करते थे । यह जीवन माया है अथवा कष्टपूण्र है, ऐसी उनकी कल्पना न थी । इस प्रकार ऋग्वेदिक धर्म की कुछ विशेषताएँ थे –

1. धर्म उपयोगितावादी था क्योंकि आर्य निरन्तर देवताओं को प्रसन्न करके अपने लिए सुख, सुविधा, शक्ति, आयु, सम्पत्ति आदि की इच्छा करते थे ।
2. आर्यो के देवता उदार थे और यदि उन्हें प्रसन्न कर लिया जाता था तो वे मनुष्य को सभी कुछ दे देते थे ।
3. देवताओं में पुरूष देवता की प्रधानता थी ।
4. मूर्ति–पूजा का सर्वथा अभाव था ।
5. धर्म का आधार जीवन के प्रति निराश का न था बल्कि आशा और उत्साह का था ।
6. धर्म में पुरोहित–वर्ग का प्रभाव महत्वपूर्ण न था अपितु गृहपति की समस्त धामिक कार्यो की पूर्ति कर लेता था ।
7. 'कर्म–सिद्धान्त' और 'जीव के आवागमन का सिद्धान्त' अभी तक पूर्ण रूप से मान्य नहीं थे ।

इस प्रकार, ऋग्वैदिक–सभ्यता की अपनी कुछ पृथक् विशेषताएँ थीं, जिनके कारण उसे उत्तर–वैदिक सभ्यता से पृथक कर दिय जाता है ।

5.6 आर्थिक जीवन (Economic Life)

आर्यो का मुख्य व्यवसासय पशु–पालन और कृषि था । ऋग्वैदिक–काल के प्रारंभ में पशु–पालन सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यवसाय रहा तथा पशुओं, मुख्यतया गायों को प्रमुख धन अथवा सम्पत्ति के रूप में माना जाता था । बाद के समय में कृषि भी उनका मुख्य व्यवसास बना । इसी कारण, ऋग्वैदिक आर्यो की प्रारम्भिक सामाजिक और राजनीतिक अवस्था पर कबाइली व्यवस्था का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है । यहाँ तक कि इस समय में भूमि और गृह अचल सम्पत्ति के रूप में स्थान प्राप्त नहीं कर सके थे । पशुओं में प्रमुख स्थान गाय का था जो मूल्यांकन और विनियम **(Exchange)** दोनों का साधन थी । आर्य हल से खेली करना जानते थे और कई बैलों की सहायता से हल चलाते थे ।

कृषि में हल का प्रयोग आयोग की एक मुख्य विशेष्ता थी । वे सिंचाई के साधनों का प्रयोग करना जानते थे और उसके लिए गहरे कुएँ खोदते थे ।

ऋग्वैदिक–काल में आर्यो को लोहे का ज्ञान नहीं था ।

आर्यो का एक अन्य व्यवसाय शिकार करना था । वे पक्षियों को पकड़ने के लिए जाल का प्रयोग करते थे और हिरण, सिंह आदि पशुओं को पकड़ने हेतु गड्ढ़ा खोदते थे । बढ़ई का कार्य अथवा धातुओं की वस्तु बनाने का कार्य, चमड़े का कार्य, कपड़ा बुनने और रंगने का कार्य, बाल काटने का कार्य, कसाई का कार्य, नाचने–गाने का कार्य, सुनारी का कार्य और चिकित्सा का कार्य, आदि आर्यो के अन्य प्रमुख व्यवसाय थे ।

विनिमय का मुख्य साधन गाय थी परन्तु सोने के एक टुकड़े अथवा जेवर का भी उल्लेख मिलता है जिसे 'निष्क' पुकारा जाता था ।

इस समय का आर्थिक जीवन सम्पन्न था । भारत में कृषि और पशु–पालन के विकास की पूर्ण सुविधा थी जो आर्यो के प्रमुख व्यवसाय थे ।

5.7 उत्तर वैदिक काल (Uttar Vedic Era)

ऋग्वेद के पश्चात् के हिन्दू–धर्मग्रन्थों से हमें जिस सभ्यता का ज्ञान होता है, उसे उत्तरवैदिक–काल की सभ्यता एवं संस्कृति कहा जाता है । साधारणतया इसका समय 1000–600 ई0 पू0 माना गया है । इस समय की सभ्यता एवं संस्कृति के बारे मं जानने के मुख्य साधन यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण–ग्रन्थ, अरण्यक और उपनिषद है । इनमें ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमुख स्थान अथर्ववेद का है । वर्तमान समय में इस सभ्यता के बारे में जानने में कुछ सहायता पुरातत्वीय खोजों से भी प्राप्त हुई हैं ।

पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में प्राप्त हुए चित्रित धूसर मिट्टी के बर्तनों के अवशेष और पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार एवं अन्य पूर्वी भागों में प्रापत हुए काली पालिश वाले मिट्टी के बर्तनों के अवशेष सम्भवतया उत्तर–वैदिककालीन युग के हैं ऐसा विद्वानों का मानना है । इसके अतिरिक्त, हस्तिनापुर, आलमगीरपुर, अतरंजीखेड़ा, बटेसर आदि से लोहे के विभिन्न अस्त्र–शस्त्र तथा घरेलू वस्तुओं के अवशेष भी उत्तरवैदिक–काल के स्वीकार कर लिये गये हैं । इस प्रकार उत्तर वैदिक काल की सभ्यता के बारे में जानने के लिए पुरातत्वीय खोजों का सहारा लिया जाने का प्रयत्न अवश्य किया गया है यद्यपि यह प्रयत्न अभी तक बहुत सीमित स्थिति में है । यह भी विचार व्यक्त किया गया है कि इन विभिन्न स्थानों पर प्राप्त अवशेष आर्य–सभ्यता के अवशेष नहीं हैं अपितु उनसे पहले की भारत की ताम्रपाषाणकालीन ग्रामीण–सभ्यताओं के हैं जिनमें से कुछ स्थानों के निवासियों को लोहे का ज्ञान भी हो गया था । इस कारण, उत्तरवैदिक–काल की सभ्यता एवं संस्कृति के बारे में जानने के लिए मूल स्रोत साहित्यिक ही हैं ।

5.7.1 राजनीतिक संगठन (Political Organization) –

आर्यो के विस्तर के साथ–साथ राज्यों और राजवंशों में परिवर्तन हुए । ऋग्वेद के समय के भरत, पुरू आदि वंशों का स्थान कुरू और पांचाल जैसे राजवंशों ने ले लिया । महाभारत के युद्ध के पश्चात् पाण्डव (कुरू) भी अपने सम्मान और शक्ति को अधिक समय तक सुरक्षित न रख सके और कोसल, काशी, विदेह, पांचाल, हैहय, कलिंग, सूरसेन आदि राजवंश प्रमुख बन गये । इसी प्रकार एक गम्भीर परिवर्तन यह भी था कि राज्यों का निर्माण 'कुल' के आधार पर न होकर भौगोलिक आधार पर होने लगा । निस्सन्छेह, इस प्रक्रिया में लोहे की ज्ञान–प्राप्ति ने सहयोग दिया । हस्तिनापुर, आलमगीरपुर, अतरंजीखेड़ा, बटेसर आदि में जो कुरू–पांचाल प्रदेश में पड़ते हैं, लोहे के अधिकतम शस्त्र प्राप्त हुए हैं और यही के राजाओं ने अधिकतम अश्वमेघ यज्ञ किये ।

(i) राजा (King)– कहीं–कहीं पर गणराज्यों के अतिरिक्त, इस समय की शासन–व्यवस्था मुख्यतया राजतंत्रीय थी । बड़े–बड़े राज्यों के निर्माण के कारण राजा की प्रतिष्ठा, सम्पत्ति और अधिकारों में वृद्धि हो गयी थी । साधारणतया राजा को कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता था परन्तु राजा राजधर्म के अनुसार शासन करता था । उसके अधिकारों में वृद्धि होने से उसके कर्तव्यों में नमी नहीं हुई थी । राजा का कर्तव्रू शासन करना, न्याय करना, दुर्बलों की रक्षा करना,

युद्ध करना, राज्य–विस्तार करना, प्रजा की भलाई के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहना और प्रजा के सभी दुखों से रक्षा करना था । राजा का भूमि पर अधिकार इस समय में भी न था यद्यपि वह किसी भी व्यक्ति को उसकी से भूमि से वंचित कर सकता था । प्रजा राजा को कर देती थी ।

(ii) प्रमुख शासन–अधिकारी (Chief State Officer)– पुरोहित, सेनानी और ग्रामणी इस काल में भी महत्वपूर्ण अधिकारी थे । इनके अतिरिक्त सूत (रथवान), संग्रहिणी (कोषाध्यक्ष), अक्षावाप (जुए की क्रीड़ा का प्रधान), तक्षत (बढ़ई), रथकार (रथों को बनाने वाला), क्षत्री (राजमहल की देखभाल करने वाला) आदि विभिन्न अधिकारी थे । महत्वपूर्ण अधिकारियों को 'रत्निनः अथवा 'वीर' कहकर पुकारते थे । इन विभिन्न अधिकारियों की उपस्थिति यह सिद्ध करती है कि राजाओं ने अपने विशाल साम्राज्य के लिए एक सुचारू शासन–व्यवस्था का प्रबधन् कर लिया था ।

(iii) कानून और दण्ड–व्यवस्था (Law and Punishment)– यह प्रायः ऋग्वेदिक–काल के समान थी । परन्तु इस काल में व्यक्तिगत सम्पत्ति और भूमि पर व्यक्ति के स्वामित्व को स्वीकार कर लिया गया था । स्त्रियों को सम्पत्ति पर अधिकार न था । अपराधियों पर जुर्माना करने और उन्हें शारीरिक यातनाएँ दिये जाने की व्यवस्था थी ।

(iv) सैन्य संगठन (Military Organisation)– इस समय में आर्यो ने सैनिक–साधनों में वृद्धि कर ली थी । रथवान, घुड़सवार और पैदल–सैनिकों के अलावा हाथियों का प्रयोग भी युद्ध में आरम्भ हो चुका था । अस्त्र–शस्त्रों में भी पहले से प्रगति हुई थी । तीर–कमान, तलवार, ढ़ाल, कटार, गदा, शिरस्त्राण, कवच आदि का प्रयोग उस समय में होता था ।

(v) सभा और समिति (Meetings and Committees)– ऋग्वेदिक–काल की 'सभा' और 'समिति' इस समय में भी थीं तथा उनका संगठन और कार्य पहले के समान ही था । परन्तु राजाओं के अधिकारों में वृद्धि हो जाने के कारण 'सभा'और 'समिति' का प्रभाव, निस्सन्दे, ऋग्वेदिक–काल की तुलना में कम हो गया था ।

5.7.2 सामाजिक जीवन (Social Life)

ऋग्वेदिक–काल की तुलना में इस काल के सामाजिक जीवन में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये थे –

(i) वर्ण–व्यवस्था (Caste System)– समाज में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का स्थान श्रेष्ठ हो गया । ब्राह्मणों ने अपनी श्रेष्ठता का दावा किया परनतु क्षत्री इसमें उनके प्रतिद्वन्द्वी बने रहे । बाद में इन दो वर्णो में व्यावहारिक समझौता हो गया । दोनों की प्रतिद्वन्द्विता का मूल कारण भी, सम्भवतया, यही आर्थिक कारण था । बाद में व्यावहारिकता के कारण दोनों वर्गो ने पारस्परिक समझौता कर लिया जिसके द्वारा ब्राह्मणों को सम्मान की दृष्टि से श्रेष्ठ स्थान प्रदान कर दिया गया और क्षत्रियों ने धीरे–धीरे भूमि पर स्वामित्व के अधिकार को प्राप्त कर लिया । वैश्यों का स्तर उन दोनों की अपेक्षा कुछ निम्न समझा गया और शूद्रों की स्थिति गिरने लगी । सामान्यतण श्रेष्ठ जाति वाले पुरूष निम्न जातियों की कन्याओं से विवाह कर सकते थे, परन्तु निम्न जाति वाले पुरूष अपनी जाति से श्रेष्ठ जाति की कन्या से विवाह नहीं कर सकते थे । परन्तु ब भी अन्तर्जातीय–विवाह होते थे । केवल शूद्रों से विवाह–सम्बन्ध करना अच्छा नहीं समझा जाता था । वर्ण–व्यवस्था की यह स्थिति उपनिषद–काल तक रही । धर्म–सूत्रों, महागाथा–काल और उसके पश्चात् स्मृति–काल तक धीरे–धीरे यह कठोर और गतिहीन होती गयी, यहाँ तक कि स्मृति–काल में हमें अस्पृश्य जाति के भी प्रमाण प्राप्त हो जाते हैं ।

(ii) आश्रम–व्यवस्था (Stages)– उत्तरवैदिक–काल में मनुष्य के जीवन को 25–25 वर्ष के चार भागों में बांटा गया । 25 वर्ष की आयु तक व्यक्ति को विद्यार्थी और ब्रह्मचर्य–जीवन का पालन करना पड़ता था । 25 से 50 वर्ष की आयु तक व्यक्ति गृहस्थ–जीवन व्यतीत करता था जिसमें पत्नी और बच्चों के साथ रहना, धन कमाना और अतिथि का स्वागत–सम्मान करना उसके प्रमुख कर्तव्य माने जाते थे । 50 से 75 वर्ष की आयु तक व्यक्ति को वानप्रस्थ–आश्रम में रहना पड़ता था जिसमें वह केवल अपनी पत्नी के साथ जंगल में निवास करता था और आध्यात्मिक प्रगति का प्रयत्न करता था । अन्त में, 75 से 100 वर्ष की आयु में व्यक्ति अपनी पत्नी को भी छोड़कर संयासी का जीवन व्यतीत करता था तथा मोक्ष–प्राप्ति का प्रयत्न करता था । इस प्रकार इस काल में आर्यो ने जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास– इन चार भागों में बांटकर तथा विभिन्न आयु में व्यक्ति के विभिन्न कर्तव्य निश्चित करके व्यक्ति की भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार की प्रगति करने का मार्ग बताया था ।

(iii) स्त्रियों की स्थिति (Position of Women)– इस काल में भी स्त्री सम्बन्धी कुप्रथाएँ आरंभ नहीं हुई थीं । विवाह अब भी एक पवित्र बंधन माना जाता था जिसका मुख्य उद्देश्य संतान उत्पन्न करना था । इस काल में आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे – 1. ब्रह्–विवाह, जिसमें पिता अपनी इच्छा से अपनी पुत्री का विवाह उपयुक्त व्यक्ति से करता था । 2. दैव–विवाह – जिसमें पिता अपनी पुत्री का विवाह उपयुक्त व्यक्ति से पुरोहित की सहायता से करता था । 3. अर्श–विवाह – जिसमें पिता वर–पक्ष की आर्थिक स्थिति को जानने के लिए वर–पक्ष से गाय या बैल उपहार के रूप में स्वीकार करके अपनी पुत्री का विवाह उपयुक्त व्यक्ति से करता था । 4. प्रजापति विवाह – जिसमें पिता पुत्री द्वारा स्वेच्छा से किये गये विवाह को सम्मति प्रदान कर देता था । 5. गन्धर्व विवाह – जिसमें लड़का और लड़की स्वेच्छा से विवाह कर लिया करते थे । 6. असुर विवाह – जिसमें पुरूष धन लेकर स्त्री से विवाह करता था । 7. राक्षस–विवाह – जिसमें पुरूष स्त्री को जबरदस्ती उठाकर ले जाता था और उससे विवाह करता था और 8. पिशाच–विवाह – जिसमें पुरूष स्त्री को धोखा देकर अथवा उसकी नाजानकारी में उसे उठाकर ले जाता था ओर उससे विवाह करता था । परनतु ऐसा विवाह समाज में स्वीकृत न था । इस काल में साधारतया एकपत्नी–प्रथा प्रचलित थी परन्तु बहुपत्नी–प्रथा भी थी । विधवा–विवाह पर कोई बंधन नहीं था ।

(iv) भोजन, वस्त्र, आभूषण, मनोरंजन आदि (Food, Dresses, Ornaments, Recreations etc.)– इस काल में आर्यो का मुख्य भोजन अन्न, दूध तथा दूध से बने हुए अन्य पदार्थ एवं मांस था । जौ और चावल उनके मुख्य अन्न थे ।

वस्त्रों में सूती और ऊनी वस्त्रों के अतिरिक्त रेशमी वस्त्रों का प्रयोग भी आरंभ हो गया था ।

इस काल में आर्यो ने नगरों का निर्माण कर लिया था और बड़े–बड़े विशाल भवन और महल बनने लगे थे । कौशाम्बी और हस्तिनापुर में इस समय के नगरों के अवशेष प्राप्त हुए है ।

मनोरंजन के साधनों में नृत्य, संगीत, जुआ, रथ–दौड़ के अतिरिक्त घुड़दौड भी सम्मिलित हो गयी थी ।

(v) शिक्षा (Education)– शिक्षा का प्रारंभ उपनयन–संस्कार से होता था । राज्य की ओर से शिक्षा का प्रबन्ध न था अपितु गुरू अपने घरों अथवा आश्रमों में निःशुल्क शिक्षा प्रदान करते थे । विद्यार्थी को गुरू के पास रहना पड़ता था । उनकी सेवा करता था और भिक्षा मांगकर लाते थे और शिक्षा समाप्त होने पर गुरू को स्वेच्छा से गुरू–दक्षिणा देते थे । उस काल में साधारणतया शिक्षा–काल 12 वर्ष का था ।

5.7.3 आर्थिक जीवन (Economic Life)–

इस समय आर्यो के आर्थिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए । इसका कारण था कि उन्हें लोहे का ज्ञान प्राप्त हो चुका था । इससे कृषि में मदद मिली, उपज बढ़ी और कृषि आर्यो का मुख्य पेशा हो गया ।

(i) कृषि (Agriculture)– उत्तर वैदिककालीन आर्यो की जीविका का मुख्य साधन कृषि था । खेली हल–बैल की सहायता से होती थी । इस युग में हल का आकार और उपादेयता काफी बढ़ गयी थी । आर्यो को खेती के तरीके, फसल और बीज की जानकारी थी । उपज बढ़ाने के लिए खाद का प्रयोग किया जाता था । वर्ष में दो फसलें होती थीं । जो शीतकाल और ग्रीष्मकाल में काटी जाती थीं । गेहूँ, जौ, धान, उड़द, मूंग, मसूर और तिल की खेती होती थी ।

(ii) पशु–पालन (Animal Husbandary)– कृषि के अलावा पशु–पालन भी एक महत्वपूर्ण व्यवसाय था । साधारण मनुष्य ही नही बल्कि राजा भी पशुधन की कामना करते थे । इस युग में गाय प्रमुख पशु थी । इसके अतिरिक्त भैंस, भेड़, बकरी, घोडा, हाथी, गदहा तथा शूकर भी उपयोगी पशु थे ।

(iii) शिल्प (Sculpture)– उत्तर वैदिक काल में अनेक शिल्पों और व्यवसायों का विकास हुआ । सूत, वयाध, जलोपजीवी, गोप, कर्षक, रथकार, सुवर्णकार, रजक, रज्जुकार, रंगसाज, रसोइया, कुम्हार, लोहार, नर्तत, गायक, कलाबाज, महावत, चर्मकार आदि शिल्पों और व्यवसायों का उल्लेख मिलता है । उत्तर वैदिक काल में ऊनी वस्त्रों का निर्माण होता था । चर्मकार और बढ़ई के शिल्लों की उन्नति इस काल में खूब हुई । राकार, सूत और सुराकार भी अन्य व्यवसायियों में महत्वपूर्ण थे । समान व्यवसाय करने वाले अपना संघ बना लेते थे ।

(iv) धातु का काम (Metal Work)– उत्तर वैदिक काल में आर्यो को अनेक धातुओं का ज्ञान हो चुकाथा । ऋग्वेद में केवल सोना और 'अयस्' का उल्लेख हुआ है । लेकिन उत्तर वैदिक काल में टिन, तांबा, चांदी, सीसा, लोहा

आदि धातुओं का ज्ञान भी था । दान में गाय के साथ सिक्का भी दिया जाता था ।

इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में आर्यो के भौतिक जीवन में बड़ी उन्नति हुई थी । पशुचारी और अर्थ7धुमन्तु जीवन का अन्त हो गया था । आर्य अब स्थायी रूप से उत्तरी गंगा के मैदान में बस गये थे ।

5.7.4 धर्म और दर्शन (Religion and philosophy)

उत्तर वैदिक काल में धर्म और दर्शन में महत्वपूर्ण प्रगति हुई । इस काल में आर्यो के देवता वही रहे परन्तु उनके महत्व और आधार में परिवर्तन हो गया । इस काल में इन्द्र, वरूण, अग्नि और सूर्य जैसे ऋग्वेदिक देवताओं का स्थान गौण हो गया । उनके स्थान पर शिव, जो रूद्र का परिवर्तित स्वरूप था, विष्णु अथवा नारायण और ब्रह्मा अर्थात प्रजापति का स्थान प्रमुख हो गया । इसके अतिरिक्त, विभिन्न देवताओं की प्रकृति से, जो उनकी उत्पत्ति का आधार था, सम्पर्क समाप्त हो गया । अब देवताओं को मूलतया राक्षसों को नष्ट करने वालों के रूप में माना जाने लगा ।

इस काल में कर्मकाण्ड और विभिन्न संस्कारों पर बल दिया गया । कर्मकाण्ड के कारण यज्ञ और बलि धार्मिक कार्य बन गये । पहले जिन कार्यो की पूर्ति 'गृहपति' कर लिया करता था अब उसे ब्राह्मण पुरोहित–वर्ग करने लगा । ऋग्वैदिक काल के 7 पुरोहितों के स्थान पर उत्तर वैदिक काल में 14 पुरोहितों का उल्लेख मिलता है । विभिन्न कार्यो में सफलता प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार के यज्ञ किये जाने लगे और उनमें विभिन्न प्रकार की बलि दी जाने लगी । कर्मकाण्ड केवल ब्राहण ही करा सकता था जिससे समाज में उसे एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हो गया । क्षत्रियों ने भी उनका समर्थन किया क्योंकि कर्मकाण्ड का धार्मिक स्वरूप उन्हें अन्य वर्णो पर अपने प्रभाव और आधिपत्य को बनाये रखने में सहायता प्रदान करता था ।

एक आर्य से अपने जीवन में 40 संस्कारों को पूर्ण करने की अपेक्षा की जाती थी और प्रत्येक संस्कार एक यज्ञ और समारोह का अवसर था ।

कर्मकाण्ड, यज्ञ और बलि से विरक्त होकर तप का विचार भी इसी काल में उत्पन्न हुआ । मूलतया अरण्यकों ने तप के विचार का प्रतिपादन किया । अरण्यकों ने ध्यान पर बल दिया और शरीर को विभिन्न प्रकार के कष्ट देकर परम ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग बताया । तप का अर्थ था जंगल में जाकर धूप, सर्दी, वर्षा, समय आदि की परवाह न करते हुए ईश्वर का ध्यान करना ।

ज्ञान–मार्ग का प्रतिपादन उपनिषदों ने किया । सत्य–ज्ञान के द्वारा ही ब्रहम अथवा मोक्ष की प्राप्ति संभव है, यह उपनिषदों ने बताया । उपनिषदों के अनुसार सत्कर्म, यज्ञ, बलि आदि भविष्य में श्रेष्ठ जीवन प्रदान कर सकते हैं परन्तु मोक्ष–प्राप्ति में सहायक नहीं हैं । मोक्ष–प्राप्ति अर्थात् ब्रह्म या परमात्मा में लीन होना केवल ज्ञान के द्वारा संभव है । उपनिषदों के अनुसार ''जो ईश्वर को जानता है वह ईश्वर को प्राप्त करता है; यही नहीं अपितु वह स्वयं ईश्वर हैं ।'' भारत में सभी धर्मो और धर्म–दर्शनों का मूल स्रोत उपनिषद माने जाते है ।

नर्क और स्वर्ग की कल्पना तथा ब्रह्म, मोक्ष, पुनर्जन्म और कर्म–सिद्धान्त के विचारों की उत्पत्ति भी इसी काल में हुई । ब्रह् अथवा परमात्मा एक है और उसे प्राप्त करना अथवा मोक्ष प्रापत करना जीवन का सबसे प्रमुख आदर्श है ।

बोध प्रश्न

1. वैदिक आर्यो के सामाजिक संगठन की विवेचना कीजिए ।
2. ऋग्वैदिक आर्यो के राजनीतिक संगठन का विवरण दीजिए ।
3. उत्तर वैदिक काल की अर्थ–व्यवस्था की प्रमुख विशेषतायें बताए ।
4. उत्तर वैदिक काल के धार्मिक विशेषताओं का वर्णन करें ।
5. ऋग्वैदिक काल में समाज एवं अर्थ व्यवस्था की विवेचना कीजिए ।

* * * * *

अध्याय- 6

लौहयुगीन संस्कृति

(Metalistic Civilization)

6.0 उद्देश्य (Aims)

6.1 प्रस्तावना (Introduction)

6.2 गेरूए चित्रित बर्तनों की संस्कृति (Culture ot Terracota Engreaved Utensils)

6.3 काले एवं लाल मृद्भाण्ड संस्कृति (Black and Red Pottery Culture)

6.3.1 बर्तन (Utensils)

6.3.2 अन्य वस्तुएँ (Other Items)

6.3.3 दोआब तथा अन्य क्षेत्रों में कालें एवं लाल मृद्भाण्ड (Black and Red Pottery in the Region of Doab and other Regions)

6.4 चित्रित घूसर मृद्भाण्ड संस्कृति (Engraved Pottery Culture)

6.4.1 बर्तन (Utensils)

6.4.2 घरों के ढ़ाचें (Skeleton of Houses)

6.4.3 अन्य वस्तुएँ (Other Items)

6.4.4 फसलों और पशुओं के अवशेष (Ruins of Crops and Animals)

6.4.5 व्यापारिक तरीके तथा संबंध (Trade Method and Relationship)

6.5 उत्तरी काले पॉलिश वाली मृद्भांड (Northern Black Polished Pottery)

6.5.1 भवनों के अवशेष (Ruins of Buildings)

6.5.2 बर्तन (Utensils)

6.5.3 अन्य वस्तुएँ (Other Items)

6.5.4 गहने (Ornaments)

6.5.5 मिट्टी की मूतियाँ (Earthen Idols)

बोध प्रश्न

6.0 उद्देश्य (Aims)

इस इकाई को पढ़ने के बाद यह जान पाएगें कि –

- लौह युग का आरंभ किस प्रकार हुआ ।
- भारत की आरम्भिक कृषि–संस्कृति के क्रमिक चरण तथा उनकी बुनियादी विशेषताएँ का पता लग सकेगा ।
- इन संस्कृतियों की बस्तियाँ, अर्थव्यवस्था तथा अन्य पक्षों का स्वरूप जान सकेंगे ।

6.1 प्रस्तावना (Introduction)

दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में विभिन्न क्षेत्रीय संस्कृतियाँ अस्तित्व में आयी । यह संस्कृतियाँ न तो शहरी थीं और न ही हड़प्पा संस्कृति की तरह थीं बल्कि पत्थर एवं ताँबें के औजारों का इस्तेमाल इन संस्कृतियों की अपनी विशिष्टता थी । अतः यह संस्कृतियाँ ताम्र पाषाण संस्कृतियों के नाम से जानी जाती है ।

ताम्र पाषाण संस्कृतियाँ अपनी भौगोलिक स्थितियों के आधार पर पहचानी जाती हैं । इन संस्कृतियों से संबंधित स्थलों की खुदाई से हम इनके निम्न पक्षों के बारे में विस्तृत अनुमान लगा सके हैं –

- बस्तियों का फैलाव
- अर्थव्यवस्था का ढ़ाँचा
- शव गृह और शवदाह के तरीके
- धार्मिक विश्वास

खुदाई स्थलों में इस संस्कृति से संबंधित वस्तुओं के साथ–साथ उत्तरप्रदेश, हरियाणा, राजस्थान, बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा एवं कर्नाटक के विभिन्न भागों में ताम्र/कांस्य की वस्तुओं के भंडार प्राप्त हुए है । चूंकि यह वस्तुएं भंडारों के रूप में प्राप्त हुई हैं अतः इन क्षेत्रों के एक भिन्न ताम्र भंडार संस्कृति से सम्बद्ध होने का अनुमान लगाया गया है । यद्यपि कुछ अन्य ताम्र वस्तुओं के भंडार स्थलों में भी गेरूए चित्रित बर्तन मिले हैं किनतु इस ताम्र भंडार का चित्रित र्तनों के साथ सीधा सम्पर्क नहीं है । अतः इसे गेरूए चित्रित बर्तनों की संस्कृति से संबंद्ध माना जाता है । गेरूए चित्रित बर्तनों की संस्कृति के बाद काले एवं लाल मृद्भाण्डों की संस्कृतियां तथा चित्रित घूसर मृद्भाण्डों की संस्कृतियां जो कि विशिष्ट प्रकार के बर्तनों के आधार पर पहचानी जाती हैं, का युग आता है । उत्तर भारत में हरियाणा तथा ऊपरी गंगा घाटी में चित्रित घूसर मृद्भांड के स्थलों की बड़ी संख्या मिलती है जिनमें से 30 की अब तक खुदाई हो चुकी है लोहे के प्रार्दुभाव सर्वप्रथम चित्रित घूसर मृद्भाण्ड संस्कृति में होताहै, जो कि उत्तरी काले पॉलिश किए मृद्भाण्डों की संस्कृति के नाम से जानी जाती थी तथा आगे के चरणों में इसका प्रयोग बहुत विस्तृत पाया जाता है ।

6.2 गेरूए चित्रित बर्तनों की संस्कृति (Culture of Terracotta Engraved Utensils)

1950 में उत्तर प्रदेश में बिसौली तथा राजपुर परसू जो कि दोनों ही ताम्र भंडार क्षेत्र हैं, की परीखण दृष्टि से खुदाई में नए किस्म के बर्तन प्राप्त हुए । बर्तन मध्यम स्तर की दानेदार मिट्टी से बनाकर कम तपाए गए हैं । इन्हें नारंगी से लेकर लाल रंग तक के गेरूए जो कि प्रायः घिसने पर घूमिल हो जाता है, रंग से रंगा गया है ।

गेरूए चित्रित बर्तनों के क्षेत्र सामान्यतः नदियों के तटों पर मिले हैं । यह क्षेत्र आकार मे छोटें हैं तथा कई क्षेत्रों में टीलों की ऊँचाई काफी कम है । इससे इन बस्तियों के बीच की दूरी 5 से 8 किलोमीटर के बीच पायी गयी है । हस्तिनापुर तथा अहिक्षेत्र में गेरूए चित्रित र्बनों की संस्कृतितथा इसके बाद आने वाली चित्रित घूसर बर्तनों की संस्कृति के बीच की प्रक्रिया अवरोधित प्रतीत होती है ।

गेरूए चित्रि बर्तनों की संस्कृति के भौतिक अवशेष मुख्य रूप से बर्तन है । इनमें जार, प्याले, गोल आधार वाले प्याले, सुराही, दस्तेवाले बर्तन, छोटे बर्तन, पात्र, टोली वाले बर्तन आदि शामिल है ।

अन्य वस्तुओं में, पक्की मिट्टी की चूड़ियाँ, पक्की मिट्टी के मनके तथा इन्द्रगोप, पक्की मिट्टी की जानवरों की मूर्तियां एवं गाड़ी के पहिए जिनके केन्द्र में एक गुमटा है, पत्थर की चक्की एवं मूसल तथा हड्डियों के हरावल प्राप्त हुए ।

घरों के ढ़ांचों से संबंधित अधिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं । पुराना किला से प्राप्त प्रमाणों, जो कि अपर्याप्त हैं, के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि फर्श थापी हुई मिट्टी के बनाए जाते थे । घर सरपट एवं उस पर मिट्टी की लिपाई के साथ बनाए जाते थे । ऐसा अनुमान पुराना किला में प्राप्त तपी मिट्टी के प्लास्टर एवं मिट्टी पर सरकड़े एवं बांस के निशानों के आधार पर लगाया गया है ।

इस संस्कृति से संबंधित अतरंजीखेड़ा से प्राप्त पुरातात्विक–वानस्पतिक अवशेषों से पता चलता है कि इन क्षेत्रों में धान, जौ, दालें तथा घिसारी की फलस उगाई जाती थी ।

गेरूए चित्रित बर्तनों से प्राप्त ताप संदीप्ति परीक्षा के आधार पर यह संस्कृति 2000 ईसा पूर्व से 1500 ईसा के बीच मानी गयी है ।

6.3 काले एवं लाल भृद्भाण्ड संस्कृति (Black and Red Pottery Culture)

1960 के दशक के आरंभ में अतरंजीखेड़ा में खुदाई के दौरान एक विशिष्ट प्रकार के गेरूए चित्रित बर्तनों एवं चित्रित घूसर मृद्भाण्डों के स्तरों के बीच के, मृद्भाण्ड प्रकाश में आए । इस स्तर के विशिष्ट बर्तन काले एवं लाल मृद्भाण्ड कहे जाते हैं । जोधपुरा एवं नोह से 1970 के दशक में इसी प्रकार के स्तरीय क्रम प्रकाश में आए । किंतु अहिक्षेत्र, हस्तिनापुर एवं आलमगीरपुर में काले एवं लाल मृदभाण्ड रंगे घूसर मृद्भाण्डों के साथ प्राप्त हुए हैं ।

6.3.1 बर्तन (Utensils)

इन बर्तनों के विशिष्ट लक्षण यह है कि ब्रतनों के अन्दर के भाग तथा बाहर के भाग में किनारा काले रंग तथा शेष बर्तन लाल रंग से चित्रित है । ऐसा विश्वास है कि रंग का यह समायोजन बर्तनों को उल्टा करके तपा कर लाया गया है । र्बन अधिकतर चाक पर बनाये गये हैं । यद्यपि कुछ हाथ से बनाए हुए बर्तन भी है । महीन मिट्टी के बने इन बर्तनों की बनावट काफी सुगठित हैं तथा किनारे पतले हैं । काले एवं लाल मृद्भाण्ड राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार तथा पश्चिमी बंगाल में भी पाए गए हैं, किन्तु दोआब के काले एवं लाल मृद्भाण्डों पर रंगाई नहीं की गयी है ।

6.3.2 अन्य वस्तुएँ (Other Items)

अतरंजीखेड़ा में खुदाई के दौरान पत्थर के टुकड़े, पत्तर तथा टुकड़े, स्फटिक, सिक्थस्फटिक, अकीक तथा इन्द्रगोप के मूलभाग, इन्द्रगोप सीप तथा ताम्र, ताम्र का एक चक्र, तथा हड्डी से बनी एक कंघी का एक टुकड़ा प्राप्त हुआ है । पत्थर अथवा धातु के कोई औजार नहीं मिले हैं । जोधपुरा में हड्डीर की नुकीली कील मिली है । नोह में आकृति रहित लोहे का टुकड़ा, पक्की मिट्टी का एक मनका तथा एक हड्डी की कील मिली है ।

6.3.3 दोआब तथा अन्य क्षेत्रों में काले एवं लाल मृद्भाण्ड (Black and Red Pottery in the Region of Doab and other Regions)

कुछ विद्वान यह मानते हैं अतरंजीखेड़ा तथा दक्षिणी राजस्थान में गिलुंद तथा आहर में मिले काले एवं लाल मृद्भाण्डों में स्वरूप, बनावट एवं चमक के आधार पर समाना है । लेकिन इन स्थानों से प्राप्त बर्तनों के आकार और रूपरेखा में भिन्नताएँ भी हैं जो निम्न है –

(i) दोआब के काले एवं मिट्टी के लाल बर्तनों की मुख्य विशेषता उनका सादा पृष्ठभाग है जो कि चित्र रहित है । जबकि गिलुंद एवं आहर में मिट्टी के बर्तन काले पृष्टभाग पर सफेद रंग से चित्रित किए गए हैं ।

(ii) इनमें किस्मों का भी अंतर हैं । आहर के चित्रित काले एवं लाल मिट्टी के बर्तनों में स्पष्ट रूप से कोणिक अवतल किनारे हैं तथा बनावट खुरदुरी है ।

(iii) स्वरूप विहीन किनारे तथा अवतल भाग वाली तश्तरियाँ दोआब के काले एवं लाल मिट्टी के बर्तनों में प्रचुर संख्या में मिलती है जबकि आहर एवं गिलुंद में ऐसी तश्तरियाँ नही प्राप्त हुई ।

(iv) रोटी वाले प्याले तथा स्टैंड वाली तश्तरियाँ आहर एवं गिलुंद में प्राप्त हुई लेकिन दोआब क्षेत्रों में नहीं प्राप्त हुई ।

यह तथ्य काफी महत्वपूर्ण है कि काले एवं लाल मृद्भाण्ड विभिन्न क्षेत्रों में थोड़ी बहुत भिन्नताओं के साथ काफी बड़े क्षेत्र में फैले पाए गए हैं । यह मृदभाण्ड उत्तर में रोपड़ से लेकर दक्षिण में आदिचानालूर तथा पश्चिम में आमर तथा लाखबवाल से लेकर पूर्व में पांडु7राजार ढिबी तक प्राप्त हुए हैं ।

6.4 चित्रित घूसर मृद्भाण्ड संस्कृति (Engraved Pottery Culture)

1946 में अहीक्षेत्र में चित्रित घूसर मृद्भाणों की खोज के बाद से उत्तरी भारत के विभिन्न क्षेत्रों से ये बड़ी संख्या में प्रकाश में आए हैं । इनमें से 30 स्थानों की खुदाई हुई हैं । जिसमें से मुख्य रोपड़ (पंजाब), भगवानपुरा (हरियाणा), नोह (राजस्थान), आलमगीरपुर, अहिक्षेत्र, हस्तिनापुर, अतरंजीखेड़ा, जखेड़ा, तथा मथुरा (सभी उत्तर प्रदेश) हैं ।

काले एवं लाल मृद्भाण्डों के क्षेत्र भारत–गांगेय विभाजन, सतलुज के थाले तथा गंगा के ऊपरी मैदानों में केन्द्रित हैं । इन क्षेत्रों की बस्तियां अधिकतर छोटे–छोटे गांव है (जिनका क्षेत्रफल 1 से 4 हेक्टेयर के बीच है) ।

6.4.1 बर्तन (Utensils)

बर्तन चाक पर बनाए गए है । मिट्टी काफी चिकनी है तथा बर्तनों का आधार काफी पतला है ।

(i) इनका पृष्ठभाग चिकतना है तथा रंग घूसर से लेकर राख के रंग के बीच है ।

(ii) इनके बाहर तथा अन्दर के तल दोनों ही काले और काफी गहरे चॉकलेटी रंग के रंगे गए है ।

(iii) इनकी लगभग 42 किस्में हैं जिसमें सबसे सामान्य किस्म प्याल एवं तश्तरियों की हैं ।

6.4.2 घरों के ढांचे (Skeleton of Houses)

अहिक्षेत्र, हस्तिनापुर, अतरंजीखेड़ा तथा जखेड़ा की खुदाई के बाद घरों तथा अन्य ढांचों के सरपत एवं मिट्टी से पाथे होने की जानकारी मिलती है । तपाई मिट्टी, मिट्टी की ईंटों, तपाई ईंटों, मिट्टी के चबूतरे तथा मिट्टी के प्लास्टर के साथ–साथ सरकण्डे एवं बांस के निशान पाए जाने के आधार पर यह जानकारी मिलती है ।

भगवानपुर (हरियाणा) क्षेत्र में खुदाई से घरों के ढांचों के भिन्न चरणों की ओर संकेत मिले हैं । प्रथम चरण में खंभों के गड्ढ़े घरों के गोलाकार एवं आयताकार होने की ओर संकेत करते हैं । दूसरे चरण में एक घर में 13 कमरे तथा दो कमरों के बीच बरामदा पाया गया है । इस घर में एक आंगन भी है ।

6.4.3 अन्य वस्तुएँ (Other Items)

खुदाई के दौरान ताम्र, लोह, कांच तथा हड्डियों की कई प्रकार की वस्तुएँ मिली है । इनमें कुल्हाड़ियाँ, छेनियाँ, मछली के कांटे तथा बाण के फल मुख्य हैं । बरछे के फल केवल लोहे के हैं । खेती के उपकरणों में जखेड़ा में लोहे की बनी हंसिया और कुदाली प्राप्त हुई हैं । हस्तिनापुर के अतिरिक्त अन्य सभी क्षेत्रों में लोहे की वस्तुएं मिली हैं ।

अकीक, सूर्यकांत, इन्द्रगोप, सिक्थस्फटिक, लाजवर्द, कांच तथा हड्डी के मनकों की मालाएं पाई गयी है । हस्तिनापुर में दो कांच की चूडियाँ तथा जखेड़ा में ताम्र की चूडियां मिली हैं ।

मिट्टी की वस्तुओं में मानवीय तथा पशुओं की मूर्तियाँ, चपटी गोलाकृतियाँ, गेंद, कुम्हार की मोहरें आदि पाई गई है ।

6.4.4 फसलों और पशुओं के अवशेष (Ruins of Crops and Animals)

केवल हस्तिनापुर और अतरंजीखेड़ा में ही उगाई जाने वाली फसलों के प्रमाण मिले हैं । हस्तिनापुर में केवल

चावल और अतरंजीखेड़ा में गेहूं और जौ के अवशेष मिले हैं । घोड़े, गाय, भैसों, सुअर, बकरी और हिरण की हड्डियाँ हस्तिनापुर, अल्लापुर और अतरंजीखेड़ा से प्राप्त हुई है ।

6.4.5 व्यापारिक तरीके तथा संबंध (Trade Methods and Relationship)

विभिन्न प्रकार के अर्धबहुमूल्य पत्थरों की मालाएं दोआब के विभिन्न चित्रित घूसर मृदृभाण्ड क्षेत्रों से प्राप्त हुई हैं । जहां तक इन पत्थरो के कच्चे खनिक के रूप में प्राप्त होने का प्रश्न हैं, इनमें से दोआब में एक भी पत्थर उपलब्ध नहीं है । अवीक एवं सिक्थस्फटिक कश्मीर, गुजरात तथा मध्यप्रदेश में तथा लाजवर्द अफगानिस्तान के बदखशां प्रांत में पाया जाता है । अतः रंगे घूसर मृद्भाण्ड क्षेत्रों के निवासियों ने इन पत्थरों को इन क्षेत्रों से व्यापार के द्वारा अथवा विनियम के रूप में प्राप्त किया होगा ।

उत्तर पश्चिमी भारत के बर्तनों तथा सलेटी मिट्टी के बर्तनों में आकार और रूप के आधार पर कुछ समानताएं मिलती है विशेषकर लोहे के साथ पाए गए सलेटी बर्तनों का घूसर मृद्भाण्ड संस्कृति से संबंध दिखलाई देता है ।

खुदाईयों से पता चलता है कि –

(i) कई क्षेत्रों में उत्तरी काले पॉलिक किए मृद्भाण्डों का उदय चित्रित घूसर मृदृभाण्डों स्तरों के उपरान्त हुआ ।

(ii) कई स्थानों पर उत्तरी काले पॉलिश किए मृद्भाण्ड काले एवं लाल मृद्भाण्डों के उपरान्त मिलते हैं तथा लाल धारी वाले मृद्भाण्ड उत्तरी काले पॉलिश किए मृद्भाण्डों के बाद मिलते हैं ।

6.5 उत्तर काले पॉलिश वाली मृद्भाण्ड (Northern Black Polished Pottery)

पूर्व संस्कृयों की भांति ही उत्तरी काले पॉलिश वाली मृद्भाण्ड संस्कृति की पहचान इसके विशिष्ट बर्तनों के आधार पर की जाती है । यह मृद्भाण्ड सर्वप्रथम 1930 में तक्षशिला में मिले । इन मृद्भाण्डों की काली चमक के कारण इनके खोजने वालों ने उस समय इन्हें ग्रीक काले मृद्भाण्ड समझा । तब से लेकर अब तक उत्तर पश्चिम में तक्षिला तथा उदग्राम से लेकर पूर्वी बंगाल में तालमुक एवं दक्षिण में अमरावती तक लगभग 1500 उत्तरी काले पॉलिश किए मृद्भाण्डों के क्षेत्रों की पहचान की जा सकी है जिसमें से 74 क्षेत्रों की खुदाई हो चुकी है ।

6.5.1 भवनों के अवशेष (Ruins of Building)

हस्तिनापुर, अतरंजीखेडा तथा कौशाम्बी में खुदाई से यह स्पष्ट हो गया है कि इस काल के दौरान मकान बनाने का कार्य बड़े पैमाने पर शुरू हो गया था और शहरों का बनना आरम्भ हो चुका था ।

कौशाम्बी में बस्तियों के स्वरूप के प्रमाण काफी स्पष्ट रूप में उपलब्ध हुए हैं । इसी स्थान पर ईंटों के फर्श वाले रास्ते और गलियाँ मिली हैं । एक सड़क जो पहली बार लगभग 600 ईसा पूर्व में बनाई गयी थी उसकी कई बार मरम्मत की गयी । खंभों के गड्ढ़ों एवं दरवाजे के बाजू के लिए बने कोष्ठों से इमारतों में लड़की के प्रयोग के प्रमाण भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं । घरों की छतें खपरैल लगा कर ढ़की जाती थी। कमरे वर्गाकार तथा आयताकार होते थे ।

6.5.2 बर्तन (Utensils)

उत्तरी काले पॉलिश किए मृद्भाण्डों की मुख्य विशेषता इसका चमकदार उपरी भाग है । चाक पर बनाए गए इन बर्तनों के लिए मिट्टी अच्छी तरह गूंथ कर तैयार की गयी है । कुछ बर्तनों का तल 1.5 मिलीमीटर तक पतला है ं चमकदार काले ऊपरी भाग के अतिरिक्त, उत्तरी काले पॉलिश किए मृद्भाण्ड सुनहरे, रूपहले, सफेद, गुलाबी, इस्पाती नीले, चाकलेटी तथा भूरे रंग में भी पाए गए है । इन मृद्भाण्डों तथा साथ–साथ अनय बर्तनों की उपलब्धता से संकेत मिलता है कि उत्तरी काले पॉलिश किए मृद्भाण्ड बहुत कीमती होते थे और सभी के पास नहीं होते थें । यह इस तथ्य की ओर इशारा करता है कि इस काल में समाज असमान वर्गो में विभाजित था । यद्यपि उत्तरी काले मृद्भाण्ड सामान्यतः रंगे नहीं जाते थे लेकिन कुछ चित्रित मृद्भाण्ज्ञों के टुकड़े भी मिले हैं । मृद्भाण्ड पीले तथा हल्के सिंदूरी रंग से चित्रित किए जाते थे । इनकी सामान्य डिजाइनों में सादी पट्टियाँ, लहरदार रेखाएँ, बिंदियाँ, संकेद्री गोले,प्रतिच्छेदी गोले, अर्धवृत्त, चाप तथा फंदों की आकृतियाँ पाई गयी हैं । सबसे सामान्य बत्रन की किस्म प्याले तथा विभिन्न प्रकार की तश्तरियाँ हैं ।

6.5.3 अन्य वस्तुएँ (Other Items)

उत्तरी पॉलिश किए मृद्भाण्ड्रों के क्षेत्रों से ताम्र, लोहे, सोने, चांदी, पत्थर, कांच तथा हड्डी के बने विभिन्न प्रकार के औजार, हथियार, गहने तथा अन्य वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं । इन उपलब्धियों से इस काल की तकनीकी प्रगति की ओर संकेत मिलता है । बौद्ध साहित्य, जो कि कई प्रकार की कलाओं और शिल्पों का उल्लेख करता है, से इस तथ्य की ओर भी पुष्टि हो जाती है । जातक कथाओं में लकड़ी, धातु, पत्थर, बहुमूल्य तथा अर्धबहुमूल्य पत्थर, हाथी दांत, कपड़े आदि के कामगारों के लगभग 18 समूहों का उल्लेख मिलता है ।

कई क्षेत्रों से प्राप्त ताम्र वस्तुओं में छेनियाँ, चाकू, बेधक, पिनें, सुइयाँ, सुरमें की सलाइयां, काटने का औजार, जोड़ चूड़ी, चरखियाँ तथा चूड़ियाँ मुख्य हैं ।

लोहे की वस्तुओं की न केवल इस संस्कृति में प्रधानता है बल्कि रंगे घूसर मृद्भाण्ड युग की तुलना में इनमें काफी विविधता भी है । केवल कौशाम्बी से ही 800 ईसा पूर्व से 550 ईसवीं के बीच की 1.115 लोहे की वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं । इन वस्तुओं में मुख्य हैं –

क) खेती के उपकरण जैसे : कुदालें और हंसिया, तथा शिल्पकारों के औजारों जैसे कुल्हाड़ियां, बसूला, छेनियां तथा पेच दंड ।

ख) हथियार जैसे : तीर के फल, बरछे व भाले के फल ।

ग) अन्य वस्तुएँ जैसे : चाकू, विभिन्न प्रकार के दस्ते, कांटे, कीलें, रिपिट, जोड़ पट्टी, अंगूठियाँ तथा छोटी घंटियाँ ।

6.5.4 गहने (Ornaments)

अर्ध बहुमूल्य पत्थरों, कांच, चिकनी मिट्टी, ताम्र पत्तियों तथा हड्डियों की मालाएं सबसे अधिक सामान्य थीं । इनकी आकृति सामान्यतः वृत्ताकार, गोलाकार, द्विकोणीय, बेलनाकार, ढोलाकार तथा चौकोर होती थी । कुछ मालाएं निक्षारित भी हैं । कौशाम्बी से एकमात्र सोने की माला प्राप्त हुई हैं ।

अन्य गहनों में पक्की मिट्टी, रंगीन चमकाई मिट्टी, कांच, सीप, पत्थर एवं ताम्र की चूडियाँ थीं । ताम्र, लोहे, सींग, तथा भूरी मिट्टी की अंगूठियाँ, चिकनी मिट्टी, अकीक तथा इन्द्रगोप के झुमके भी पाए गए हैं । इन सभी वस्तुओं से हमें निम्नलिखित जानकारी मिलती हैं – समाज में गहनों का इस्तेमाल, गहने बनाने वाले विशेषज्ञ शिल्पकारों का मौजूद होना, गहने बनाने की तकनीक की जानकारी के स्तर, तथा विभिन्न अर्धबहुमूल्य पत्थरों की उपलब्धता के लिए अन्य क्षेत्रों के साथ व्यापार अथवा विनियम गतिविधियाँ ।

6.5.5 मिट्टी की मूतियाँ (Earthen Idols)

मिट्टी की मूर्तियों में मानवीय तथा पशुओं की मूतियाँ तथा अन्य वस्तुएँ शामिल है । मानवीय मूतियाँ अधिकतर ढ़ाल कर बनाई गयी हैं । पुरूषों की मूर्तियाँ, कुछ को छोड़कर जिनके सिरों पर पहनावा हैं, सामान्यतः सादी है । महिलाओं की मूर्तियाँ सर के पहनावों, कान के गहनों, हार, कमर के लटकों से सुसज्जित हैं ।

पशुओं की मूर्तियाँ यद्यपि हाथ से गएी गयी हैं लेकिन उनकी बनावट काफी अच्छी है । इनमें घोड़े, बैल, मेढ़े तथा हाथियों की मूर्तियाँ हैं ।

मिट्टी की अन्य वस्तुएं खिलोनों की गाड़ियाँ, साधारण तथा पशुओं के सर वाले खिलौने, डिस्क, गेंद तथा कुम्हार की मुहरें है । इसी संस्कृति के अगले चरण में मुहरें जिनपर ब्रह्मी लिपि में लिखावट मौजूद है, भी पायी गई है । इन तथ्यों से इन क्षेत्रों के निवासियों के संबंध में काफी जानकारी मिलती हैं ।

बोध प्रश्न

1. गेरूए चित्रित बर्तनों की संस्कृति की मुख्य विशेषताओं को लिखें ।
2. महापाषाण युगीन संस्कृति से आप क्या समझते हैं ? उल्लेख करें ।
3. उत्तरी काले पॉलिश वाले मृद्भाण्ड संस्कृति के प्रमुख क्षेत्रों का उल्लेख करें ।

* * * * *

अध्याय- 7

भारत का स्वरूप : ई. पूर्व छठी शताब्दी

(Structure of India : Sixth Century BC)

7.0 उद्देश्य (Aims)

7.1 प्रस्तावना (Introduction)

7.2 जनपद और महाजनपद

नए समूहों का उदय (Origin of New Groups)

7.3 नगरीय केन्द्रों का उदय (Origin of City Centres)

7.3.1 नगर केन्द्र की पृष्ठभूमि (Background of City Centre)

7.3.2 पुरातात्विक साक्ष्यों के अनुसार नगर (City as per Archeological Evidences)

7.4 समाज और अर्थ–व्यवस्था (Society and Economy)

7.4.1 समाज (Society)

7.4.2 ब्राह्मण (Brahmin)

7.4.3 क्षत्रिय (Warrior/Rajput)

7.4.4 वैश्य और गहपति (Trade and Money lender)

7.4.5 शूद्र (Sweeper)

7.5 अर्थ–व्यवस्था (Economy)

7.5.1 ग्रामीण अर्थ व्यवस्था (Rural Economy)

7.5.2 शहरी अर्थ व्यवस्था (Urban Economy)

बोध प्रश्न

7.0 उद्देश्य (Aims)

इस इकाई को पढ़ने के बाद यह जान पाएगें कि –

- प्राचीन भारत में जनपद और महा जनपद का आरंभ कैसे हुआ ?
- प्रारंभिक बस्तियों का प्रकार कैसा था ?
- भारतों में नगरों का उदय किस परिस्थितियों में हुआ एवं कौन–कौन से प्राचीन भारतीय नगर केन्द्र थे ।
- छठी सदी ई0 पू0 के सामाजिक एवं अर्थव्यवस्था से अवगत हो सकेंगे ।

7.1 प्रस्तावना (Introduction)

छठी शताब्दी ई0 पू0 से प्रारंभ होने वाले काल में भारतवर्ष में दूसरी बार नगरों का उदय हुआ । यह नगरीकरण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण था कि काफी लम्बे समय तक यह नगरीय व्यवस्था रही और इसी काल में साहित्य की लेखन परम्पराओं का प्रारंभ हुआ । जैन तथा हिन्दू धर्म के कई मतों में इस परम्परा का समावेश हुआ है तथा उपरोक्त धार्मिक वर्गो के लोग इस काल से अपने धर्मो की स्थापना का काल मानते हैं ।

सिन्धु घाटी के नगरों की समापित के पश्चात् खेतीहर और घूम्मकड़ समुदाय भारत के मैदानों में बस गए । साधारण घरों वाली छोटी ग्रामीण बस्तियाँ हर तरफ देखी जा सकती थी । यह सब राजाओं ओर व्यापारियों के प्रभुत्व और बाजार स्थलों के कोलाहल एव कलकल से मुक्त थीं ।

ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक काल में कृषि अर्थव्यवस्था के ठोस आधार ग्रहण करने के साथ–साथ नये भौगोलिक क्षेत्र अर्थात् ऊपरी और मध्य गंगा घाटी क्षेत्र की ओर वैदिक कालीन संस्कृति का फैलाव हौ गया था । दूसरे, समाज में शासकों और एक ऐसे वर्ग का उदय होना था जो स्वयं किसी प्रकार का उत्पादन नहीं करता था, बल्कि समाज के अन्य वर्गो द्वारा किए गए उत्पादन का उपभोग करता था । समाज में असमानता को संस्थागत रूप दे दिया गया । संस्थागत असमानता का तात्पर्य राज्य और उसकी व्यवस्था की स्थापना होना था । इसी के साथ समाज को चार वर्णो में विभाजित करने वाले सिद्धान्त का और अधिक कड़ा होना था क्योंकि वर्ण सिद्धान्त ये यह स्पष्ट किया कि समाज के विभिन्न वर्ग किस प्रकार अपने कर्तव्यों को पूरा कर सकते है ।

भारतीय इतिहास में छठी शताब्दी ई0पू0 का बड़ा महत्व है क्योंकि यह काल नये धर्मो के विकास से सम्बद्ध है । हम पाते हैं कि इस काल में ब्राह्मणों के अनुष्ठानिक रूढ़िवादी विचारों का विरोध बढ़ गया था । फलतः बहुत सारे अनीश्वरवादी धार्मिक आन्दोलनों का उद्भव हुआ । इनमें से बौद्ध मत एवं जैन मत संगठित तथा लोकप्रिय धर्मो के रूप मे ंविकसित हुए ।

बुद्ध तथा महावीर ने किस प्रकार से मानव के दुःख का समाधान खोजने के लिए अपने तरीके से प्रयास किए । दोनों धर्मो के उद्भव के कारणों में समानता है, वही पर दोनों धर्मो के कुछ सिद्धान्त भी समान हैं । परन्तु कुछ मूल सिद्धानें में भिन्नता भी है ।

अन्त में इस तथ्य का विवेचन किया गया है कि इन नये धार्मिक आन्दोलनों का तात्कालिक आर्थिक–सामाजिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा ।

7.2 जनपद और महाजनपद

समकालीन ग्रंथों से सुव्यवस्थित भौगोलिक क्षेत्रों में समाज तथा अर्थव्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों की ओर संकेत मिलता है । इस समय के साहित्य में बस्तियों की विभिन्न इकाइयों का उल्लेख मिलता है । इनमें महाजनपद, जनपद, नगर, निगम, ग्राम आदि मुख्य है ।

जनपद, जिसका शाब्दिक अर्थ है ''जहाँ लोग अपने पैर रखते हैं ।'' इस यग के ग्रेथों में अक्सर उल्लेखित है । वैदिक समाज में इसका अर्थ होता है ''एक कुल के सदस्य ।'' आरंभिक वैदिक समाज में जन के सदस्य पशु–पालक समूह होते थे जो कि चारागाहों की तलाश में विचरण किया करते थे । लेकिन उत्तरकालीन वैदिक चरण में जन सदस्यों ने खेती आरंभ किया और स्थायी रूप से बसने लगे । यह खेतिहर बस्तियां जनपद कहलाती थीं । उदाहरण के लिए दिल्ली एवं ऊपरी उत्तरप्रदेश कुरू एवं पांचाल जनपद कहे जाते थे, जो प्रभुत्ववान क्षत्रिय वंशों के नाम थे । उनके एक स्थान पर बस जाने पर खेती का विस्तार, विशेषकर लोहे की कुल्हाड़ियों एवं हल के फलों के इस्तेमाल द्वारा आरंभ हो जाता था । इन लोहे के औजरों से पूर्व–शताब्दियों के किसानों के ताम्र एवं पत्थर की कुल्हाड़ियों की अपेक्षा अब अधिक सुविधा से जंगलों की सफाई की जा सकती थी तथा खुदाई अधिक गहरी हो सकती थी । मध्य गांगेय घाटी, जो कि

इलाहाबाद के पूर्व की ओर का क्षेत्र है, धान की फसल के लिए उपयुक्त थी । इन ग्रंथों में चावललों की किस्मों पर उतने ही विस्तार से व्याख्या की गई है, जितने विस्तार से वैदिक ग्रंथों में गाय की किस्मों पर की गई है ।

नई राजनैतिक–भौगोलिक इकाइयां, जिनमें गहपति, व्यापारी तथा शासक एवं शासित के बीच संबंध के नए प्रतिमान दिखाई पड़े, महाजनपद कहलाए । महाजनपद का तात्पर्य मगध, कौशल आदि ऐसे विशाल जनपदों से था जिनपर शक्तिशाली राजा अथवा अभिजात वर्ग राज करते थे । दरअसल छठी शताब्दी ईसा पूर्व में कई महाजनपद पूर्व काल में स्वायत्त जनपदों को मिलाकर बने । जैसे, कौशल महाजनपद में साक्य, काशी तथा मगध महाजनपद में इसके साम्राज्य बनने से भी पहले अंग, वाजी आदि जनपद शामिल हो चुके थे । समकालीन बौद्ध ग्रंथों में इए समाज का प्रतिबिंबन जीवन कथाओं में देखा जा सकता है ।

7.2.1 नए समूहों का उदय (Origin of New Groups)

गहपति (Money Lender) – गहपत भू–सम्पन्न पारिवारिक इकाई का मालिक होता था । कहा जाता है कि एक ब्राह्मण गहपति के पास इतनी जमीन थी कि उसे जमीन की जुलाइ के लिए पाँच सौ हलों की आवश्यकता होती थी । उत्तर वैदिक समाज में ''विस'' खेतिहर गतिविधियाँ सम्पन्न करता था । भूमि कुल की सामूहिक सम्पत्ति होती थी । खेतिहर समाज के उदय के साथ जमीन सम्पत्ति का महत्वपूर्ण हिस्सा बन गई । क्षत्रिय एवं ब्राह्मणें के शासक कुलो ने इसे अपने नियंत्रण में कर लिया । इन समूहों से गहपति का उदय हुआ जो सामूहित मिलकियत के बिखराव और बड़े व्रूक्तिगत भू–स्वामी के उदय का प्रतीक था । गहपति अपनी जमीन पर फसल उगाने का काम दास, कर्मकार तथा शूद्रों द्वारा करवाते थे । युद्ध के दौरान बंदी बनाए गए लोग दास बना लिये जाते थे ।

व्यापारी (Traders)– एक महत्वपूर्ण व्यापारी वर्ग का उदय संभवतः गहपति वर्ग से ही हुआ । उत्पादनों को बेचकर इन्होंने धन इकट्ठा कर लिया, जिसे व्यापार के लिए इस्तेमाल किया गया । बौद्ध स्रोतों में व्यापारियों के लिए एक शब्द, जिसका बार–बार प्रयोग किया गया है, वह ''सेठी'' है जिसका अर्थ ''जिसके पास सर्वोत्तम हो'' है । इससे यह सिद्ध होता है कि धन का लेनदेन करने वाले व्यक्तियों को समाज में काफी प्रतिष्ठा एवं शक्ति प्राप्त हो गई थी । ब्राह्मणों के ग्रंथों में सामान्यतः व्यापारियों एवं वैश्यों, जो कि व्यापारी वर्ग था, को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है । इस प्रकार छठी शताब्दी तक किसानों एवं व्यापारियों का एक मुक्त वर्ग अस्तित्व में आ गया था । इन्होंने पूर्व स्थिति के विपरीत, स्वयं को कुल के अन्य सदस्यों के साथ अधिशेष खाद्य अथवा धन बांटे जाने की बाध्यता से मुक्त कर लिया । इस काल में खेती में प्रयुक्त होने वाले मवेशियों, भूमि तथा उसके उत्पादन के रूप में निजी सम्पत्ति एक शक्तिशाली आर्थिक वास्तविकता बन गई ।

शासक और शासित (Ruler and Ruled)– सामाजिक–आर्थिक क्षेत्र में विकास के साथ–साथ महाजनपदों के राजनैतिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुए । पूर्व काल में राजा शब्द का प्रयोग कुल के मुखिया के लिए होता था । इसके विपरीत, छठी शताब्दी ईसा पूर्व के स्रोतों में राजाओं का उल्लेख राजा के विशिष्ट क्षेत्र में शासन करने, नियमित कर वसूली की व्यवस्था तथा सेना होने के साथ होता है । किसानों जो राजा को कर देते थे तथा एक सेना का उल्लेख भी मिलता है । अब किसान तथा सेना किसी भी रूप में राजा के संगोत्र नहीं होते थे । अब राजा तथा प्रजा के बीच भिन्नता स्पष्ट हो चुकी थी । प्रजा में गैर–वंशी समूह भी होते थे । सेना के मौजूद होने का अर्थ स्थानीय किसानों पर बलपूर्वक नियंत्रण तथा पड़ोसी राजाओं एवं जनता से निरंतर झगड़े होते रहना था । पूर्वकालीन मवेशियों के लिए छापामारी के स्थान पर अब संगठित धावे बोलकर क्षेत्रों को हड़प लेना तथा किसानों एवं व्यापारियों से बलपूर्वक कर वसूल करना आरंभ हो चुका था । कर वसूली के लिए नियुक्त कर्मचारियों का उल्लेख बार–बार मिलता है । खेतिहार उत्पादन से भाग वसूली के लिए भगदुध नाम से एक होने का उल्लेख मिलता है । जातकों में राजा के अनाज गोदाम में भेजने के लिए राजर्मियों द्वारा अनाज तौलने का उल्लेख मॉजूद हैं । अधिकतर स्थानों पर महाजनपदों का नामकरण क्षत्रिय कुल के नाम के आधार पर नहीं होता था । जैसे, कौशल, मगध, आवंती तथा वत्स किसी क्षत्रीय वंश के नाम पर आधारित नहीं है । सेना का वेतन किसानों से वसूले गए राजस्व द्वारा दिया जाता था । जनजातियां सुदूर क्षेत्र में युद्ध नहीं कर सकती थी तथा सेना की आवश्यकता हेतु नियमित कर देना उनके लिए मान्य न होता । राजा के लिए गौरव तथा शक्ति की दृष्टि से यह सबकुछ आवश्यक था । राजा की शक्ति जनजाति के अपने साथियों के बीच धन के बंटवारे पर आधारित नहीं थी । अब

राजा की शक्ति संबद्ध वंश समूहों को तोड़ने तथा धनोत्पादन में सक्षम व्यक्तियों एवं समूहों को मान्यता देने पर आधारित थी । इस प्रकार मुखिया द्वारा मनमाने ढंग से धन ले लेना स्वीकार न किया जाता । मुखिया के स्थान पर आसीन राजा किसानों एवं व्यापारियों से कर वसूल करता था तथा उन्हें आंतरिक एवं बाह्य हमलों के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करता था ।

7.3 नगरीय केन्द्रों का उदय (Origin of City Centres)

7.3.1 नगर केन्द्र की पृष्ठभूमि (Background of City Centre)

नगर केन्द्र को पारिभाषित करने का प्रयास बहुत से विद्वानों ने किया है । वैसे तो किसी नगर केन्द्र को परिभाषित करना काफी सरल कार्य लगता है । लेकिन जब हम यह कार्य शुरू करते है तो यह प्रश्न काफी जटिल हो जाता है । इसी प्रकार कुछ विद्वानों का तर्क है कि नगर केन्द्रों का आकार गांवों से बड़ा होता है । फिर भी, नगरों के आकार स्तर को निश्चित करना कठिन है । हम जानते हैं कि आधुनिक गांवों का आकार हड़प्पाकालीन कालीबंगन जैसे नगरों से काफी अधिक है । इस प्रकार, लोगों की संख्या या बस्ती के आकार को नगर या गांव केन्द्र को परिभाषित करने के लिए विश्वसनीय आधार नहीं माना जा सकता है । इसलिए उन कार्यो की विशेषताओं की पहचान करना महत्वपूर्ण है जिनको वे पूरा कर रहे है । दूसरी ओर, नगरों में शासनकर्त्ताओं या पुजारियों या व्यापारियों की प्रधानता होती है । यह संभव है कि नगर में भी बहुत से लोग कृषि से संबंधित कार्यो में संलग्न हो । परन्तु नगर को पारिभाषित करने के लिए कृषि के अतिरिक्त गतिविधियों का होना आवश्यक है ।

उदाहरणस्वरूप बनारस जो भारत के जीवित प्राचीनतम नगरों में से एक है अपनी अच्छी किस्म का चावल उत्पादन करने के कारण नहीं अपितु एक बहुत महत्वपूर्ण तीर्थ केन्द्र होने के कारण प्रसिद्ध है । यह सम्पूर्ण भारत के तीर्थ यात्रियों को आकर्षित करता था । ये तीर्थ यात्री मन्दिर में देवी–देवताओं पर विभिन्न प्रकार के उपहार चढ़ाते थे । इस तरह से जो लोग मंदिरों के स्वामी थे वे सारे देश से आने वाले तीर्थ यात्रियों के संसाधनों को प्राप्त करने में सक्षम थे । इस कार्य को वस्तु कर या नजराना वसूल करे किया जा सकता है । नगर में रहने वाला व्यापारी धातुओं, खनिजों और विलासिता की वस्तुओं की आपूर्ति को नियंत्रित करके ग्रामीण क्षेत्रों के संसाधनों के एक हिस्से को हड़प करने में सक्षम है । इसका तात्पर्य यह है कि शहरो में रहने वाले राजाओं, पुजारियों तथा व्यापारी वर्गो के पास साधारण आदमी की तुलना में अकि धन है । ये वर्ग अपने धन का उपयोग अधिक धन, सम्मान एवं ताकत प्राप्त करने में करते हैं ।

राजाओं, पुजारियों और व्यापारियों तथा किसानों के अलावा नगरों में दस्तकार और कारीगर भी रहते हैं जो नगर के लिए विलासिता की चीजों एवं शहर से बाहर के लोगों के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं । इन कारीगरों को शहर के सम्पन्न लोगों की भांति विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते । इस प्रकार की विभिन्न सामाजिक–आर्थिक गतिविधियों के कारण उन लोगों में उचित तालमेल करने में कठिनाई होती है जो लोग इन गतिविधिों में व्यस्त है ।

7.3.2 पुरातात्विक साक्ष्यों के अनुसार नगर (City as per Archeological Evidences)

हमें जो साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध हैं उनमें आगामी शताब्दियों में बहुत से परिवर्तन हुए और उनमें कुछ न कुछ जोड़ा गया । हमें जो लिखित ग्रंथ उपलब्ध हैं वे एक हजार वर्ष से भी कम पुराने हैं । इसलिए इन ग्रंथों में से प्रारंभिक काल के इतिहास के विवरण को बाद के काल के विरण को अलग करना कठिन है ।

700 ई पू0 के लगभग, अयोध्या, कोशाम्बी और श्रावस्ती जैसी छोटी बस्तियां अस्तित्व में आई । इन बस्तियों में रहने वाले लोग विभिन्न प्रकार की मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग करते थे । छठी शताब्दी ई पू0 के आसपास इस सारे क्षेत्र के निवासी इस शैली के मृद्भांडों के साथ–साथ एक विशेष प्रकार के चमकदार परत वाले मृद्भांडों का उपयोग करते लगे । इस प्रकार के मृद्भांड को उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भांड कहते है । यह उच्च किस्म के मृद्भाण्ड इस बात का प्रमाण है कि छठी शताब्दी ई0पू0 में गंगा घाटी के नगरों नगरों में व्यापक सांस्कृतिक समरूपता थी । शायद इन मृद्भांडों का कुछ ही स्थलों पर निर्माण होता था और दूसरे स्थलों को इसका व्यापारियों के द्वारा निर्यात किया जाता था । पुरातात्विक स्थलों पर जो दूसरी वस्तु प्रकट होनी प्रारंभ होती है वह इस काल के सिक्के है । इन पर एक ओर विभिन्न प्रकार के प्रतीकों को बनाया गया है । प्रारंभ में इन सिक्कों को संभवतः व्यापारियों ने जारी किया । सिक्कों की प्रणाली के लागू हो जाने के कारण संगठित व्यापार को बढ़ावा मिला ।

इस समय की बड़ी बस्तियां में घर बनाने के लिए पक्की ईंटों का प्रयोग होने लगा था । घरों से निकले गंदे पानी के लिए गढ़े बनाये जाते थे, जिनमें पकी मिट्टी के बड़े पात्र रखे जाते थे । यह एक नियोजित तरीके की ओर संकेत करते है । इससे पहले काल में लोग कच्ची ईंटों से निर्मित झोपड़ियों में रहते थे । बड़े आकार की बस्तियों के भी प्रमाण प्राप्त हुए है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि आबादी का घनत्व बढ़ रहा था । कुछ स्थानों से नाली तथा मल स्थलों के भी प्रमाण मिले हैं ।

उत्खनन से जो सामग्री मिली है उससे स्पष्ट है कि इस काल क लिए साहित्य में नगरों से संबंधित जो विवरण है उसको काफी बढ़ा–चढ़ाकर दिया गया है या फिर वह बाद के समय के नगरों के लिए है । तक्षशिला शहर के विशाल स्तर पर किए गए उत्खनन से स्पष्ट होता है कि इस नगर को शायद आठवीं–सातवीं शताब्दी ई0पू0 में बसाया गया था । योजनाबद्ध नगर बसाने का काम दूसरी शताब्दी ई0 पू0 में अस्तित्व में आया । कोशाम्बी के महल की संरचना के अतिरिक्त छठी शताब्दी ई0 पू0 के अन्य किसी भी महल की संरचना का विवरण नहीं मिलता । अधिकतर घर सामान्य झोपड़ियों की भाँति थे । इस काल का कोई भी ऐतिहासिक भवन नहीं मिलता है । प्रारंभिक काल के अनेक नगरों जैसे कि उज्जैन, कोशाम्बी, राजगृह आदि की किलेबंदी की गई थी । ऐसा लगता है कि युद्ध के भय से किलेबंदी की जाती थी । नगरों की किलेबंदी से यह भी लगता है कि इसके द्वारा नगरीय जनता का आबादी के शेष भाग से स्पष्ट विभाजन हो जाता था । इससे जनता पर राजा सरलता के साथ नियंत्रण कर सकता था । इसके द्वारा साहित्य में वर्णित उस तथ्य की भी पुष्टि होती है जिसमें पुर का तात्पर्य बस्ती की किलेबंदी से था और जो प्राचीन भारत में प्रारंभिक नगरीय बस्तियों के रूप थे ।

7.4 समाज और अर्थव्यवस्था (Society and Economy)

7.4.1 समाज (Society)

छठी शताब्दी ई0 पू0 का समाज एक ऐसा समाज था जो अति–महत्वपूर्ण परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था । समाज में प्रचारकों, राजकुमार और व्यापारी हमारा ध्यान आकर्षित करते थें । यह वह काल था जबकि ऐतिहासिक भारत में पथम बार नगर अस्तित्व में आते हैं । यह वह समय भी था जब पढ़ाई–लिखाई की परम्परा का प्रारंभ हुआ । इस काल के अंत में समाज में लेखक की कला को जान लिया गया था । प्राचीन भारत की प्रारंभिक लिपि को ब्राह्मणी लिपि कहा जाता था । लिखने की जानकारी ने बड़े स्तर पर ज्ञान का विस्तार किया । इससे पहले समाज में ग्रहण किए गए ज्ञान को कंठस्थ कराके एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया जाता था । जिसमें यह संभावना बनी रहती थी कि कुछ समय बाद कुछ तथ्यों को भुला दिया जाएगा या परिवर्तित कर दिया जाएगा । लिखाई की कला की जानकारी प्राप्त हो जाने का तात्पर्य था कि ज्ञान को बिना तोड़–मरोड़े संग्रहित किया जा सकता था ।

7.4.2 ब्राह्मण (Brahmin)

समकालीन साहित्य में ब्राह्मणों के विषय में जो संदर्भ मिलते हैं उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे एक जाति समूह के रूप में थे । जो कोई ब्राह्मण परिवार में जन्म लेता, वह सदैव ब्राह्ण ही रहता था । वह अपना व्यापार परिवर्तित कर सकता था । परन्तु वह सदैव ब्राह्मण ही रहता । ब्राह्मणिक ग्रंथों में उनको विशेषाधिकार दिया गया है कि वे ईश्वर व आदमी के बीच मध्यस्थता का काम करते हैं । बलि यज्ञों को सम्पूर्ण करने के लिए पूर्ण अधिकार उनके पास थे । यह गुट इस चेतना से ग्रस्त था कि वे ही सर्वश्रेष्ठ जाति के थे । वे ऐसे नियमों का पालन करते थे, जिससे कि अपवित्र भोजन एवं निवास स्थान से बचा जा सके । तत्कालीन ब्राह्मण ग्रंथ शत्पथ ब्राह्मण में ब्राह्मणों के चार लक्षणों का उल्लेख है । ब्राह्मण कुल, उचित आचरण और व्यवहार, प्रसिद्धि की प्राप्ति और मनुष्य को शिक्षित करना । ऐसा होने के कारण वे कुछ विशेषाधिकारों का उपभोग करते थे । उनका सम्मान किया जाता था, उनको भेंट दी जाती थी और उन्हें मृत्युदण्ड नहीं दिया जा सकता था । बहुत से ब्राह्मणों ने सन्यासी एवं शिक्षक का जीवन व्यतीत किया । बौद्ध ग्रंथ सामान्यतः ब्राह्मण वर्ग के आलोचक हैं । इन्होंने इस कारण भी उनकी आलोचना की कि वे धार्मिक नैतिक जीवन से विमुख हो गए थे । उन्होंने आडम्बरपूर्ण अनुष्ठानों तथा ब्राह्मणों के लालचीपन की भी आलोचना की ।

7.4.3 क्षत्रीय (Warrior/Rajput)

तत्कालीन साहित्य में क्षत्रीय लोग समाज के सबसे अधिक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली वर्ग के रूप में प्रकट होते

दिखाई पड़ते है । बुद्ध और महावीर समाज के इसी समूह से संबंधित थे । ब्राह्मणिक ग्रंथों में क्षत्रियों की समानता योद्धा जाति के साथ की गई है । वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत क्षत्रियों का दूसरे स्तर की जाति के रूप में स्थान है । उनको समाज का शासक वर्ग माना जाता था । किन्तु, बौद्ध साहित्य में क्षत्रियों का दूसरा ही चित्र प्रस्तुत किया गया है । उनके विवाह के नियम दृढ़ एवं कठोर नहीं थे, जो किसी जाति की एक विशेषता होती है । उनकी भूमि पर खेती का कार्य गुलामों एवं मजदूरों द्वारा किया जाता था जिनको दास तथा कर्मकार कहा जाता था । ऐसा लगता है कि वे ब्राह्मणिक अनुष्ठानों को भी नहीं करते थे । बौद्ध साहित्य में गण संघ के केवल दो सामाजिक समूहों के विषय में ही लिखा गया है और वे उच्च जाति एवं छोटी जाति हैं ।

कौशल, काशी आदि के राजाओं का कई स्रोतों में क्षत्रिय के रूप में विवरण आता है । ब्राह्मणिक ग्रंथों से भिन्न बौद्ध साहित्यिक ग्रंथ चार वर्णीय जातीय संरचना में क्षत्रियों को प्रथम स्तर पर रखते हैं । एक प्रवचन मे बुद्ध कहते हैं – ''अगर क्षत्रिय सबसे निम्न स्तर तक पतित हो जाता है, वह तब भी सबसे अच्छा है और उसकी तुलना में ब्राह्मण भिन्न है ।'' कुछ क्षत्रियों को विद्वान अध्यापकों एवं विचारकों की श्रेणी में रखा गया है इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि क्षत्रियों के विषय में ब्राह्मणों की योद्धा जाति की अवधार णा को केवल ऊपरी व मध्य गंगा घाटी के कुछ राजतंत्र परिवारों के विषय में लागू किया जा सकता था । वे विभिन्न प्रकार के कार्यो को करते थे, जैसे कि धर्म प्रचारक का कार्य, व्यापार एवं खेती की देख–भाल करने का कार्य आदि । विशेषकर पूर्वी भारत में क्षत्रियों का अस्तित्व जाति के रूप में नहीं था । बल्कि वहां पर विभिन्न सामाजिक समूह स्वयं को क्षत्रिय कहते थे ।

7.4.4 वैश्य और गहपति (Trader and Moneylender)

ब्राह्मणिक वर्ण व्यवस्था में वैश्य अनुष्ठानिक क्रम में तीसरे स्थान की जाति थे । उनका मुख्य कार्य पशुओं को पालना, कृषि करना तथा व्यापार करना था । दूसरी ओर, बौद्ध साहित्य में गहपति शब्द का प्रयोग प्रचुरता के साथ किया गया है । गहपति का शब्दिक अर्थ है कि घर का स्वामी । यह समुदाय भूमि का स्वामी था और ये परिवार श्रम, दासों और नौकरों के श्रम से अपनी भूमि पर खेती करते थे । ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी उत्पत्ति वैदिक साहित्य में वर्णित राजनय और विषय गुटों से हुई थी । उनकी उत्पत्ति सम्पत्ति पर परिवार एवं व्यक्तिगत स्वामित्व के उद्‌भव की ओर संकेत करती है । इससे पहले के काल में सम्पत्ति पर सम्पूर्ण कबीले का संयुक्त स्वामित्व था । परन्तु ब्राह्मणिक ग्रंथों में जिस प्रकार से वैश्य जाति का चित्रण किया गया है, उस रूप में यह जाति कभी भी विद्यमान नहीं थी । इसकी अपेक्षा बहुत से समूह जातियों के रूप में बन गए ।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि गहपति भू–स्वामियों के एक मुख्य वर्ग के रूप में थे, विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि यह गण संघों से बहुत कम मिलते थे क्योंकि वहाँ पर भूमि का स्वामित्व क्षत्रिय वंशावलियों के पास था । गृहपतियों में वे धनी लोग भी सम्मिलित थे जो बढ़ईगिरी, दवाई आदि के व्यवसायों से जुड़ थे । पाली ग्रंथों में एक–दूसरे शब्द कुटुम्बिका का प्रयोग परिवार के स्वामी के पर्यायवाची शब्द के रूप में किया गया है । उनको धनी भू–स्वामी, साहूकार या अनाज का व्यापार करते हुए दिखाया गया है ।

यह धनी भू–स्वामियों का ही वर्ग था जिससे कि कुछ धनी व्यापारियों का विकास हुआ । गहपतियों का विवरण व्यापारिक नगरों में भी किया गया है । सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व और ब्राह्मणवाद के कमजोर प्रभाव के कारण गहपतियों ने अपनी सम्पत्ति का उपभोग व्यापार में किया । पश्चिमी गंगा घाटी में इस सम्पत्ति का उपयोग बलि यज्ञों के लिए किया जाता होगा । बनारस के एक सेवी का विवरण मिलता है जो व्यापार करता था और उसके पास 500 गाड़ियों का काफिला था । सिक्कों के प्रचलन कके साथ उनका साहूकारी का पेशा जोर–शोर से चला । समकालीन साहित्य में शातामना, कृर्पणा आदि नाम के सिक्कों का विवरण मिलता है । पुरातात्विक खुदाई से पता चलता है कि उस समय सिक्के प्रचलन में आ चुके थे । दूर–दराज के क्षेत्रों के साथ व्यापार के भी विवरण मिलते हैं ।

बड़े व्यापारियों और भू–स्वामियों के अतिरिक्त छोटे व्यापारियों का भी विवरण मिलता है । । इनमें फुटकर दुकानदार, व्यापारी, फेरी करके बर्तन बेचने वाले, बढ़ई, हाथी दांत की वस्तुएं बनाने वाले, माला बनाने वाले और धातु का काम करने वाले आदि शामिल है । इन लोगों ने अपने व्यावसायिक संघ बना लिए थे । परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त कोई और वह व्यवसाय नहीं कर सकता था । कार्यो का यह स्थानीय विभाजन और व्यवसायों की निश्चित परिवार में

सीमित रहने की परम्परा ने इन्हे व्यावसायिक श्रेणियों या शिल्पी संघों का रूप दिया । यह समूह एक जाति की ही भांति थे । समूहों के अन्दर ही विवाह संबंध किए जाते थे । समूह के नियम भी नहीं बदले जा सकते थे ।

7.4.5 शूद्र (Sweeper)

ब्राह्मणिक व्यवस्था में शुद्र सबसे निम्न स्तर पर समझे जाते थे । अन्य तीनों वर्णो की सेवा करना ही उनका कर्तव्य था । ब्राह्मणिक ग्रंथों के अलावा अन्य ग्रंथ बहुत से ऐसे गरीब और दलित समूहों की चर्चा करते हैं जो शुद्र कहे जाते थे । पाली साहित्य में बहुधा दास और कामगार लोगों का विवरण आता है । दलित शब्द का प्रयोग ऐसे लोगों के लिए होता है जो बहुत गरीब थे और जिनके पास खाने के लिए या तन ढ़ंकने के लिए कुछ नहीं होता था । इस तरह पहली बार विलासिता में रहने वाले धनी और अत्यन्त गरीब, दोनों के बारे मे विवरण मिलता है । समाज के कुछ समूहों का अत्यंत गरीब होना तथा शूद्र वर्ण के अस्तित्व में आने का कारण शायद यह था कि समाज के धनी और शक्तिशाली वर्ग ने भूमि और अन्य संसाधनों पर अधिकार कर लिया था । अधिकतर धर्मसूत्र शूद्रों के विभिन्न समूहों के उदय के लिए संकीर्ण जाति की परिकल्पना को उत्तरदायी मानते है । इस संकल्पना के अनुसार अगर कोई अंतर्जातीय विवाह करेगा तो उसके वंशज निम्न जाति के होंगे ।

समकालीन साहित्य में दासता का काफी विवरण मिलता है । यह ऐसे दास थे, जिनकी कोई वैधता नहीं थी । शूद्र मजदूर अधिकांशतया युद्धबंदी होते थे अथवा ऐसे लोग थे जो ऋण वापस नहीं कर पाते थे । नगरों के अस्तित्व में आने से अमीर और गरीब के बीच की खाई और बढ़ गई ।

उपरोक्त समूहों के अतिरिक्त बुद्ध के काल की सामाजिक श्रेणियों की सूची बहुत लम्बी है । घुम्मकड़ नाचने और गाने वाले, जो एक गाँव से दूसरे गांव घमते फिरते थे, अपनी कला का प्रदर्शन करते थे । इनके अतिरिक्त करबत और हाथ की सफाई दिखाने वाले, मसखरे, हाथी का करबत दिखाने वाले, सूत्रधार, सैनिक, लेखक, धर्नुधारी, शिकारी और नाई आदि कुछ ऐसे सामाजिक समूह हैं जिनके विषय में हमें जानकारी मिलती है । इनको समकालीन जातीय श्रेणियों में रखना कठिन है ।

गरीब शूद्रों के शहर के बाहर निवास करने का विवरण मिलता है । इसका सीधा प्रभाव यह पड़ा कि छुआछूत अस्तित्व में आया । चाण्डाल अलग गांवों में रहते थे । उन्हें अत्यधिक अछूत माना जाता था । यहां कि तक एक सेठ की लड़की को चाण्डाल देखने पर अपनी आंखे धोनी पड़ी । चाण्डाल लोग केवल मरे हुए आदमी के शरीर से उतारे वस्त्र पहन सकते थे और टूटे हुए बर्तनों में खाना खा सकते थे । पुक्कुस, निषाद और वेन इसी प्रकार के अन्य घृणित समूहों में आते थें ।

7.5 अर्थव्यवस्था (Economy)

इसमें देखा गया कि राजतंत्र की स्थापना और समाज में श्रेणीबद्धता, दोनों प्रक्रियाएं पहली सहस्राब्दि ई0 पू0 के मध्य तक काफी महत्वपूर्ण स्थान ले चुकी थी । यह दोनों प्रक्रियाएं, जो आपस में संबंधित थी, इसलिए अस्तित्व में आई क्योंकि नई कृषि व्यवस्था कृषकों को जीवन यापन के साधन प्रदान कर सकी । साथ ही यह समाज के उस वर्ग को भी, जो सीधे कृषि से जुड़ा हुआ नहीं था, यह साधन उपलब्ध करा सकी । छठी–पांचवी शताब्दी ई0 पू0 की आर्थिक दशा पर प्रकाश डालने वाले साहित्यिक और पुरातात्विक स्रोत उस काल के बड़े हुए कृषि उत्पादन को पुष्ट करते हैं ।

7.5.1 ग्रामीण अर्थव्यवस्था (Rural Economy)

शहरों के आसपास की उपजाऊ भूमि की अधिक उपज के कारण व्यवसाय भी विकसित हुए । भरण पोषण पर आधारित अर्थव्यवस्था का बाजार की अर्थव्यवस्था में संक्रमण हो रहा था । सिक्कों के प्रचलन ने इस प्रक्रिया में बहुत योगदान किया । इससे अधिक गतिशीलता तथा व्यवसायों और व्यापार को विकास प्रदान किया तथा एक बड़े क्षेत्र में आर्थिक गतिविधियों को बढ़ाया । इस सबका परिणाम यह हुआ कि एक जटिल ग्रामीण और शहरी अर्थव्यवस्था का विकास हुआ ।

बहुत से समकालीन साहित्यिक स्रोतों से यह जानकारी मिलती है कि बहुत से ग्रामीण केन्द्रों की अर्थव्यवस्था का अपना एक रूप था । विभिन्न ग्रामीण समुदायों के भूमि पर अधिकारों का विवरण मिलता है । पाली साहित्य में तीन प्रकार के गांवों का विवरण मिलता है –

1) ऐसे गांव जिनमें विभिन्न जातियों व समुदायों के लोग रहते थे । इस प्रकार के गांव अधिक थे ।

2) अर्द्ध–शहरी गांव एक प्रकार के व्यावसायिक केन्द्र थे । यह अन्य गांवों के लिए एक बाजार का काम करते थे और शहरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों के बीच सम्पर्क के रूप में कार्य करते थे ।

3) जंगलों की सीमाओं पर स्थित गांव भी थे, जिनमें शिकारी तथा बहेलिये रहते थे । यह बहुत सरल जीवन व्यतीत करते थे ।

धनी जनसंख्या वाले क्षेत्रों के अतिरिक्त जनसंख्या द्वारा नई बस्तियों की स्थापना से ग्रामीण अर्थव्यवस्था विकसित हुई । नष्ट हो रहे गांवों को फिर से बसाने ने भी इस अर्थव्यवस्था का विकास किया । नये स्थानों पर बसने के लिए राज्य द्वारा पशु, बीज, धन और सिंचाई के साधन प्रदान कराये जाते थे । इन लोगों को करों में छूट और अन्य सुविधाएं भी दी जाती थी । अवकाश प्राप्त अधिकारियों और पुरोहितों को भी नये क्षेत्रों में भूमि प्रदान की जाती थी । इन क्षेत्रों की भूमि को बेचना, गिरवी रखना और उत्तराधिकारी में देना मना था । चारागाहों पर सबका समान अधिकार था । इन गांवों की अपनी स्वतंत्र अर्थव्यवस्था थी । ग्रामीण क्षेत्रों का प्रमुख व्यवसाय कृषि था । गांवों की अतिरिक्त शहरों में पहुचती थी तथा शहर आवश्यकता की अन्य वस्तुएं गांवों तक पहुंचाते थे ।

खेती के प्रमुख व्यावसाय होने के साथ–साथ पशु–पालन, खेती से संबंधित छोटे कारीगर, उत्पादन, जंगल और स्थानीय आवश्यकता के लिए पशुओं की आपूर्ति ग्रामीण अर्थव्यवस्था की अन्य विशेषताएँ थीं ।

7.5.2 शहरी अर्थव्यवस्था (Urban Economy)

शहरी अर्थव्यवस्था पर उन व्यापारियों तथा कारीगरों का प्रभाव था जो एक विस्तृत क्षेत्र के लिए वस्तुओं की भारी मात्रा में उत्पादन और विनिमय करते थे । शहरी अर्थव्यवस्था के विकास के लिए निम्न चीजें आवश्यक थीं ।

1) अतिरिक्त अन्न उत्पादन
2) विशिष्ट कारीगर उत्पादन
3) धातु मुद्रा का प्रचलन
4) कानून और व्यवस्था स्थापित करने वाली राजनैतिक व्यवस्था
5) पढ़ा–लिखा सामाजिक वर्ग

बोध प्रश्न

1. छठी शताब्दी ई0 पू0 में उभरने वाले नए समूहों के विषय में विवेचना करें ।
2. पुरातात्त्विक साक्ष्य नगरों के विषय में क्या बतलाते हैं । अपने शब्दों में लिखें ।
3. ब्राह्मणों और क्षत्रियों में क्या असमानताएँ थीं ? विवेचना करें ।
4. छठी शताब्दी ई0 पू0 के समाज में स्त्रियों की दशा के बारे में लिखो ।
5. ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास किस प्रकार हुआ । विवेचना करें ।

* * * * *

अध्याय- 8

गौतम बुद्ध
(Gautam Buddha)

8.0 उद्देश्य (Aims)

8.1 प्रस्तावना (Introduction)

8.2 गौतम बुद्ध का जीवन परिचय (Life of Gautam Buddha)

8.3 बौद्ध धर्म ग्रंथ (Buddhism Literature)

8.4 गौतम बुद्ध के सिद्धान्त और दर्शन (Principles and Philosophy of Gautam Buddha)

8.5 बौद्ध–संघ (Bodh Sangha)

8.6 प्रमुख बौद्ध सम्प्रदाय (Prominent Buddhist Branches)

8.6.1 हीनयान सम्प्रदाय (Hinayana)

8.6.2 महायान सम्प्रदाय (Mahayana)

8.7 बौद्धधर्म के उत्थान के कारण (Causes of Rise of Buddhism)

8.7.1 बुद्ध का प्रभावशाली व्यक्तित्व (Effective Personality of Buddha)

8.7.2 हिन्दू धर्म के दोष (Defects of Hindu Religion)

8.7.3 बौद्धधर्म के सरल उपदेश (Simple Preachingsof Buddhism)

8.7.4 जनसाधारण की भाषा में दिये गये उपदेश (Preachings in Common Language)

8.7.5 बौद्धधर्म में धन का व्यय न होना (Non-Spending of Funds in Buddhism)

8.7.6 सामाजिक समानता पर आधारित धर्म (Religion Based on Social Equality)

8.7.7 बौद्ध–संघों का संगठन (Oraganisation of Bodh Unions)

8.7.8. बौद्ध–प्रचारकों का उत्साह (Enthusiasm of Bodh Propagators)

8.7.9 राजकीय संरक्षक (State Custodian)

8.7.10 बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियाँ (Changing Economic Circumstances)

8.7.11 बौद्ध की धार्मिक सभाएँ (Religious Meeting of Buddhist)

8.7.12 बौद्ध–विद्यालय (Schools of Buddhist)

8.8 बौद्धधर्म के पतन के कारण (Causes of Decline of Buddhism)

8.8.1 बौद्ध–संघों में भ्रष्टाचार (Corruption in Bodh Organisatioins)

8.8.2 बौद्ध–धर्म का विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजन (Division of Buddhism in Different Groups)

8.8.3 संस्कृत भाषा का बौद्ध–ग्रन्थों की भाषा बनना (Making of Sanskrit as the Language of Bodh)

8.8.4 बौद्धिक पतन (Buddhism Downfall)

8.8.5 ईश्वर में अविश्वास (Faith in God)

8.8.6 बाद के समय में राजकीय संरक्षण का अभाव (Lack of State Custodian in the Later Period)

8.8.7 हिन्दू धर्म का पुनरूत्थान और विभिन्न विचारों को आत्मसात करने की उसकी शक्ति (Re-rise of Hindu Religion and Its Powers of Merging)

8.8.8 हूणों और मुसलमानों के आक्रमण (Attacks of Hunas and Muslims)

8.9 भारत में बौद्ध–धर्म की देन (Contribution of Buddhism of India)

बोध प्रश्न

8.0 उद्देश्य (Aims)

इस इकाई को पढ़ने के बाद –

- गौतम बुद्ध के जीवन परिचय से हम अवगत हो पाएंगे ।
- बौद्ध धर्म केसिद्वान्त और दर्शन को जान सकेंगे ।
- बौद्ध–धर्म के विभिन्न शाखाओं की विशेषताओं को जान सकेंगे ।
- बौद्ध–धर्म के उत्थान एवं पतन के कारणों का पता लगा सकेंगे ।

8.1 प्रस्तावना (Introduction)

बौद्ध धर्म भारत में उत्पन्न हुए नवीन धर्मों में से सबसे अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ । कुछ विद्वानों का कहना है कि ''बुद्ध एक नवीन धर्म के संस्थापक न थे अपितु हिन्दू धर्म के सुधारक थें ।'' बुद्ध ने न कोई नवीन उपदेश दिया और न किसी नवीन धार्मिक क्रिया अथवा नवीन दर्शन का प्रतिपादन किया । इस धारण का मुख्य कारण यह है कि बौद्ध–दर्शन और हिन्दू सांख्य–दर्शन में बहुत कुछ समानता है । ये सभी विचार जो बौद्ध–दर्शन का आधार बने, हिन्दू सांख्य–दर्शन में प्राप्त होते है । बुद्ध ने जो नैतिक नियम बनाये वे भी नवीन न थे अपितु किसी न किसी रूप में पहले से ही उपस्थित थे । बौद्ध धर्म ने बुद्धिमानी से ब्राह्मणों के नैतिक नियमों से नैतिकता और सत्कर्म के अनेक नियमों को ग्रहण कर लिया । बुद्ध ने जनसाधारण के वर्तमान जीवन के लाभार्थ कोई नवीन मार्ग नहीं बताया । उनके उपदेश केवल भविष्य में आने वाले जीवन अथवा निर्वान–प्राप्ति से ही संबंधित थे । इस कारण साधारण बौद्ध–मतावलम्बी अपने वर्तमान जीवन को सुखी बनाने हेतु हिन्दुओं की भांति ही क्रिया–कर्म करता रहा और दैवी शक्तियों पर निर्भर रहा । इस कारण साधारण हिन्दू और साधारण बौद्ध में कोई अन्तर न था ।

परन्तु हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म में उपर्युक्त समताएँ होते हुए भी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि बुद्ध केवल हिन्दू धर्म के सुधारक मात्र रहे । हिन्दुओं के देवता जीवन के आवागमन के कष्ट से सर्वथा मुक्त रहते हैं जबकि बुद्ध के अनुसार 'ब्रह्म' को भी अपने कर्मो के अनुसार फल भुगतना पड़ता है । एक मनुष्य सत्कर्मो के द्वारा निर्वाण अथवा देवत्व प्राप्त कर सकता है, परन्तु सत्कर्मो के प्रभाव के नष्ट हो जाने के पश्चात् उसे पुनः मनुष्य बनना पड़ता है । इसी कारण बौद्ध धर्म में 'भाग्य' की परिभाषा हिन्दुओं से भिन्न है । हिन्दुओं के अनुसार मनुष्य के भाग्य पर ईश्वर का अधिकार होता है परन्तु बौद्ध के अनुसार मनुष्य के भाग्य का निर्माण वह स्वयं अपने अच्छे अथवा बुरे कर्मो से करता है । इस प्रकार, हिन्दू और बौद्ध–दर्शन में मूल–आधार पर अन्तर है ।

8.2 गौतम बुद्ध का जीवन परिचय (Life of Gautam Buddha)

बुद्ध का बचपन का नाम सिद्धार्थ था । उसका गोत्र गौतम था और ज्ञान–प्राप्ति के पश्चात् उन्हें बुद्ध पुकारा गया ।

इस प्रकार उन्हें गौतम बुद्ध के नाम से पुकारा गया है । उनके पिता शुद्धोधन शाक्य–वंश के राजा थे । उनकी माँ का नाम महामाया था । कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी नामक स्थान पर 566 ई0पू0 के लगभग उनका जन्म हुआ । एक सप्ताह के पश्चात् ही उनकी माँ की मृत्यु हो गयी । जिसके कारण उनका पालन–पोषण उनकी माँ की बहन महाप्रजापति गौतमी ने किया । सोलह वर्ष की आयु में उनका विवाह यशोधरा नामक एक सुन्दर कन्या से कर दिया गया और 28 वर्ष की आयु में उनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम राहुल रखा गया । एक वृद्ध, एक बीमार, एक मुर्दे और एक सन्यासी को देखकर उन्हें गृहस्थ–जीवन से वैराग्य हो गया और 29 वर्ष की आयु में उन्होंने अपने घर और परिवार का त्याग कर दिया । उन्होंने पहले वैशाली के निकट रहने वाले साधु आराद से और उसके पश्चात् राजगृह के निकट रहने वाले साधु रूद्रक रामपुत्र से शिक्षा प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु उन्हें संतोष न मिला । तब उन्होंने भोजन त्यागर व पाँच अन्य साधुओ के साथ मिलकर कठोर तप आरंभ किया । परन्तु इससे भी उन्हें कोई लाभ न मिला । जब वे मृत्यु के निकट थे तब उन्होंने भोजन स्वीकार कर लिया जिससे उनके पाँच साधु–साथी उन्हें छोड़कर चले गये । तत्पश्चात् उन्होंने उरूवेला नामक स्थान पर एक पीपल के वृक्ष के नीचे तप करना आरम्भ किया जहाँ सुजाता नामक स्त्री ने उन्हें दूध पिलाया । इसी वृक्ष के नीचे बैठकर उन्होंने निरंतर 49 दिन तक ध्यान किया । तब उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई और तभी से वे महात्मा बुद्ध कहलाने लगे ।

सर्वप्रथम, बुद्ध ने सारनाथ पहुँचकर अपने पहले के पाँच साथियों को उपदेश दिया जो 'धम्मचक्र–प्रवर्तन' कहलाया । तत्पश्चात् उन्होंने बनारस, राजगृह, गया, उरूवेला, नालन्दा, पाटलिपुत्र आदि स्थानों पर अपने उपदेश दिये, और इस प्रकार मगध–राज्य में बौद्ध धर्म का प्रचार किया । राजा प्रसेनजित उनका समर्थक बन गया और उनकी पत्नी मल्लिका तथा बहनें सीमा और सकुला बुद्ध के अनुयायी बन गयीं । बुद्ध ने कपिलवस्तु जाकर अपना पालन करने वाली माँ महाप्रजापति गौतमी औश्र अपने पुत्र राहुल को भी अपना अनुयायी बनाया । जब बुद्ध वैशाली गये तब उन्होंने वहाँ की नगर–वधू आम्रपाली को अपना अनुयायी बनाया । वहीं उन्होंने अपने शिष्य आनन्द और अपने को पालने वाली माँ गौतमी के अनुरोध पर स्त्रियों को भिक्षुणी बनाना स्वीकार किया । बुद्ध प्रचार के लिए चम्पा, आपन, अस्सपुर, कजंगल और पश्चिम में वैरन्जा तक गये । अवन्ति के राजा प्रद्योत ने भी उनको निमंत्रित किया जहाँ उन्होंने स्वयं न जाकर अपने एक शिष्य को भेजा । अन्त में, वे मल्ल रासज्य की राजधानी कुशीनारा पहुँचे, जहाँ 80 वर्ष की आयु में (486) ई0पू0 उनकी मृत्यु हुई ।

8.3 बौद्ध धर्म ग्रंथ (Buddhism Literature)

बौद्ध के पाली भाषा में लिये गये आदिधर्म–ग्रन्थों को 'त्रिपिटक' पुकारा गया । उनमें से 'सूत–पिटक' में बौद्ध धर्म के सिद्वान्तों का उल्लेख है । 'विनय–पिटक' में बौद्ध–घर्म के नियम दिये गये हैं, और 'अधिधम्म–पिटक' में बौद्ध–दर्शन की व्याख्या की गयी है । उसके पश्चात् महायान तथा तान्त्रिक अथवा व्रजयान बौद्ध–मतावलम्बियों ने भी अन्य बौद्ध–धर्म–ग्रन्थों की रचना की जिससे धर्म–ग्रन्थों का पर्याप्त विस्तार हुआ है ।

8.4 गौतम बुद्ध के सिद्धान्त और दर्शन (Teaching and Philosophy of Gautam Budha)

बुद्ध के सिद्धान्त चार सत्यों पर आधारित थे, जिन्हें वे चार आर्य–सत्य कहा करते थे । वे निम्नलिखित है –

1. जीवन दुःखमय है ।
2. तृष्णा, लालस, मोह आदि सांसारिक जीवन का कारण है ।
3. तृष्णा, लालसा, मोह आदि को नष्ट करके इस सांसारिक जीवन को नष्ट किया जा सकता है ।
4. जीवन को नष्ट करने के लिए मनुष्य को सत्य–मार्ग का ज्ञान होना चाहिए ।

बुद्ध के अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण है जो मनुष्य की एक ऐसी स्थिति है जिसमें वह समस्त सांसारिक दुःखों से ही नहीं, अपितु जन्म–मरण से भी छुटकारा पा जाता है ।

बुद्ध के अनुसार इस संसार में सभी कुछ अस्थिर है, यहाँ तक कि आत्मा का भी कोई अस्तित्व नहीं है । बुद्ध

का न ईश्वर में विश्वास था और न आत्मा में । उनके अनुसार व्यक्ति इसे नहीं समझता, यही उसका अज्ञान है । इसी अज्ञान के कारण तृष्णा अथवा लालसा का जन्म होता है और फिर वही क्रम आरंभ हो जाता है जो सभी दुःखों का कारण है । इस प्रकार अज्ञान, लालसा, कर्म आदि दुःखों एवं पुनर्जन्म के कारण हैं और केवल ज्ञान के द्वारा ही इसे नष्ट किया जा सकता है । बुद्ध का पूजा, बलि, यज्ञ आदि में विश्वास नहीं था, और उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को सत्य–ज्ञान और सत्य–कर्म के अनुसार कर्मो को नष्ट करके निर्वाण–प्राप्ति का मार्ग बताया था ।

बुद्ध के अन्य नैतिक नियम साधारण थे । उनके अनुसार व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का मालिक है–कोई देवता अथवा ईश्वर नहीं । बुद्ध ने एक तरफ पूर्णतया भौतिकवादी विचारधारा का विरोध किया और दूसरी तरफ शरीर को कष्ट देने वाले अत्याधिक ताप–मार्ग का विरोध किया । इसी कारण, उनका धर्म–मार्ग मध्यम–मार्ग कहलाया ।

बुद्ध ने नैतिकता और सदाचार पर बहुत बल दिया । उनका अष्टांग मार्ग नैतिक नियमों के पालन का ही मार्ग था । बिना उनका पालन किये ज्ञान की प्राप्ति करना संभव नहीं था । बुद्ध के चार मुख्य गुणों अर्थात प्रेम, दया, प्रसन्न्ता ओर शान्ति पर बल दिया ।

बुद्ध धर्म ने जाति–प्रथा का भी विरोध किया । यद्यपि बाद में, उससे समझौता कर लिया, यहाँ तक कि अस्पृश्यता तक को स्वीकार कर लिया ।

बौद्ध धर्म ने तत्कालीन राजनीति और अर्थ–व्यवस्था को एक नवीन मोड़ देने का भी प्रयत्न किया । उसने राजा का कर्तव्य केवल राज्य में शांति स्थापित रखना, चोर–डकैतों से नागरिक की रक्षा करना और कर वसूल करना मात्र नहीं बताया अपितु उनका कहना था कि क्योंकि बुराईयों का मुख्य कारण निर्धनता और जीविकोपार्जन क लिए कार्य न मिलना है, इस कारण राज्य और राजा का कर्तव्य है कि वह आजीविका के साधनों में वृद्धि करें अर्थात कृष्टि–योग्य भूमि का विस्तार करें ।

8.5 बौद्ध–संघ (Buddha Sangha)

महात्मा बुद्ध ने बौद्ध–भिक्षुओं के ध्यान और शिक्षा की सुविधा हेतु बौद्ध–संधों का निर्माण किया । बाद में स्त्रियों के लिए पृथक् बौद्ध–संघों की स्थापना की गयी । बौद्ध धर्म के मानने वाले दो प्रकार के होते थे – (1) भिक्षु, तथा (2) उपासक । भिक्षु सन्यासी–जीवन और उपासक गृहस्थ–जीवन व्यतीत करते थे । स्वयं बुद्ध ने बौद्ध–संघों के विभिन्न नियमों को बनाया और बाद में भी अन्य विभिन्न नवीन नियम बनाये गये ।

15 वर्ष से अधिक आयु के प्रत्येक स्त्री और पुरूष को संघ का सदस्य होने का अधिकार था । उसमें जाति और वर्ग–भेद के लिए कोई स्थान न था । सदस्यता प्राप्त करते समय प्रत्येक व्यक्ति को निम्नलिखित शपथ ग्रहण करना पड़ता था–

1. मैं बुद्ध की शरण में जाता हूँ ।
2. मैं धर्म की शरण में जाता हूँ ।
3. मैं संघ की शरण में जाता हूँ ।

इन शपथों के बाद उसे अपने सिर तथा दाढ़ी–मूँछों के बाल साफ कराने पड़ते थे और उन्हें पहनने के लिए पीले वस्त्र दिये जाते थे । तत्पश्चात् वह संघ के सदस्यों में से एक को अपना गुरू चुनता था, जो उसे दस अन्य भिक्षु–सदस्यों के सम्मुख प्रस्तुत करता था ।

बौद्ध–संघों की कोई केन्द्रीय–व्यवस्था न थी अपितु प्रत्येक स्थानीय संघ स्वतंत्रता से कार्य करता था । एक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी सघ का सदस्य होता, उसे सभी संघों का सदस्य माना जाता था । यही उनकी एकता का आधार था ।

प्रत्येक बौद्ध–संध और उसकी धर्म–सभाएँ पूर्णतया जनतन्त्रीय व्यवस्था के आधार पर कार्य करती थीं । बुद्ध ने स्वयं अपना कोई उत्तराधिकारी निश्चित नहीं किया था । प्रत्येक स्थानीय संघ के सभी सदस्य मिलकर अपना एक प्रधान चुनते थे । संघ की प्रतिदिन की व्यवस्था अथवा धर्म के अतिरिक्त अन्य कार्यो की पूर्ति के लिए संघ स्वयं अपने अधिकारियों की नियुक्ति करता था ।

स्त्रियों के संघ पुरूषों से पृथक हुआ करते थे । स्त्री–संघ और भिक्षुणियों को पुरूष–संघों और भिक्षुओं से निम्न

स्थान प्रदान किया था ।

भिक्षु और भिक्षुणियों को संघ के विभिन्न नैतिक और आचरण संबंधी नियमों का पालन करने के अतिरिक्त अपनी आध्यात्मिक प्रगति के लिए विभिन्न क्रियाएँ करनी पड़ती थीं । उनकी एक मुख्य आध्यात्मिक क्रिया योगासन लगाकर अपने मस्तिष्क में क्रमशः बौद्ध धर्म के चार मुख्य गुणों – प्रेम, दया, प्रसन्न्ता और शान्ति–को बैठाना तथा सभी मनुष्यों को इन गुणों से युक्त देखने का प्रयत्न करना था । इस क्रिया को 'ब्रह्म–विचार' कहा जाता था ।

इस प्रकार, बौद्ध–संघ श्रमणों एवं भिक्षुओं के भिक्षालय और निवास–स्थान, दोनों ही थे । जनसाधारण भी इनके वातावरण और धार्मिक गोष्ठियों से लाभ प्राप्त करता था । संघों की स्थापना कोई नवीन व्यवस्था न थी । महात्मा बुद्ध के समय के पहले और उनके समय में विभिन्न धार्मिक संघों की स्थापना होती थी । परन्तु महात्मा बुद्ध ने इस व्यवस्था को श्रेष्ठ और लोकप्रिय बना दिया जिसके कारण बौद्ध–संघ बौद्ध धर्म के ज्ञान, शिक्षा और प्रसार के केन्द्र–स्थल बन गये ।

8.6 प्रमुख बौद्ध सम्प्रदाय (Prominent Buddhist Branches)

महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् बौद्ध धर्म विभिन्न शाखाओं में विभाजित हो गया और उसके अन्तर्गत विभिन्न छोटे–छोटे सम्प्रदायों का निर्माण हुआ । परन्तु इन सम्प्रदायों में प्रमुख सम्प्रदाय हीनयान और महायान ही हुए ।

8.6.1 हीनयान सम्प्रदाय (Hinayana Branch)

महात्मा बुद्ध के दर्शन और सिद्धान्त में विश्वास करने वाले व्यक्ति का सम्प्रदाय हीनयान **(The Lesser Vehicle)** सम्प्रदाय कहलाया । ये व्यक्ति किसी भी परिवर्तन के लिए उत्सुक न थे । महात्मा बुद्ध के दर्शन और उनके सिद्धान्त ही उनके लिए निर्वाण–प्राप्ति का सत्य–मार्ग रहे ।

8.6.2 महायान सम्प्रदाय (Mahayana Branch)

साधारणतया इस सम्प्रदाय को स्थापित करने का श्रेय कनिष्क के समकालिन बौद्ध–विद्वान नागार्जुन को दिया जाता है । नागार्जुन का जन्म विदर्भ में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था । वे ब्राह्मण–शास्त्रों के महान ज्ञाता थे और महायान मतावलम्बी होते हुए भी हीनयान–मतावलम्बियों के प्रति पर्याप्त उदार थे ।

संघ के नियमों और आचरण के संबंध में हीनयान और महायान सम्प्रदाय में कोई अन्तर नहीं था और अनेक संघों में हीनयान और महायान मतावलम्बी साथ–साथ रहते थे । परन्तु उनके दर्शन और आदर्शो में अंतर था ।

8.7 बौद्धधर्म के उत्थान के कारण (Causes of Rise of Buddhism)

बौद्ध धर्म का प्रचार अत्यन्त तीव्रता से हुआ। एक समय में वह भारत का ही नहीं बल्कि विश्व का सर्वाधिक लोकप्रिय धर्म बन गया था । निम्नलिखित विभिन्न कारणों ने बौद्ध धर्म के उत्थान और प्रसार में भाग लिया –

8.7.1 बुद्ध का प्रभावशाली व्यक्तित्व (Effective Personality of Buddha)

बुद्ध ने राज्य और वैभव को त्यागकर सन्यासी जीवन अपनाया था । उन्होंने धार्मिक ग्रन्थों से ज्ञान प्राप्त नहीं किया था बल्कि उनका ज्ञान आत्मज्ञान था । उन्होंने अपने उपदेशों को स्वयं जीवन में ग्रहण किया । सरलता, त्याग, प्रेम, दया, क्षमाशीलता, मृदुभाषण और सभी के साथ समानता का व्यवहार आदि मानवीय गुण उनके आदर्श मात्र न थे बल्कि उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन में उन सभी गुणों का व्यावहारिक प्रयोग किया था ।

8.7.2 हिन्दू धर्म के दोष (Defects of Hindu Religions)

बुद्ध के समय तक हिन्दू धर्म कर्मकाण्ड, पुरोहितों की श्रेष्ठता, यज्ञ, धन के अपव्यय, पशु–बलि, अज्ञान और आडम्बर से परिपूर्ण हो गया था । साधारण व्यक्ति धर्म को समझ नही सकते थे और वे अपने धार्मिक जीवन के लिए ब्राह्मणों के पुरोहित–वर्ग पर आश्रित हो गये थे । ऐसे धर्म के प्रति प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी ।

8.7.3 बौद्धधर्म के सरल उपदेश (Simple Preachings of Buddhism)

जनसाधारण के लिए बौद्ध धर्म का अर्थ केवल नैतिक आचारों का पालन करना था । वे नैतिक नियम व्यक्ति और समाज दोनों के लिए सरल और लाभप्रद थे । बौद्ध धर्म ने मध्यम–मार्ग के द्वारा निर्वाण–प्राप्ति का मार्ग बताया था । उस धर्म मे न जटिल कर्मकाण्ड था, न जटिल दर्शन, न कठोर तप, न दुष्कर ज्ञान और न जीवन से विरक्ति । साधारण व्यक्ति नैतिक सिद्धान्तों का पालन करते हुए धीरे–धीरे निर्वाण–प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर हो सकते थे ।

8.7.4 जनसाधारण की भाषा में दिये गये उपदेश (Preachings in Common Language)

बुद्ध ने अपने उपदेश जनसाधारण की भाषा, मगधी में दिये, जिसे सभी समझ सकते थे ।

8.7.5 बौद्धधर्म में धन का व्यय न होना (Non-Spending of Funds in Budhism)

हिन्दू धर्म जनसाधारण के लिए बहुत महंगा हो गया था । बिना धन के धार्मिक जीवन संभव न था । इसके विपरीत, बौद्ध धर्म में धन के व्यय का कोई प्रश्न न था ।

8.7.6 सामाजिक समानता पर आधारित धर्म (Religion Based on Social Equality)

बौद्ध धर्म में सभी जाति के व्यक्तियों का स्तर समान था । हिन्दू धर्म ने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के विचार को इस सीमा तक पहुँचा दिया था कि वैश्य और शूद्र तो क्या, क्षत्रीय भी निम्न स्तर के समझे जाते थे । असमानता पर आधारित इस सामाजिक व्यवस्था के प्रति घृणा स्वाभाविक थी । इस कारण निम्न जातियों ने ही नहीं, बिल्क क्षत्रियों ने भी बौद्ध–धर्म का स्वागत किया ।

8.7.7 बौद्ध–संघों का संगठन (Organization of Bodh Unions)

बौद्ध–संघों ने इस धर्म को विद्वान एवं योग धर्म–प्रचारक प्रदान किये । बौद्ध–संघ बौद्धों के विश्राम–स्थल मात्र न थे । वे इनके शिक्षालय थे, जनसाधारण के आकर्षण के केन्द्र–स्थल थे, भिक्षुओं के साधना–स्थल थे और बौद्ध धर्म के ज्ञान, पुस्तकालय, विचारों के आदान–प्रदान एवं साहित्य–निर्माण तथा व्यावहारिक जीवन के उदाहरण थे । इन सभी के कारणों वे बौद्ध धर्म के प्रचार के मुख्य साधन बने ।

8.7.8. बौद्ध–प्रचारकों का उत्साह (Enthusiasm of Bodh Progaqators)

बुद्ध के पश्चात् भी इस धर्म में अनेक विद्वान और तपस्वी धर्म–प्रचारक हुए । महायान सम्प्रदाय का अन्य व्यक्तियों को निर्वाण–प्राप्ति में सहयोग प्रदान करने का लक्ष्य इसमें अत्यधिक सहायता प्रदान करने वाला सिद्ध हुआ । जीवन का प्रमुख लक्ष्य अन्य व्यक्तियों को निर्वाण–प्राप्ति में सहायता देना है । इस लक्ष्य के आदर्श से प्रेरित होकर बौद्ध–भिक्षु भारत के कोने–कोने में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण एशिया के विभिन्न स्थलों में फैल गये ।

8.7.9 राजकीय संरक्षक (State Custodian)

बौद्ध धर्म को आरम्भ से ही विभिन्न राजाओं का आश्रय प्राप्त हुआ । बौद्ध के समकालीन शासकों में से बिम्बिसार, अजातशत्रु और प्रसेनजित बुद्ध से प्रभावित थे । उनके परिवार के सदस्यों में से कई उनके समर्थक थे । उसके पश्चात् महान् सम्राट अशोक ने इसके प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया ।

8.7.10 बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियाँ (Changing Economic Circumstances)

बौद्ध धर्म तत्कालीन बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों के पक्ष में था । वह साम्राज्यवादी युद्धों के पक्ष में नही था जिससे कृषि और व्यापार में बाधा आती थी । उसने कृषि–उत्पादन और पशु–धन की वृद्धि पर बल दिया । लोहे के उपकरणों के कृषि में प्रयोग किये जाने से यह संभव था । इस कारण, कृषि–योग्य भूमि में विस्तार तथा पशुओं की वृद्धि उस समय की आवश्यकता और मांग थी । बौद्ध धर्म ने उस मांग की पूर्ति में सहायता दी ।

8.7.11 बौद्ध की धार्मिक सभाएँ (Religious Meetings of Buddhist)

समय–समय पर विभिन्न शासकों के संरक्षण में बौद्ध–मतावलम्बियों की चार सभाएँ हुई । उन सभाओं में न केवल कुछ महत्वपूर्ण निर्णय लये गये अपितु उनके पश्चात् धर्म के प्रचार के लिए विभिन्न स्थलों पर धर्म–प्रचारक भी भेजे गए । सम्राट अशोक ने तो अपने पुत्र और पुत्री को भी इस आशय से श्रीलंका भेजा था ।

8.7.12 बौद्ध–विद्यालय (School of Buddhist)

बौद्धो ने विभिन्न महाविद्यालयों का निर्माण किया । निसन्देह, ये विद्यालय बौद्ध धर्म की शिक्षा के प्रसार मात्र के लिए न होकर सभी प्रकार के बौद्धिक विकास के लिए थे । परन्तु विभिन्न बौद्ध विद्वान उन विद्यालयों में एकत्रित होते थे, विदेशों से विद्वान यहाँ शिक्षा प्राप्ति के लिए आते थे । नालंदा का महाविद्यालय एक ऐसा ही विद्यालय था जो संसार में प्रसिद्ध हुआ ।

8.8 बौद्धधर्म के पतन के कारण (Causes of Decline of Buddhism)

बौद्ध धर्म एक लम्बे समय तक भारत का ही नही अपितु एशिया का सर्वश्रेष्ठ धर्म बना रहा । परन्तु बाद में धीरे–धीरे भात में यह प्रायः समाप्त हो गया और एशिया में भी इसका प्रभाव कम हो गया । इस धर्म के पतन के विभिन्न कारण निम्नवत् थें –

8.8.1 बौद्ध–संघों में भ्रष्टाचार (Corruption in Bodh Organisation)

बौद्ध–संधों में धन और स्त्रियों के प्रवेश करने से भ्रष्टाचार और विलासिता प्रवेश कर गयी । अनेक सम्राटों और धनवान व्यक्तियों का संरक्षण प्रापत हो जाने से बौद्ध–संघों और विहारों में सम्पत्ति एवं धन एकत्रित हो गया । इस प्रकार पुरूष की दो स्वाभाविक दुर्बलताएँ – धन और स्त्री–बौद्ध भिक्षुओं के लिए सुलभ हो गयी । महायान सम्प्रदाय की रथ–यात्राओं और धार्मिक उत्सवों ने इस धर्म के प्रयोग और स्त्री–पुरूष के संबंधों को संभव बनाया, बुद्ध की प्रतिमाओं की पूजा ने इस धर्म में कर्मकाण्ड को सम्मिलित कर दिया और वज्रयान सम्प्रदाय ने इसमें यौन–सम्बन्धों एवं मादक द्रव्यों के प्रयोग को व्यावहारिक बना दिया । इन कारणों से बौद्ध–संघ भ्रष्टाचार और व्याभिचार के केन्द्र बन गये तथा भिक्षु एवं भिक्षुणियों के जीवन में सरलता और सात्विकता नष्ट हो गयी । यह भ्रष्टाचार बौद्ध धर्म के बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक पतन का कारण बना ।

8.8.2 बौद्ध–धर्म का विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजन (Division of Buddhism in Different Groups)

महायान सम्प्रदाय की उत्पत्ति से पहले ही छोटी–छोटी शाखाओं के अतिरिक्त बौद्ध धर्म 18 प्रमुख सम्प्रदायों में विभाजित हो चुका था । महायान सम्प्रदाय की उत्पत्ति एक बहुत बड़ा विभाजन था । कालान्तर में वज्रयान सम्प्रदाय की भी उत्पत्ति हुई । किसी भी सम्प्रदाय की एकता का नष्ट हो जाना उसकी दुर्बलता का एक प्रमुख कारण होता है । हीनयान, महायान और वज्रयान सम्प्रदायों के दार्शनिक मतभेद, लक्ष्य में अन्तर और नैतिक जीवन के आदर्शो के विरोध में बौद्ध धर्म के प्रति जन साधारण के विश्वास को नष्ट कर दिया ।

8.8.3 संस्कृत भाषा का बौद्ध–ग्रन्थों की भाषा बनना (Making of Sanskrit as the Language of Buddhism Holy Literature)

महायान सम्प्रदाय ने संस्कृत को अपने ग्रन्थों की भाषा बनाया । वज्रयान सम्प्रदाय ने उसका अनुकरण किया । संस्कृत भाषा जनसाधारण की भाषा न थी । इस कारण बौद्ध धर्म का जनसाधारण से प्रत्यक्ष सम्पर्क नष्ट हो गया ।

8.8.4 बौद्धिक पतन (Buddhism Downfall)

बौद्ध–संघों और भिक्षुओं के अनैतिक जीवन ने बौद्धों की बुद्धि का दिवाला निकाल दिया । चन्द्रकीर्ति, शान्तिदेव, दिनांग और धर्मकीर्ति के साथ ही बौद्ध धर्म की बौद्धिक कीर्ति नष्ट हो गयी । बौद्धिक गिरावट की स्थिति में बौद्ध धर्म नवजाग्रत हिन्दू धर्म का मुकाबला न कर सका और धीरे– धीरे उसका प्रत्येक आधार नष्ट हो गया ।

8.8.5 ईश्वर में अविश्वास (Faith in God)

बौद्ध धर्म का ईश्वर में विश्वास न था । बाद के समय में बोधिसत्वों की उत्पत्ति और महायान सम्प्रदाय द्वारा उनको सक्रिय बनाने की चेष्टा तथा निर्वाण की विचारधारा में परिवर्तन भी बौद्ध धर्म को हिन्दू देवी–देवताओं और 'ब्रह्म' के विचार की कल्पना के मुकाबले खड़ा न कर सके । जनसाधारण के लिए हिन्दुओं के ऐसे देवी–देवता जो सर्वदा मनुष्य की सहायता के लिए तत्पर थे, अधिक आकर्षक रहे । इस कारण जनसाधारण के व्यावहारिक जीवन में बौद्ध धर्म सर्वदा दुर्बल रहा । बाद में हिन्दू धर्म के पुनरूत्थान से उसकी यह दुर्बलता और अधिक स्पष्ट हो गयी ।

8.8.6 बाद के समय में राजकीय संरक्षण का अभाव (Lack of State Custodian Protection in Later Period)

अशोक के उत्तराधिकारियों में से किसी ने भी बौद्ध धर्म का समर्थन नहीं किया । शुंग–शासकों के समय से हिन्दू धर्म को राजारूप प्राप्त होना आरंभ हुआ । कनिष्क और बाद में हर्ष ने बौद्ध धर्म को संरक्षण अवश्य प्रदान किया परन्तु शक्तिशाली गुप्त–सम्राट और बाद के राजपूत शासक हिन्दू धर्म के संरक्षक थे ।

8.8.7 हिन्दू धर्म का पुनरूत्थान और विभिन्न विचारों को आत्मसात करने की उसकी शक्ति (Re-rise of Hindu Religion and Its Powers of Merging Views)

बौद्धधर्म भारत में हिन्दू धर्म को कभी भी पूर्णतया नष्ट नहीं कर सका था । बाद में हिन्दू धर्म का पुनरूत्थान हुआ । व्यावहारिक जीवन में एक साधारण बौद्ध उपासक पहले भी एक हिन्दू धर्म की भाँति था । परन्तु हिन्दू धर्म में हुए अन्य आकर्षक परिवर्तनों ने जनसाधारण को हिन्दू धर्म के और अधिक निकट ला दिया । हिन्दू धर्म ने बौद्ध धर्म की कुछेक अच्छी विशेषताओं को भी अपने में सम्मिलित कर लिया । मूर्तियों का निर्माण, पूजा, रथ–यात्राएँ आदि हिन्दू धर्म में सर्वमान्य हो गये । महात्मा बुद्ध को विष्णु के अवतारों में से एक अवतार स्वीकार कर लिया गया तथा हिन्दुओं के ध्यानमग्न शिव और ध्यानमग्न बुद्ध में कोई अन्तर नही रह गया ।

8.8.8 हूणों और मुसलमानों के आक्रमण (Attacks of Hunas and Muslims)

पुष्यमित्र शुंग पहला भारतीय शासक था जिस पर बौद्ध धर्म को नष्ट करने का आरोप लगाया गया । उसके पश्चात् मिहिरकुल हूण ने, निःसन्देह, बौद्ध धर्म को नष्ट करने का प्रयत्न किया । गुप्त काल के अन्तिम समय में होने वाले हूणों के आक्रमणों ने भारत के उत्तर–पश्चिम में फैले हुए बौद्ध–विहारों और संघों को नष्ट करके बौद्ध घर्म को भारत और उसकी उत्तर–पश्चिम सीमा पर दुर्बल बनाया ।

उपर्युक्त विभिन्न कारणों से बौद्ध धर्म अपनी मातृभूमि से विलुप्त हो गया । इन कारणों में बौद्ध धर्म की स्वयं की आन्तरिक दुर्बलताएँ और हिन्दू धर्म का पुनरूत्थान प्रमुख थे । विदेशी आक्रमण उसके विनाश का गौण कारण था क्योंकि इतिहास इस बात का प्रमाण है कि मुसलमानी आक्रमणों से पहले ही बौद्ध धर्म का प्रभाव भारत से लुप्तप्राय था ।

8.9 भारत में बौद्ध–धर्म की देन (Contributions of Buddhism to India)

बौद्ध धर्म के प्रसार ने भारत को गम्भीरता से प्रभावित किया । सभ्यता के क्षेत्र में उसका योगदान महत्वूपर्ण एवं लाभप्रद रहा । परन्तु राजनीतिक दृष्टि से उसका प्रभाव हानिकारक हुआ । उससे भारत को मुख्यतया अग्र प्रकार से प्रभावित किया ।

उसने भारत को एक समय में एक सरल, अल्पव्ययी और रूचिकर धर्म प्रदान किया । उससे उस समय भारत के नैतिक जीवन को उन्नतिशील बनाया । उसने जनसाधारण को कर्मकाण्ड, अपव्यय और बलि आदि कुरीतियों से बचाया ।

रथ–यात्राएँ और धार्मिक उत्सवों का आरम्भ, सम्भवतया, सर्वप्रथम बौद्ध धर्म में हुआ, जो बाद में भारत में अन्य सभी धर्मो के अविभाज्य अंग बन गये ।

बौद्ध–संघों की स्थापना से भारत में संगठित धार्मिक सम्प्रदायों का समय आरंभ हुआ । य़द्यपि भारत में धार्मिक संघों की स्थापना बौद्ध धर्म से पहले भी प्राप्त होती है परन्तु इनको जो स्वरूप महात्मा बुद्ध ने प्रदान किया वह पहले कभी नही था ।

बौद्ध धर्म ने समानता और जनतंत्र की भावना को प्रोत्साहित किया । बौद्ध धर्म ने व्यक्ति और व्यक्ति में जाति, रंग, नस्ल आदि के आधार पर अन्तर नही किया । इसने स्त्रियों के लिए भी निर्वाण–प्राप्ति का मार्ग प्रदान किया । बौद्ध–संघों की व्यवस्था पूर्णतया जनतंत्रवादी थी । इन सभी से जाति–भेद के अन्तरों को नष्ट करने, सभी व्यक्तियों को समान मानते हुए सभी को समान अवसर व अधिकार प्रदान करने के विचारों को समर्थन और शक्ति प्राप्त हुई ।

ईश्वर और देवी–देवताओं के प्रति अविश्वास प्रकट करके बुद्ध ने तर्क और व्यक्तिवाद के विचारों को पुष्ट किया, जो एक नवीन बौद्धिक क्रान्ति को जन्म दिया था । अब व्यक्तियों का जीवन ईश्वर की इच्छा अथवा पुरोहितों की कृपा

पर निर्भर न रह गया । ये सभी विचार क्रान्तिकारी थे जिन्होंने भारतीय धर्मो और भारतीयों के जीवन को स्थायी रूप से प्रभावित किया ।

बौद्ध धर्म ने शिक्षा, विद्या और साहित्य–रचना में महत्वपूर्ण योगदान दिया । बौद्ध–संघ अथवा विहार शिक्षा के भी केन्द्र–स्थल थे । तक्षशिला, नालन्दा, उदन्तपुरी, विक्रमशीला आदि के विश्वविद्यालय प्रसिद्ध शिक्षा–केन्द्र थे जहाँ हजारों की संख्या में विद्यार्थी रहते थे, बड़े–बड़े पुस्तकालय थे और विदेशों के विद्वान भी शिक्षा ग्रहण करने आते थे ।

ललित कलाओं – मुख्यतः स्थापत्य–कला, शिल्प–कला और चित्रकला के क्षेत्र में बौद्ध धर्म ने भारतीय सभ्यता को अनुपम सहयोग प्रदान किया है । अशोक ने विभिन्न स्थानों पर अनेक स्तूप और स्तम्भ बनवाये थे । उनमें से कुछ आज भी प्राप्त है । उनके पश्चात् भी स्तूपों तथा चैत्यों का निर्माण होता रहा । इसमें साँची, अमरावती और एलौरा के स्तूप तथा चैत्य सर्वश्रेष्ठ है। । चित्रकला की दृष्टि से बौद्ध–ग्रन्थों में अंकित चित्र और अजन्ता के भित्ति–चित्र संसार में ख्याति प्राप्त कर चुके है । बुद्ध के व्यक्तित्व, जीवन–गाथा तथा जातक–कथाएँ स्थापत्य, शिल्प तथा चित्रकला की प्रेरणा–शक्ति बनी ।

बौद्ध धर्म ने भारत के धार्मिक जीवन को गम्भीरता से प्रभावित किया । हिन्दू धर्म ने अपने में नवीन परिवर्तन किये । सम्भवतया रथ–यात्राएँ, धार्मिक उत्सव आदि हिन्दुओं ने बौद्ध धर्म से प्रेरणा प्राप्त करके ही अपने में सम्मिलित किये । हिन्दुओं में अहिंसा का स्वीकार किया जाना और पशु–बलि की प्रायः समाप्ति बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण है । महात्मा बुद्ध को विष्णु के अवतारों में भी स्वीकार किया गया ।

बौद्ध धर्म के कारण भारत का विदेशों से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हुआ । ई0 पू0 तीसरी सदी से भारत से विभिन्न बौद्ध–प्रचारक विदेशों में जाने आरम्भ हो गये और उन्होंने बौद्ध धर्म को एशिया का प्रमुख धर्म बना दिया । उसके पश्चात् विदेशों से विभिन्न धार्मिक यात्री भारत आने शुरू हुए । चीन, जापान, मंगोलिया, तिब्बत, नेपाल, सिक्किम, भूटान, मध्य–एशिया, अफगानिस्तान आदि सभी देशों में भारतीय सभ्यता का प्रचार हुआ और दक्षिण–पूर्वी एशिया तो एक प्रकार से भारतीय सभ्यता का अभिन्न अंग बन गया ।

इस प्रकार, बौद्ध धर्म ने भारत को विभिन्न निधियाँ प्रदान की हैं, परन्तु कुछ अन्य प्रकार से बौद्ध धर्म का भारतीय समाज और राजनीति पर कुप्रभाव भी आया । अल्पायु में लड़के और लड़कियों को संघ में प्रवेश करेन की आज्ञा देने से तत्कालीन युवा पीढ़ी में अकर्मण्यता, आलस्य और उत्तरदायित्वहीनता की भावना जागृत हुई । संसार से विरक्त होकर युवा पीढ़ी एक दृढ़ विकासशील एवं समृद्धिशाली समाज और राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकती । बौद्ध धर्म ने युवा पीढ़ी को सांसारिक प्रगति से उदासीन करके समाज तथा राष्ट्र को अकर्मण्य और असहाय बना दिया । नवयुवक और नवयुवतियों को अल्पायु में सन्यास ग्रहण करने की प्रेरणा देना प्रकृति के नियम के भी विरूद्ध था । इन्होंने मिलकर एक भ्रष्टाचारी और अनुपयोगी समाज अथवा एक ऐसे वर्ग का निर्माण करने में सहायता दी जिसका कुप्रभाव भारतीय जन–जीवन पर आया । इसके साथ अहिंसा की भावना के सम्मिलित हो जाने से राष्ट्र की शक्ति दुर्बल हो गयी । इन कुप्रभावों के परिणामस्वरूप देश की भौतिक उन्नति में बाधा पड़ी और सैनिक दृष्टि से भारत दुर्बल हुआ । मौर्य–वंश का पतन और शुंग–वंश की स्थापना इसी दुर्बलता के परिणाम थे । बाद के समय में मुसलमानी आक्रमणों के अवसर पर भी बौद्ध मतावलम्बियों का व्यवहार लज्जापूर्ण था ।

बोध प्रश्न

1. गौतम बुद्ध का जीवन परिचय दीजिए ।
2. प्रमुख बौद्ध–सम्प्रदाय क्या थे ? इन्हें कितने वर्गो में बांटा गया था ।
3. बौद्ध धर्म के उत्थान एवं पतन के किन्हीं पाँच कारणों को लिखे ।
4. बौद्ध संघ क्या था ?
5. भारत को बौद्ध धर्म की क्या देन थीं ?

* * * * *

अध्याय- 9

भगवान महावीर

(Lord Mahaveera)

9.0 उद्देश्य (Aims)

9.1 प्रस्तावना (Introduction)

9.3 भगवान महावीर की जीवनी (Life of Lord Mahaveera)

9.4 जैन धर्म के सिद्वान्त (Principles of Jain Religion)

9.4.1 अनीश्वरवाद (Aanishwarvad)

9.4.2 अहिंसा (Non-Violence)

9.4.3 वेदों में विश्वास (Faith in Vedas)

9.4.4 आत्मवाद (Atmavad)

9.4.5 कर्म एवं पूर्व जन्म का सिद्धान्त (Principles of Duty and Past Life)

9.4.6 त्रिरत्न (Tri-Gems)

9.4.6 पंच महाव्रत (Panch-Mahavarta)

9.4.7 निर्वाण का मार्ग (Way to Salvation)

9.4.8 तपस्या का महत्व (Importance of Penance)

9.4.10 वर्ण–व्यवस्था सम्बन्धी सिद्धान्त (Principles of Relating to Caste System)

9.4.11 तीर्थकरों में विश्वास एवं श्रद्धाशक्ति (Faith in Tirthankaras)

9.4.12 अनेकान्तवाद (Anekantvad)

9.4.13 स्याद्वाद (Syadvad)

9.4.14 निवृति की प्रधानता एवं व्यक्ति का स्वतंत्रता (Importance of Relinquishment and Liberty of Individual)

9.5 जैनधर्म का प्रचार–प्रसार (Publicity of Jain Religion)

9.6 जैनधर्म के पतन के कारण (Cuses of Decline of Jain Religion)

9.6.1 विलासप्रियता (Luxuriousness)

9.6.2 राज्याश्रय की समाप्ति

9.6.3 शक्ति का विच्छिन्न हो जाना

9.6.4 हिन्दू धर्म का पुनरूत्थान (Re-upliftment of Hindu Religion)

9.7 जैनधर्म की देन (Contribution of Jain Religion)

बोध प्रश्न

9.1 उद्देश्य (Aims)

- भगवान महावीर के जीवन परिचय से हम अवगत हो पाएंगे ।
- जैनधर्म के सिद्वान्त के बारे में जान पायेंगे ।
- जैन धर्म का प्रचार–प्रसार किस प्रकार हुआ इसकी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- जैन धर्म के उत्थान एवं पतन के कारणों का पता लगा सकेंगे ।
- जैनधर्म की देनों के बारे में जान सकेंगे ।

9.2 प्रस्तावना (Aims)

जैन साहित्य और परम्परा के अनुसार जैन धर्म बहुत ही प्राचीन है । 'जैन' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'जिन' शब्द से हुई है । जिसका अर्थ है विजेता, लेकिन यहाँ विजेता से तात्पर्य है जिसने अपनी इन्द्रियों और विषय–वासनाओं पर नियंत्रण कर आध्यात्मिक विजय प्राप्त की हो । जैन धर्म में जैन महात्माओं को 'निर्ग्रन्थ' कहा जाता है जिसका तात्पर्य है – सांसारिक बन्धनों से मुक्त व्यक्ति या सन्त । जैन धर्म के संस्थापकों एवं प्रवर्तकों को 'तीर्थकर' कहा जाता है । जैन अनुश्रुति के अनुसार जैन धर्म के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव अयोध्या के सूर्यवंश में उत्पन्न हुए थे । ऋषभदेव के बाद इक्कीस तीर्थकर और हुए । पार्श्वनाथ जैन धर्म के तेइसवें तीर्थकर थे । वे काशी के क्षत्रिय राजा अश्वसेन के पुत्र थे । तीस वर्ष की अवस्था में ही वे गृहस्थ–जीवन का त्याग कर सन्यासी हो गये और धूम–धूम कर लोगों को ज्ञान का उपदेश देते रहे । पार्श्वनाथ ने प्रचलित ब्राह्मण धर्म के कर्मकाण्ड, देववाद और यज्ञवाद की कटु आलोचना की । उन्होंने जाति–प्रथा तथा सामाजिक विषमता की कटु आलोचना की और सामाजिक समानता का समर्थन किया । वे प्रत्येक व्यक्ति को मोक्ष का अधिकारी मानते थे, चाहे वह किसी जाति का हो । वे कठोर तपस्या,इन्द्रियों पर संयम एवं नियंत्रण तथा काया–कष्ट को मोक्ष की प्राप्ति का समुचित साधन मानते थे । पार्श्वनाथ ने अपने सिद्वान्तों तथा उपदेशों के प्रचार के लिए चार गणों या संघों का संगठन किया । उनके सिद्धान्त थे – अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह । वर्धमान महावीर ने पार्श्वनाथ के सिद्धान्तों में 'ब्रह्मचर्य' का सिद्धान्त जोड़ दिया ।

9.3 महावीर की जीवनी (Life of Mahavira)

महावरी जैन धर्म के अन्तिम और चौबीसवें तीर्थकर थे । उनका जन्म 540 ई0 पू0 में उत्तर बिहार के वैशाली के निकट कुण्डग्राम में एक क्षत्रिय परिवार में हुआ था । उनकी माता त्रिशला प्रसिद्ध लिच्छवि नरेश चेटक की बहन थी । उनके मामा की पुत्री चेलना का विवाह मगध के राजा बिम्बिसार के साथ हुआ था । इस प्रकार महावीर का जन्म एक सुप्रसिद्ध, प्रतिष्ठित एवं समृद्ध क्षत्रिय घराने में हुआ था । उनके बड़े भाई का नाम नन्दिवर्धन था । महावरी का बचपन का नाम वर्धमान था । इनके माता–पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे । इनका विवाह युवावस्था में यशोदा नामक एक अति सुन्दर राजकुमारी के साथ हुआ था । तीस वर्ष की अवस्था तक महावीर ने राजकीय वैभव, ऐश्वर्य और सुख–समृद्धि का जीवन व्यतीत किया और एक पुत्री रत्न की प्राप्ति की । महावीर का मन प्रारंभ से ही सांसारिक बातों में अधिक नहीं रमता था । वे दिन–प्रतिदिन अधिकाधिक मननशील एवं चिन्तनशील होते गए । उनकी निवृतिमार्गी प्रवृत्ति दृढ़ होती गयी । उन्हें राजपाट से कोई सम्बन्ध नहीं रहा । माता–पिता की मृत्यु से उनका मन और विरक्त हो गया । अतएव तीस वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अपने बड़े भाई की आज्ञा से गृह–त्याग कर दिया और कठोर तपस्या के लिए चल पड़ें । बारह वर्षो तक महावीर सत्य और ज्ञान की खोज में इधर–उधर भ्रमण करते रहे और अनेक प्रकार के कष्ट और यातनाएँ सहते रहे ।

निर्लिप्त, मौन और शान्त रहकर महावीर ने बारह वर्षो तक कठोर तपस्या की । घोर तपस्या के बाद उन्हें जुम्भिक ग्राम के समीप ऋजुपालिका नदी के तट पर विशाल शालवृक्ष के नीचे ज्ञान की प्राप्ति हुई । ज्ञान की प्राप्ति के बाद महावीर घूम–घूम कर अपने ज्ञान और अनुभव का प्रचार करने लगे । उन्होंने अपना शेष जीवन मगध तथा अंग राज्यों के विभिन्न ग्रामों, नगरों और कस्वों में पैदल भ्रमण करते हुए लोगों को ज्ञान और सदाचार का उपदेश देते हुए बिताया ।

दिन–प्रतिदिन उनके शिष्यों की संख्या बढ़ती गयी । इसी समय गौतम बुद्ध भी अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे । इस कारण जैन धर्म के प्रसार में थोड़ी रूकावट पैदा हुई, लेकिन महावीर और उनके शिष्य अपने धर्म–प्रचार में बड़े धैर्य के साथ संलग्न रहे । फलस्वरूप साधारण लोगों के अतिरिक्त मगध के राजा बिम्बिसार, अजातशत्रु और मल्ल गणराज्य के प्रधान सस्तिपाल ने जैन धर्म के प्रसार में सहयोग दिये । लेकिन अन्त में बिम्बिसार ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया । 468 ई0 पू0 में 75 वर्ष की आयु में महावीर को 'पावापुरी' में निर्वाण की प्राप्ति हुई । कहा जाता है कि अन्य अठारह गणराज्यों में भी महावीर के देहावसान पर उनके प्रति सम्मान, श्रद्धा और भक्ति प्रकट करने के लिए दीपमालाओं का आयोजन किया गया था । महावीर के द्वारा चलाया गया धर्म आज भी जीवित है और आज भी प्रायः भारत के कोने–कोने से प्रतिवर्ष सहस्त्रों जैनी पावापुरी की तीर्थयात्रा पर जाते है । महावीर को ही लोग जैन धर्म का वास्तविक प्रवर्तक मानते हैं क्योंकि उन्होंने ही जैन धर्म के सिद्धान्तों को शकित प्रदान की और दूर–दूर देशों तक फैलाया ।

9.4 जैन धर्म के सिद्वान्त (Principles of Jain Religion)

वर्धमान महावीर ने निम्नलिखित सिद्धान्तों और उपदेशों का प्रचार किया, जो जैन धर्म के मूल सिद्धान्त माने जाते हैं ।

9.4.1 अनीश्वरवाद (Aanishwarvad)

जैन धर्म ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करता है । यह ईश्वर को सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और विनाशकर्ता नहीं मानता है । इसके अनुसार ईश्वर जीव में ही निहित शक्तियों का श्रेष्ठतम व्यतिकरण है । इसके अनुसार आत्मा की सर्वोत्तम स्थिति ही ईश्वर है । सृष्टि अनन्त और अनादि है । उसकी उन्नति होती है, अवनति होती है और फिर उन्नति होती है । सृष्टि के विधान में ईश्वर की सहायता, नियंत्रण एवं हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है । जैनी ईश्वर के स्थान पर तीर्थकरों की पूजा–अर्चना करते है, जिनकी आत्माएँ सभी बन्धनों से मुक्त हो गई हैं और जो पूर्ण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं दुखरहित हो गये हैं ।

9.4.2 अहिंसा (Non-Violence)

जैन धर्म यज्ञ और अनुष्ठान का विरोधी है । इसमें अहिंसा पर अत्यधिक बल दिया गया है । यज्ञों में पहले पशुओं की बलि दी जाती थी । जैनियों ने हिंसा का विरोध किया । वे पशु–पक्षी, वनस्पति, जल, पहाड़ आदि में भी जीव को मानते हैं । जैन धर्म के अनुसार छः प्रकार के जीवन हैं– पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और सजीव । जैन धर्म की मान्यता है कि आत्मा का शुद्धिकरण ज्ञान से नहीं बल्कि उपवास, अहिंसाव्रत के पालन, सत्य, अचौर्य, त्याग और इन्द्रिय–निग्रह से किया जा सकता है । जैनियों के अनुसार जड़ और चेतन सभी में आत्मा का निवास है ।

9.4.3 वेदों में विश्वास (Faith in Vedas)

जैन धर्म वैदिक कर्मकाण्ड के विरूद्ध एक संगठित आन्दोलन था । अतएव इसने वेदवाद का विरोध किया । यज्ञ–कर्मकाण्ड के लिए इस धर्म में कोई स्थान नहीं था । अहिंसावादी होने के कारण इसने पशु–वध के विधान वाले यज्ञ का विरोध किया । इस प्रकार इसने यज्ञ–विधान और कर्मकाण्ड पर कड़ा प्रहार किया ।

9.4.4 आत्मवाद (Atmavad)

जैनी आत्मा के अस्तित्व तथा उसके अमरत्व में विश्वास करते है । यह आत्मा संसार की सभी वस्तुओं में हैं । वे इसे सर्वद्रष्टा भी समझते है । परन्तु उनकी यह धारणा है कि कर्मो के बन्धन के कारण उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है । आत्मा में ज्ञान होता है और वह क्रियाशील होती है । उनका यह भी विश्वास है कि आत्मा शरीर से अलग है और निराकार होते हए भी वह प्रकाश के रूप में अपना अस्तित्व रखती है । लेकिन कर्मो के कारण वह सांसारिक बन्धनों में पड़कर मलीन हो जाती है और मनुष्य अपने कर्मो का फल भोगता है ।

9.4.5 कर्म एवं पूर्व जन्म का सिद्धान्त (Principle of Karma and Previous Life Before Birth)

जैनी लोग कर्म में पूर्ण विश्वास रखते हैं । इनके अनुसार कर्म के अनुसार ही शरीर व वंश और सुख–दुःख की प्राप्ति होती है अर्थात् कर्मो का फल भोगने के लिए पुनर्जन्म होता है । कर्म–फल ही जन्म एवं मृत्यु का कारण है । कर्म–फल से छुटकारा पाने के लिए त्रिरत्न का अनुशीलन आवश्यक है ।

9.4.6 त्रिरत्न (Tri-Gems)

जैन धर्म के प्रमुख सिद्धान्त त्रिरत्न के नाम से जाने जाते है । त्रिरत्न के अन्तर्गत सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक कर्म को गिना जाता है । सम्यक् ज्ञान का अर्थ है जैन धर्म और मुक्ति के विषय में सम्पूर्ण और सच्चा ज्ञान, सम्यक् दर्शन का अर्थ है तीर्थकरों में पूर्ण विश्वास करना और सम्यक् कर्म का अर्थ है कि सम्पूर्ण आचरण, चरित्र व व्यवहार वैसा करना जैसा तीर्थकरों ने बताया है । इन त्रिरत्नों के द्वारा ही मनुष्य कर्म के बन्धनों से मुक्त हो मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है ।

9.4.7 पंच महाव्रत (Panch-Mahavarta)

जैनियों का कहना है कि कर्म के बन्धनों से आत्मा को मुक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा में सांसारिक विष्ज्ञयों का प्रवाह दृढ़ता के साथ रोका जाए । इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सात व्रत बनाये गये है जिनमें से पाँच सबसे अधिक महत्वपूर्ण है – 1. अहिंसा, 2. सत्य बोलना, 3. अस्तेय, 4. ब्रह्मचर्य एवं 5. अपरिग्रह ।

9.4.8. तपस्या का महत्व (Importance of Penance)

जैन धर्म में तपस्या को बहुत अधिक महत्व दिया गया है । जैन मतावलम्बी तपस्या को इंद्रियों को वश में करने का अपूर्व साधन मानते हैं । उनका कहना है कि केवल तपस्या के द्वारा ही मनुष्य इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर सकता है । इसलिए जैन धर्म में अनेक प्रकार की तपस्याओं का विवरण दिया हुआ है । मुख्य रूप से तपस्या के दो प्रकार दिए हुए है – प्रथम ब्राह्य तपस्या जिसमें व्रत, उपवास, अनशन, काया को कष्ट देना और रसों को परित्याग करना सम्मिलित है । दूसरे प्रकार की तपस्या में पापों का प्राश्यश्चित करना, विनय, सेवा, ध्यान और स्वाध्याय सम्मिलित है । केश–लंचन तथा अनशन–व्रत धारण करके प्राण त्यागने को जैन धर्म में सबसे अधिक महत्व दिया जाता है ।

9.4.9 निर्वाण का मार्ग (Way to Salvation)

जैन धर्म में निर्वाण जीव का अन्तिम लक्ष्य है । जैन दर्शन के अनुसार आत्मा और क्रकृति के संपर्क में आने से कुछ ऐसी शक्तियों का निर्माण होता है जिसके कारण मनुष्य को जन्म, मृत्यु आदि जीवन के विभिन्न अनुभवों से गुजरना पड़ता है । यदि आत्मा और प्रकृति को संयुक्त न होने दिया जाये और पहले से संचित शक्तियों को नष्ट कर दिया जाये तो मनुष्य जन्म–मृत्यु से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर सकता है ।

9.4.10 वर्ण–व्यवस्था सम्बन्धी सिद्धान्त (Principles of Relating to Caste System)

जैन धर्म वर्ण–व्यवस्था की निंदा नहीं करता । किन्तु जन्म से निर्धारित वर्ण–प्रथा को अस्वीकार कर इसने कर्म को ही वर्ण एवं जाति का आधार माना । कर्म से ही मनुष्य उच्च अथवा निम्न वर्ग में जन्म लेता है । कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है कर्म से ही व्यक्ति क्षत्रीय, वैश्य एवं शुद्र होता है ।

9.4.11 तीर्थकरो में विश्वास एवं श्रद्धाशक्ति (Faith in Tirthankaras)

जैन धर्म के अनुयायी परमात्मा के अस्तित्व एवं उसकी उपसना में विश्वास नहीं करते हैं । वे तीर्थकरों में श्रद्धा, भक्ति एवं विश्वास रखते है । वे तीर्थकरो को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, निर्ग्रन्थ और ईश्वर के समान मानते है । जैन धर्म देवताओं के अस्तित्व को अस्वीकार करता है लेकिन देवताओं का स्थान 'जिन' से नीचे है । जैन धर्म के अनुयायी तीर्थकरो की पूजा, उपासना और आराधना करते हैं । वे उनके उपदेशों और वचनों को जीवन में कार्यान्वित करते हैं ।

9.4.12 अनेकान्तवाद (Anekaantvad)

जैन धर्म का एक प्रमुख सिद्धान्त अनेकान्तवाद है । इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जीव भिन्न–भिन्न होते हैं, उसी प्रकार उनमें आत्माएँ भी भिन्न–भिन्न होती है । यदि सभी जीवों में केवल एक ही आत्मा होती तो जीव एक–दूसरे से भिन्न नहीं होते । जैन धर्म के अनुसार, सांसारिक जीवन व्यतीत करने वाले और नैतिक, पवित्र और सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले जीव विद्यमान है । वस्तु की आकृति और गुणों में परिवर्तन होता रहता है ।

9.4.13 स्याद्वाद (Syadvad)

स्याद्वाद के अनुसार सत्य के अनेक पहलू है । मनुष्य को सत्य का ज्ञान आंशिक रूप से होता है । अतः दूसरे

के विचार को असत्य करार देना गलत है । यही सिद्धान्त 'स्याद्वाद' कहलाता है । इसके अनुसार, अन्तिम रूप से किसी बात को स्वीकार करना या अस्वीकार करना संभव नहीं है, क्योंकि ज्ञान एक साक्षेप गुण है ।

9.4.14 निवृति की प्रधानता एवं व्यक्ति का स्वतंत्रता (Importance of Relinquishment and Liberty of Indinidual)

संसार में मनुष्य का जीवन विविध तृष्णाओं, वासनाओं और कामनाओं से भरा हुआ है । इसलिए उसे अनेक दुखों का सामना करना पड़ता है । जैन धर्म विभिन्न साधनों द्वारा इंद्रियों को वश में करके आत्मा की शुद्धि कर मोक्ष की प्राप्ति पर बल देता है । इस धर्म में मनुष्य को कर्म के अधीन कर दिया गया है । जैनी लोग ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं और इस बात में विश्वास करते हैं कि ईश्वर नाम की कोई शक्ति नहीं है जो मनुष्य को उसके अपने कर्मो का फल भोगने से मुक्ति दिला सके ।

9.5 जैनधर्म का प्रचार–प्रसार (Publicity of Jain Religion)

प्रारंभ में महावरी और जैन संघ के सदस्यों के प्रयत्नों से जैन धर्म का खूब प्रचार–प्रसार हुआ । महावीर स्वयं भ्रमण कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते थे । उन्होंने अपने उपदेशों का प्रचार जनसाधारण की भाषा में किया । इससे समाज के सभी स्तर के लोग उनके उपदेशों को समझ सकते थे । इस प्रकार उन्होंने अपने धर्म को सभी वर्गो के लोगों में प्रिय बनाने का प्रयास किया । महावीर ने जैन धर्म का द्वार सभी व्यक्तियों के लिए खोल दिये थे । महावीर को अपने जीवन–काल में राजकीय आश्रय और संरक्षण भी प्राप्त हुआ था । उनका पारिवारिक सम्बन्ध मगध और लिच्छवि राजघराने से था । उनके अनुयायियों और सहायकों में बिम्बिसार, अजातशत्रु, मल्ल गणराज्य के शासक, लिच्छवि शासक तथा सामन्त, वत्स और अवन्ति नरेश थे । इन्हीं कारणों से महावीर के जीवनकाल में जैन धर्म अत्यधिक लोकप्रिय हो गया था । जैन अनुश्रुति के अनुसार, चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैन धर्म का प्रचार दक्षिण भारत में किया था । कहा जाता है कि उसने राज्य का त्याग कर दिया और जीवन के अन्तिम वर्ष जैन साधु के रूप में कर्नाटक में बिताये । दक्षिण में जैन धर्म के प्रसार का कारण मगध का अकाल बताया जाता है जो महावीर की मृत्यु के दो सौ वर्ष बाद पड़ा था । तभी अनेक जैन साधु भद्रवाहु के नेतृत्व में दक्षिण चले गये ।

9.6 जैनधर्म के पतन के कारण (Causes of Decline of Jain Religion)

महावीर के जीवनकाल में जैन धर्म का प्रचार–प्रसार होता रहा, किन्तु उनकी मृत्यु के बाद जैन सम्प्रदाय में फूट पड़ गयी । जैन धर्म बौद्ध धर्म की तरह लोकप्रिय नहीं बन सका और न बौद्ध धर्म की तरह तेजी से फैला ही । इस कारण इसका पतन शीघ्र हो गया । इसके पतन के निम्नलिखित कारण थें –

9.6.1 विलासप्रियता (Luxuriousness)

धीरे–धीरे जैन धर्म का पतन आरंभ हो गया इसके सबसे मुख्य कारण था – संघ के निःस्वार्थ और त्यागी भिक्षुओं का विलासप्रिय हो जाना । धीरे–धीरे भिक्षुओं को धर्म–प्रसार से अधिक अपने विलास का ध्यान रहने लगा जिससे जैन धर्म का पतन प्रारंभ हो गया ।

9.6.2 राज्याश्रय की समाप्ति

कुछ समय बाद जैन धर्म को राज्याश्रय भी मिलना बन्द हो गया, क्योंकि मुस्मिलों के अत्याचारों से आक्रांत हिन्दू जाति को इस समय अहिंसाप्रिय धर्म की आवश्यकता नहीं थी । वह तो शक्ति की पूजा करने लगी थीं ।

9.6.3 शक्ति का विच्छिन्न हो जाना

जैन धर्म के पतन का एक मुख्य कारण अनेक सम्प्रदायों में उसका विभाजन भी माना जाता है । जैन धर्म अनेक भागों में बंट गया जिसके कारण उसकी शक्ति विच्छिन हो गई तथा हिन्दू धर्म के समान ही जटिल होती गई । हिन्दू धर्म के समान ही कालान्तर में जैन धर्म में अनेक दोष उत्पन्न हो गये ।

9.6.4 हिन्दू धर्म का पुनरूत्थान (Re-upliftment of Hindu Religion)

पुनरूत्थान के बाद हिन्दू धर्म इतना आकर्षण बन गया कि सब लोगों ने इसे अपनाना प्रारंभ कर दिया । जब हिन्दू धर्म की बुराईयाँ दूर हो गई तब जैन धम्र और बौद्ध धर्म का पतन तो निश्चित ही था । 11वीं और 12वीं शताब्दियों में कई सम्राटों ने जैन धर्मावलम्बियों पर अत्याचार करके हिन्दू धर्म का पोषण किया ।

9.7 जैनधर्म की देन (Contribution of Jain Religion)

यद्यपि कठोर आचार–संहिता जैन धर्म के व्यापक प्रचार में बाधक सिद्ध हुई, फिर भी इसने परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप से भारतीय संस्कृति तथा विचारधारा को प्रभावित किया ।

जैन दर्शन व्यापक और विस्तृत है । दर्शन के क्षेत्र में 'स्याद्वाद' और 'अनेकान्तवाद' का सिद्धान्त बिल्कुल ही मौलिक देन है । जैन दर्शन जहाँ एक ओर अति व्यापक है, वहीं दूसरी ओर गंभीरता से युक्त है । इस दर्शन में जहाँ एक ओर व्यष्टि की उन्नति की ओर ध्यान दिया गया है, वहाँ दूसरी ओर समष्टि के कल्याण की कामना भी की गई है ।

जैन धर्म का अहिंसा का सिद्धान्त कोई नवीन सिद्धान्त नहीं है, किन्तु जैन धर्म में वैदिक धर्म की अपेक्षा अहिंसा पर अधिक बल दिया गया है । महावीर का सिद्धान्त था कि किसी भी जीव को कष्ट नहीं देना चाहिए । जैन धर्म के इस अहिंसा के सिद्धान्त का व्यापक प्रसार हुआ । अहिंसा का प्रचार जितना जैन धर्म के कारण जनता में हुआ, उतना और किसी अन्य धर्म के कारण नहीं हुआ । अतः अहिंसा के क्षेत्र में इस धर्म की महान देन है । आत्मवादिता, कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त भी जैन धर्म के दर्शन की विशेषताएँ हैं ।

धर्म और दर्शन के अतिरिक्त कला के क्षेत्र में भी जैनियों की महत्वपूर्ण देन है । जैनों ने अनेक मन्दिरों, मूत्तियों और चित्रों का निर्माण किया जो कला के उत्कृष्ट नमूने हैं । उदयगिरी की टाइगर केव और एलोरा की इन्द्रसभा विशेष रूप से उल्लेखनीय है । श्रवणबेलगोला में गोमतेश्वर की 70 फीट ऊँची मूर्त्ति की रचना ग्रेनाइट पत्थर को काटकर की गई है । खजुराहों और आबू के जैन मन्दिर कला के उत्तम नमूने हैं । दक्षिण भारत के राजयों ने भी इस कला को अत्यधिक पल्लवित किया । इस युग में मध्यप्रदेश तथा बुन्देलखण्ड में अनेक जैन कला–कृतियों का सृजन हुआ । चित्तौड़ का जैन विजय–स्तम्भ कला के दृष्टिकोण से उच्चकोटि का माना जाता है ।

जैनियों ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए ब्राह्मणों की भाषा संस्कृत की जगह जनता की प्राकृत भाषा को अपनाया । इससे प्राकृत भाषा और साहित्य का विकास हुआ । प्राकृत भाषा से अनेक प्रान्तीय भाषाओं का जन्म हुआ । जैनों की अधिकांश रचनाएँ शैरसेनी प्राकृत में हैं । शैरसेनी से ही आगे चलकर हिन्दी और मराठी भाषाएँ विकसित हुई । उन्होंने महाकाव्यों, पुराणों, कथानकों और नाटकों की रचना कर साहित्य को समृद्ध किया । आरम्भिक मध्य युग में अनेक जैन ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये थे । तमिल साहित्य की प्रसिद्ध कविता 'जीवक चिन्तामणि' जैनियों की देन है । संस्कृत भाषा में जैन विद्वानों ने वर्णनात्मक और दार्शनिक ग्रंथ लिखे ।

बोध प्रश्न

1. महावीर जैन की जीवनी और शिक्षाओं का वर्णन कीजिए ।
2. जैन धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख करें ।
3. जैन धर्म के सीमित प्रसार एवं पतन के कारणों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करें एवं भारतीय संस्कृति के प्रति उनके योगदान पर प्रकाश डालें ।
4. कर्म एवं पूर्वजन्म के सिान्त से आप क्या समझते हैं ?

* * * * *

अध्याय- 10

जनपद एवं महाजनपद

10.0 उद्देश्य (Aims)

10.1 प्रस्तावना (Introduction)

10.2 जानकारी के स्रोत (Sources of Knowledge)

10.3 जनपद

10.4 समाज की श्रेणियाँ (Categorization of Society)

10.4.1 गहपति

10.4.2 व्यापारी (Traders)

10.4.3 शासक और शासित (Ruler and Ruled)

10.5 महाजनपद

10.5.1 बस्तियों के प्रकार (Kinds of Colones)

10.5.2 ग्रामीण जीवन (Village Life)

10.5.3 कस्बे सह शहरी जीवन (Urban Life)

10.5.4 सोलह महाजनपद

बोध प्रश्न

10.0 उद्देश्य (Aims)

इस इकाई को पढ़ने के बाद यह जान पाएगें कि –

- छठी शताब्दी ईसा पूर्व के समाज की क्या स्थिति थीं ।
- जनपद काल के बस्तियों के प्रकार को जान सकेंगे ।
- जनपद काल के समाज के विभिन्न श्रेणियों की क्रिया–कलापों से अवगत होंगे ।
- महाजनपद काल के विभिन्न विशेषताओं को जान सकेंगे तथा सभी सोलह महाजनपद से अवगत होंगे ।

10.1 प्रस्तावना (Introduction)

ईसा पूर्व छठी सदी में भारत में राजतंत्रात्मक एवं गणतंत्रात्मक राज्य मौजूद थे । लेकिन उस समय समस्त भारत

में एक दृढ़ केन्द्रीय सार्वभौम सत्ता का अभाव था । देश में विकेन्द्रीयकरण की प्रवृति विद्यमान थी । उस समय कोई ऐसा शकितशाली विशाल साम्राज्य नहीं था जो सम्पूर्ण भारत को एक राजनीतिक सूत्र में बांध सकता था और एक केन्द्र से सम्पूर्ण भारत का शासन चला सकता । इसके विपरीत, उस समय कश्मीर से बंगाल तक सोलह राज्य थे, जो महाजनपद कहलाते थे । सार्वभौम केन्द्रीय सत्ता के अभाव में इन राज्यों में परस्पर संघर्ष चल रहा था और धीरे–धीरे साम्राज्यवादी प्रवृति का प्रादुर्भाव हो रहा था । शक्तिशाली राज्य अपनी शक्ति, सीमा और प्रभाव के विस्तार में संलग्न थे तथा छोटे एवं निर्बल राज्यों को अपने में मिलाने के प्रयास कर रहे थे । अपनी सार्वभौम सत्ता स्थापित करने के लिए बड़े राज्यों में होड़ चल रहा था ।

सभी शक्तिशाली राज्य सम्पूर्ण उत्तरी भारत में अपना एकछत्र साम्राय स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे । जब इन राज्यों में संघर्ष आरम्भ हुआ तो पहले राजतंत्रात्मक राज्यों ने गणतंत्रात्मक राज्यों को समाप्त कर दिया और जब राजतंत्रात्मक राज्यों में सार्वभौम सत्ता के लिए संघर्ष आरम्भ हुआ तब मगध के राज्य ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया ।

10.2 जानकारी के स्रोत (Sources of Knowledge)

जनपदों और महाजनपदों के विषय में जानकारी कुछ वैदिक तथा कुछ बौद्ध साहित्य से प्राप्त होती है । ब्राह्मण स्रोत एक वैदिक ग्रंथ का उल्लेख करते हैं जिसमें वैदिक अनुष्ठान के तरीकों का उल्लेख है । इसी प्रकार दार्शनिक समस्याओं को रेखांकित करने वाले उपनिषदों को भी वैदिक साहित्य का अंग माना जाता है । इसमें कई जनपदों और महाजनपदों का उल्लेख है जिससे हमें खेतिहर समुदायों की बस्तियों के विषय में विभिन्न जानकारी मिलती है । इस युग के विषय में जानकारी का एक अन्य स्रोत बौद्धों द्वारा रचित साहित्य है ।

इन ग्रंथों में विभिन्न क्षेत्रों तथा भौगोलिक विभाजनों के स्पष्ट उल्लेख मिलते है । इसका अर्थ यह हुआ कि इस युग के प्रति हमारी जानकारी में पुरातत्वशास्त्री भी काफी योगदान करते हैं । उन्होंने अहिक्षेत्र, हस्तिनापुर, कोशाम्बी, उज्जैन, श्रावस्ती, वैशाली तथा अन्य कई स्थलों की खुदाई की है जिनका इस ग्रंथों में उल्लेख है । उन्होंने यहाँ के लोगों द्वारा प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं, घरों, इमारतों, कस्बों आदि के अवशेष प्राप्त किए है । पूर्वकालीन बस्तियों में लोग या तो लोहे के इस्तेमाल से अनभिज्ञ थे अथवा इसे विशेष अवसरों पर ही इस्तेमाल करते थे । छठी शताब्दी ईसा पूर्व में लोगों ने लोहे का इस्तेमाल बड़े पैमाने पर करना आरंभ किया । सम्पन्न खेतिहर बस्तियां और कस्बे भी खुदाई के दौरान पाए गए है । इस प्रकार पुरातात्विक और साहित्यिक स्रोतों की मिली–जुली जानकारी से हमें छठी शताब्दी ई0 पू0 तथा चौथी शताब्दी ई0 पूर्व के बीच के भारतीय समाज की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त हो जाती है ।

10.3 जनपद

समकालीन ग्रंथों से सुव्यवस्थित भौगोलिक क्षेत्रों में समाज तथा अर्थव्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों की ओर संकेत मिलता है । इस समय के साहित्य में बस्तियों की विभिन्न इकाइयों का उल्लेख मिलता है । इनमें महाजनपद, जनपद, नगर, निगम, ग्राम आदि मुख्य है ।

जनपद, जिसका शाब्दिक अर्थ है ''जहाँ लोग अपने पैर रखते हैं ।'' इस युग के ग्रंथों में अक्सर उल्लेखित है । वैदिक समाज में इसका अर्थ होता है ''एक कुल के सदस्य ।'' आरंभिक वैदिक समाज में जन के सदस्य पशु–पालक समूह होते थे जो कि चारागाहों की तलाश में विचरण किया करते थे । लेकिन उत्तरकालीन वैदिक चरण में जन सदस्यों ने खेती आरंभ किया और स्थायी रूप से बसने लगे । यह खेतिहर बस्तियां जनपद कहलाती थीं । उदाहरण के लिए दिल्ली एवं ऊपरी उत्तरप्रदेश कुरू एवं पांचाल जनपद कहे जाते थे, जो प्रभुत्ववान क्षत्रिय वंशों के नाम थे । उनके एक स्थान पर बस जाने पर खेती का विस्तार, विशेषकर लोहे की कुल्हाड़ियों एवं हल के फलों के इस्तेमाल द्वारा आरंभ हो जाता था । इन लोहे के औजरों से पूर्व–शताब्दियों के किसानों के ताम्र एवं पत्थर की कुल्हाड़ियों की अपेक्षा अब अधिक

सुविधा से जंगलों की सफाई की जा सकती थी तथा खुदाई अधिक गहरी हो सकती थी । मध्य गांगेय घाटी, जो कि इलाहाबाद के पूर्व की ओर का क्षेत्र है, धान की फसल के लिए उपयुक्त थी । धान की प्रति एकड़ की उपज की दर गेहूं की तुलना में कहीं अधिक थी । इसके कारण धीरे–धीरे खेती एवं जनसंख्या में बढ़ोत्तरी होना अवश्यंभावी था । वंशों के मुखिया के पास एक–दूसरे से युद्ध के दौरान सुरक्षा तथा लूट–पाट के लिए काफी कुछ था । बलि समारोहों को भव्य रूप देने के उद्देश्य से भी लूट–खसोट की उनकी इच्छाएं तीव्र होने लगी थीं । इसके कारण विस्तृत क्षेत्रीय इकाइयों का गठन आरंभ हो गया । इसमें से एक मुख्य परिवर्तन खेतिहर समुदायों का फैलाव था । इसकी जानकारी इस तथ्य से प्राप्त होती है कि समकालीन ग्रंथों में खेतिहर जमीन को महत्वपूर्ण सम्पत्ति बताया गया है । इन ग्रंथों में चावलों की किस्मों पर उतने ही विस्तार से व्याख्या की गई है, जितने विस्तार से वैदिक ग्रंथों में गाय की किस्मों पर की गई है ।

10.4 समाज की श्रेणियाँ (Categorizetion of Society)

एक अत्यंत महत्वपूर्ण परिवतर्न समाज में नई श्रेयियों एवं समूहों का उदय था ।

10.4.1 गहपति

गहपति भू–सम्पन्न पारिवारिक इकाई का मालिक होता था । कहा जाता है कि एक ब्राह्मण गहपति के पास इतनी जमीन थी कि उसे जमीन की जुताई के लिए पाँच सौ हलों की आवश्यकता होती थी । उत्तर वैदिक समाज में ''विस'' खेतिहर गतिविधियाँ सम्पन्न करता था । भूमि कुल की सामूहिक सम्पत्ति होती थी । खेतिहर समाज के उदय के साथ जमीन सम्पत्ति का महत्वपूर्ण हिस्सा बन गई । क्षत्रिय एवं ब्राह्मणें के शासक कुलो ने इसे अपने नियंत्रण में कर लिया । इन समूहों से गहपति का उदय हुआ जो सामूहिक मिलकियत के बिखराव और बड़े व्यक्तिगत भू–स्वामी के उदय का प्रतीक था । गहपति अपनी जमीन पर फसल उगाने का काम दास, कर्मकार तथा शूद्रों द्वारा करवाते थे । युद्ध के दौरान बंदी बनाए गए लोग दास बना लिये जाते थे । जनजातियों के गरीब सदस्य भी मजदूर बन जाते थे । आश्रित मजदूरों का प्रयोग एक ऐसे वंचित वर्ग के उदय का सूचक था जिसका श्रम अतिरिक्त खाद्य उत्पादन के लिए किया जाता था । खेतिहर उत्पादन शूद्र अथवा दास को न मिलकर गहपति को मिलता था ।

10.4.2 व्यापारी (Traders)

एक महत्वपूर्ण व्यापारी वर्ग का उदय संभवतः गहपति वर्ग से ही हुआ । उत्पादनों को बेचकर इन्होंने धन इकट्ठा कर लिया, जिसे व्यापार के लिए इस्तेमाल किया गया । बौद्ध स्रोतों में व्यापारियों के लिए एक शब्द, जिसका बार–बार प्रयोग किया गया है, वह ''सेठी'' है जिसका अर्थ ''जिसके पास सर्वोत्तम हो'' है । इससे यह सिद्ध होता है कि धन का लेनदेन करने वाले व्यक्तियों को समाज में काफी प्रतिष्ठा एवं शक्ति प्राप्त हो गई थी । ब्राह्मणों के ग्रंथों में सामान्यतः व्यापारियों एवं वैश्यों, जो कि व्यापारी वर्ग था, को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है । छठी शताब्दी तक व्यापार एवं वाणिज्य आर्थिक गतिविधियों का एक स्वतंत्र क्षेत्र बन चुका था । व्यापारी शहरों में रहते थे । यह व्यापारी काफी विस्तृत क्षेत्र में अपना व्यापार फैलाए हुए थे । विभिन्न प्रदेशों में व्यापार फैलाकर इन्होंने यह संभावना तैयार कर दी, कि राजा व्यापारियों द्वारा घूमे गए क्षेत्रों को अपने नियंत्रण में करने का प्रयास करें । इस प्रकार छठी शताब्दी तक किसानों एवं व्यापारियों का एक मुक्त वर्ग अस्तित्व में आ गया था । इन्होंने पूर्व स्थिति के विपरीत, स्वयं को कुल के अन्य सदस्यों के साथ अधिशेष खाद्य अथवा धन बांटे जाने की बाध्यता से मुक्त कर लिया । इस काल में खेती में प्रयुक्त होने वाले मवेशियों, भूमि तथा उसके उत्पादन के रूप में निजी सम्पत्ति एक शक्तिशाली आर्थिक वास्तविकता बन गई ।

10.4.3 शासक और शासित (Ruler and Ruled)

सामाजिक–आर्थिक क्षेत्र में विकास के साथ–साथ महाजनपदों के राजनैतिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुए । पूर्व काल में राजा शब्द का प्रयोग कुल के मुखिया के लिए होता था । इसके विपरीत, छठी शताब्दी ईसा पूर्व के स्रोतों में राजाओं का उल्लेख राजा के विशिष्ट क्षेत्र में शासन करने, नियमित कर वसूली की व्यवस्था तथा सेना होने के साथ होता है । किसानों जो राजा को कर देते थे तथा एक सेना का उल्लेख भी मिलता है । अब किसान तथा सेना किसी

भी रूप में राजा के संगोत्र नहीं होते थे । अब राजा तथा प्रजा के बीच भिन्नता स्पष्ट हो चुकी थी । प्रजा में गैर–वंशी समूह भी होते थे । सेना के मौजूद होने का अर्थ स्थानीय किसानों पर बलपूर्वक नियंत्रण तथा पड़ोसी राजाओं एवं जनता से निरंतर झगड़े होते रहना था । पूर्वकालीन मवेशियों के लिए छापामारी के स्थान पर अब संगठित धावे बोलकर क्षेत्रों को हड़प लेना तथा किसानों एवं व्यापारियों से बलपूर्वक कर वसूल करना आरंभ हो चुका था । कर वसूली के लिए नियुक्त कर्मचारियों का उल्लेख बार–बार मिलता है । खेतिहार उत्पादन से भाग वसूली के लिए भगदुध नाम से एक होने का उल्लेख मिलता है । जातकों में राजा के अनाज गोदाम में भेजने के लिए राजकर्मियों द्वारा अनाज तौलने का उल्लेख मौजूद हैं । अधिकतर स्थानों पर महाजनपदों का नामकरण क्षत्रिय कुल के नाम के आधार पर नहीं होता था । जैसे, कौशल, मगध, आवंती तथा वत्स किसी क्षत्रीय वंश के नाम पर आधारित नहीं है । सेना का वेतन किसानों से वसूले गए राजस्व द्वारा दिया जाता था । जनजातियां सुदूर क्षेत्र में युद्ध नहीं कर सकती थी तथा सेना की आवश्यकता हेतु नियमित कर देना उनके लिए मान्य न होता । राजा के लिए गौरव तथा शक्ति की दृष्टि से यह सबकुछ आवश्यक था । राजा की शक्ति जनजाति के अपने साथियों के बीच धन के बंटवारे पर आधारित नहीं थी । अब राजा की शक्ति संबद्ध वंश समूहों को तोड़ने तथा धनोत्पादन में सक्षम व्यक्तियों एवं समूहों को मान्यता देने पर आधारित थी । इस प्रकार मुखिया द्वारा मनमाने ढंग से धन ले लेना स्वीकार न किया जाता । मुखिया के स्थान पर आसीन राजा किसानों एवं व्यापारियों से कर वसूल करता था तथा उन्हें आंतरिक एवं बाह्य हमलों के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करता था ।

10.5 महाजनपद

बुद्ध के जन्म के पूर्व लगभग छठी शताब्दी ई0 पू0 में भारत वर्ष 16 महाजनपदों में बंटा हुआ था, जिसका उल्लेख हमें बौद्ध ग्रंथ के 'अंतुत्तरनिकाय' में मिलता है ।

उपर्युक्त महाजनपद दो प्रकार के थे – राजतंत्रात्मक राज्य एवं गणतंत्रात्मक राज्य । अंग, मगध, काशी, कोशे, वेदि, वत्स, कुरू, पांचाल, मत्स्य, शूरसेन अश्मक, अवन्ति, गान्धार तथा कम्बोज राजतंत्रात्मक राज्य थे जबकि वज्जि और मल्ल गणतंत्र थे । ऐसे राज्यों का शासन राजा द्वारा न होकर गण अथवा संघ द्वारा होता था । आधुनिक काल में गणतंत्र प्रजातंत्र का समानार्थी है किन्तु प्राचीन काल के गणतंत्र को आधुनिक अर्थ में कुलीनतंत्र या निरंकुश तंत्र कह सकते हैं क्योंकि इसमें शासन की शक्ति सम्पूर्ण जनता के हाथों में न होकर किसी कुल विशेष के प्रमुख व्यक्तियों के हाथों में होती थी ।

10.5.1 बस्तियों के प्रकार (Kinds of Colonies)

नई राजनैतिक–भौगोलिक इकाइयां, जिनमें गहपति, व्यापारी तथा शासक एवं शासित के बीच संबंध के नए प्रतिमान दिखाई पड़े, महाजनपद कहलाए । महाजनपद का तात्पर्य मगध, कौशल आदि ऐसे विशाल जनपदों से था जिनपर शक्तिशाली राजा अथवा अभिजात वर्ग राज करते थे । दरअसल छठी शताब्दी ईसा पूर्व में कई महाजनपद पूर्व काल में स्वायत्त जनपदों को मिलाकर बने । जैसे, कौशल महाजनपद में साक्य, काशी तथा मगध महाजनपद में इसके साम्राज्य बनने से भी पहले अंग, वाजी आदि जनपद शामिल हो चुके थे । समकालीन बौद्ध ग्रंथों में इए समाज का प्रतिबिंबन जीवन कथाओं में देखा जा सकता है । इतिहासकार इन कथाओं को उस युग के मानवों की आशाओं, अभिलाषाओं, संघर्षो तथा सामाजिक माहौल को समझने के लिए पढ़ते हैं ।

10.5.2 ग्रामीण जीवन (Village Life)

महाजनपदों में मूल बस्तियां की इकाइयां गांव थी । यह ग्राम लोगों की चलती–फिरती इकाइयाँ होती थीं और जब दो गांव आस–पास पहुँच जाते थे तो संग्राम अथवा युद्ध होता था । चलती–फिरती इकाइयां होने के कारण जब दो शत्रुता रखने वाले गांव मिलते थे तो एक–दूसरे के मवेशी छीनने का प्रयास करते थे । छठी शताब्दी ईसा पूर्व के गांव ऐसी मानवीय बस्तियां थी, जहाँ के लोग खेती करते थे । गांव छोटे और बड़े, दोनों ही प्रकार के हाते थे जहां एक परिवार भी बस सकता था और कई परिवार एक साथ भी । ऐसा प्रतीत होता है कि परिवार एक ही गोत्र से जुड़े होते थे और

सारा गांव एक–दूसरे से नातेदारी से जुड़ा होता था । किन्तु बड़े पैमाने पर जमीन रखने वाले परिवारों के उदय तथ उनके दास, कर्मकार तथा पोरिस रखने के साथ ही गैर–सगोत्री गांव अस्तित्व में आया । भू–स्वामित्व एवं विभिन्न प्रकार के काश्तकारी अधिकार के भी उल्लेख मिलते हैं । कसक तथा क्षेत्रिका शब्दों का प्रयोग शूद्र जाति के आम किसानों के लिए होता था । ग्राम नेता ग्रामिणी कहा जाता था । सिपाहियों, हाथियों तथा अश्व प्रशिक्षकों एवं मंच प्रबंधकों को भी गामिणी कहा जाता था । कृषि के अतिरिक्त अन्य कलाओं में गांवों द्वारा विशिष्ट कौशल प्राप्त करना बढ़ते हुए व्यापार तथा सम्पन्न अर्थव्यवस्था का सूचक है । इसका कारण यह है कि जो ग्रामीण स्वयं अन्न नहीं उगाते थे, वे अन्य ग्रामीणों से अन्न प्राप्त करते रहे होंगे । कलाओं में उनकी विशिष्ट दक्षता से भी इस दिशा में संकेत मिलता है कि उन शिल्पकारों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की काफी माँग रही होगी ।

10.5.3 कस्बे सह शहरी जीवन (Urban Life)

इस काल में नई प्रकार की बस्तियों के रूप में राजाओं तथा व्यापारियों द्वारा नियंत्रित किन्तु विजातीय जनसंख्या वाले कस्बों और शहरों का उदय हुआ । यह इकाइयां पुर, निगम तथा नगर के रूप में अलग–अलग प्रकार से उल्लेखित की जाती रही हैं । इन बस्तियों के बीच अंतर स्पष्ट नहीं है । यह कस्बे और शहर गांवों की अपेक्षा काफी बड़े हुआ करते थें । समकालीन साहित्य में अयोध्या तथा वाराणसी जैसे शहरों का उल्लेख मिलता है, जिनका क्षेत्रफल तीस वर्ग किलोमीटर से पचास वर्ग किलोमीटर के बीच बताया जाता है । इतिहास के इस चरण का उत्तर काले पॉलिश किए मृद्भांड जैसे उत्कृष्ट बर्तनों का इस्तेमाल करने वाली इन बस्तियों से हैं । इन बस्तियों में व्यापार तथा जनसंख्या में निरंतर वृद्धि होती रही । कौशाम्बी, उज्जैनी, राजघाट तथा राजगीर शहरों के चारों ओर सख्त किलेबंदी के प्रमाण मिले हैं । साहित्य मे मिले उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शहरों का उदय शक्ति के केन्द्र तथा महाजनपद पर नियंत्रण के रूप में परिलक्षित हुआ । राजा शहरों से शासन करते थे । नवोदित व्यापार वर्ग, विशेषकर सिक्के का प्रयोग आरंभ होने के बाद इन्हीं केन्द्रों में रहकर व्यापार नियंत्रित करते थे ।

10.5.4 सोलह महाजनपद (Sixteen Mahajanapadas)

काशी (Kashi) – उत्तर प्रदेश के दक्षिण–पूर्व में काशी जनपद स्थित था । इसकी राजधानी वाराणसी थी । इस काल में यह नगर उत्तर भारत के नगरों में प्रमुख था और अपने वैभव, ज्ञान, वाणिज्य–व्यापार एवं शिल्प के लिए प्रसिद्ध था । राजा ब्रह्मदत्त के शासनकाल में इसकी गणना शक्तिशाली राज्यों में की जाने लगी ।

कौशल (Kaushal) – यह जनपद उत्तर प्रदेश के मध्य उत्तरी भाग में स्थित था । महाकाव्य युग में इसकी राजधानी अयोध्या थी, किन्तु आगे चलकर इसकी राजधानी श्रावस्ती हो गी । बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि श्रावस्ती नगर ताप्ती नदी के किनारे बसा हुआ था और वाणिज्य–व्यापार की दृष्टि से काफी समृद्धिशाली था । अयोध्या का महत्व इस समय घट चुका था और कोशल राज्य का पूर्व भाग धीरे–धीरे स्वतंत्र हो गया तथा इस भाग में गणतंत्र राज्य की स्थापना हो गयी । कोशल का संघर्ष राजा प्रसेनजित के समय में काशी से हमेशा चलता रहा और बौद्ध ग्रंथों से पता चलता है कि कोशल राज्य में कई शक्तिशाली राजा हुए जिन्होंने काशी के जनपद का अस्तित्व समाप्त कर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया । इनके समय में श्रावस्ती शक्तिसम्पन्न एवं वैभवशाली नगर समझा जाता था । उस युग में वह व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था ।

अंग (Anga) – अंग जनपद बिहार राज्य के पूर्वी भाग में स्थित था । वर्तमान भागलपुर का चम्पानगर इसकी राजधानी थी । उस युग में चम्पानगर व्यापार तथा वाणिज्य का महत्वपूर्ण केन्द्र था । यह मगध राज्य की सीमा पर स्थित था । यह कला, संस्कृति और सभ्यता के क्षेत्र में आगे बढ़ा हुआ था । इस राज्य की विशेष प्रगति हुई थी, किन्तु बाद में जब इसका संघर्ष मगध जनपद से होने लगा तब इसकी शक्ति क्षीण होने लगी और कालान्तर में मगध ने इसे पराजित कर दिया । मगध सम्राट बिम्बिसार ने इसे जीतकर अपने राज्य में मिला दिया ।

मगध (Magadha)– मगध का राज्य वर्तमान बिहार के पटना तथा गया जिलों के स्थन पर स्थित था । गिरिब्रज या राजगृह इसकी प्रथम राजधानी थी। बृहद्रथ ने सर्वप्रथम इसके वैभव को बढ़ाया था । बृहद्रथ के अतिरिक्त जरासंध

भी यहाँ का प्रसिद्ध राजा था । बिम्बिसार और अजातशत्रु के समय में मगध का उत्कर्ष चरम सीमा पर था । उसके समय में एक–एक करके सभी पड़ोसी राज्य इसी में मिला लिये गये ।

चेदि (Chedi)– दक्षिण में स्थित यह एक प्राचीन जनपद था । यह जनपद बुन्देलखण्ड तथा इसके आस–पास के क्षेत्रों में फैला हुआ था । इसकी राजधानी शक्तिमती थी जो केन नदी के किनारे स्थित थी । शिशुनाग के शासनकाल में इस राज्य ने विशेष प्रगति की । किन्तु उसकी मृत्यु के बाद इस राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया । इस वंश की एक शाखा ने कलिंग देश में प्रवेश कर वहाँ एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की । समकालीन साहित्य के आधार पर इस बात का पता चलता है कि कलिंग राज्य एक बहुत ही शक्तिशाली राज्य था । मौर्यवंश के शासक अशोक ने कलिंग नरेश को पराजित किया, जिसमें धन–जन की अपार क्षति हुई ।

वज्जि (Vajji)– वज्जि राज्य में आठ कबीले सम्मिलित थे । इनमें लिच्छवि, विदेह और ज्ञात्रिक महत्वपूर्ण थे । विदेह की राजधानी मिथिला, लिच्छवियों की राजधानी वैशाली और ज्ञात्रिकों की राजधानी कुण्डलग्राम थी । आधुनिक बिहार के अन्तर्गत ये सारे राज्य आते थे । महाभारत में मल्ल के दोनों राज्यों का उल्लेख है ।

मल्ल (Malla)– मल्ल राज्य का संघीय प्रजातंत्रात्मक राज्य था । इस राज्य में मल्लों की दो शाखाएँ थीं–एक कुशीनगर की मल्ल शाखा और दूसरी पावा की मल्ल शाखा । ऐसा विश्वास किया जाता है कि आधुनिक गोरखपुर के निकट कसिया ही तत्कालीन कुशीनगर था और कसिया से बारह मील उत्तर की ओर स्थित प्रदोण ही तत्कालीन पावा था । इन स्थानों का धार्मिक महत्व भी है । पावा में ही बुद्ध ने अन्तिम भोजन किया था तथा वहीं वे बीमार भी पड़ें । कुशीनगर में उनकी मृत्यु हुई थी । मल्ल जाति के लोग बड़े ही वीर होते थे ।

वत्स (Vatsa)– यह चेदि राज्य के उत्तर–पूर्व में यमुना नदी के किनारे स्थित था । इसकी राजधानी कौशाम्बी थी जो इलाहाबाद से लगभग 80 मील दूर थी । यह एक मुख्य व्यापारिक केन्द्र था ं यहाँ उदयन नाम का बड़ा प्रतिभाशाली राजा हुआ ।

कुरू (Kuru)– कुरू राज्य के अन्तर्गत वर्तमान दिल्ली और मेरठ के पड़ोस के प्रदेश आते थे । कुरू की राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी । एक जातक के अनुसार इसमें 300 संध थे । जैन सूत्रों के अनुसार, इक्ष्वाकु नामक राजा कुरू देश का राजा था । यहाँ पहले राजतंत्र शासन था पर बाद में गणतंत्र स्थापित हो गया था । महात्मा बुद्ध के समय यहाँ गणतंत्र था और इसका प्रताप क्षीण हो गया था ।

पांचाल (Panchala)– आधुनिक रूहेलखण्ड तथा उसके कुछ जिले पांचाल राज्य में आते थे । पांचाल राज्य दो भागों में विभक्त था–उत्तरी पांचाल तथा दक्षिणी पांचाल । उत्तरी पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिणी पांचाल की राजधानी काम्पिल्य थी । प्रारंभ में यहाँ भी राजतंत्र था, किन्तु बाद में गणतंत्र की स्थापना हुई ।

मत्स्य (Matsya)– मत्स्य राज्य कुरू राज्य के दक्षिण और यमुना नदी के पश्चिम में था । इसकी राजधानी विराटनगर थी । महाभारत के अनुसार शहाज नामक राजा ने चेदि तथा मत्स्य पर शासन किया था । पहले मत्स्य का राजा चेदि के अधीन हो गया था ।

सूरसेन (Sursen)– मत्स्य राज्य के दक्षिण में सूरसेन राज्य था । मथुरा यहाँ की राजधानी थी । बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार अवन्तिपुत्र वहाँ का राजा था । अवन्तिपुत्र बुद्ध का समकालीन था । यहाँ पर पहले गणतंत्र राज्य था, बाद में राजतंत्र स्थापित हो गया था ।

अस्सक (Assaka)– यह राज्य गोदावरी नदी के तट पर स्थित था । इसकी राजधानी पोतन या पोतली थी । प्राग्बौद्ध काल में अवन्ति से इसका संघर्ष हुआ और कुछ समय पश्चात् यह अवन्ति के अधी हो गया ।

अवन्ति (Awanti)– प्राचीनकाल का अवन्ति वर्तमान भारत का मालवा प्रान्त था । अवन्ति के दो प्रमुख भाग

थे–उत्तरी अवन्ति तथा दक्षिणी अवन्ति । उत्तरी अवन्ति की राजधानी उज्जयिनी तथा दक्षिणी अवन्ति की महिष्मती थी । बुद्ध के समय अवन्ति में चण्डप्रद्योत राजा था । उसने कोशाम्बी के राजा उदयन से कई बार लोहा लिया परन्तु अन्त में अपनी पुत्री का विवाह उदयन से करके शान्ति स्थापित कर ली । बाद में वह महात्मा बुद्ध का अनुयायी हो गया था ।

गान्धार (Gandhar)– यह आधुनिक अफगानिस्तान का पूर्वी भाग था । इस राज्य में तक्षशिला, कश्मीर तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश सम्मिलित थे । इसकी राजधानी तक्षशीला थी । तक्षशिला का व्यापारिक एवं सांस्कृतिक महत्व था । यह शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र था । यहाँ का पुमकूशाली नामक राजा महात्मा बुद्ध का अनुयायी हो गया था ।

कम्बोज (Kamboj)– बौद्ध ग्रन्थों में गांधार और कम्बोज का नाम साथ–साथ आता है । अतएव यह कहा जा सकता है कि यह राज्य गांधार का पड़ोसी राज्य था । कदाचित इसकी सीमा गान्धार के उत्तरी–दक्षिणी भाग पर थी । इसकी राजधानी हाटक या राजपुर थी । कालान्तर में यहाँ भी गणतंत्रात्मक व्यवस्था स्थापित की गयी ।

बोध प्रश्न

1. जनपद और महाजनपद के जानकारी के स्रोतों का वर्णन करें ।
2. महाजनपद काल की बस्तियाँ के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करें ।
3. महाजनपद काल के लोगो की शहरी जीवन की विशेषताओं की विवेचना करें ।
4. प्राचीन भारत में सोलह महाजनपद राज्यों में कौन–कौन गणतांत्रिक राज्य थे ?

* * * * *

अध्याय- 11

छठी सदी ई०पू० में नगरीय केन्द्रों का उदय

(Rise of City Centres in Sixth Century BC)

11.0 उद्देश्य (Aims)

11.1 प्रस्तावना (Introduction)

11.2 नगर केन्द्र क्या हैं ? (What are City Centre)

11.3 छठी शताब्दी ई0 पू0 की पृष्ठभूमि (Background of 6th Century BC)

11.4 छठी शताब्दी ई0 पू0 के नगर (Cities of 6th Century BC)

11.4.1 साहित्य में नगरों के प्रकार (Types of Cities in Literature)

11.4.2 प्राचीन भारत में नगर की भूमिका (Role of City in Ancient India)

11.4.3 नगरीय यात्रा का क्रियाकलाप (Agenda of City Journey)

बोधप्रश्न

11.0 उद्देश्य (Aims)

इस इकाई को पढ़ने के बाद यह जान पाएगें कि –

- छठी शताब्दी ई0 पू0 के दौरान नगरीकरण किस प्रकार हुआ ?
- छठी शताब्दी ई0 पू0 के नगर का अस्तित्व किस प्रकार के थे ।
- छठी शताब्दी ई0 पू0 के एक शहर के वास्तविक अर्थ तथा ग्रामीण केन्द्रों से इसकी भिन्नता को समझ पाऐंगे ।
- छठी शताब्दी ई0 पू0 में नगरीय जीवन की विशेषताओं को समझ सकेंगे ।

11.1 प्रस्तावना (Aims)

छठी शताब्दी ई0 पू0 से प्रारंभ होने वाले काल में भारत वर्ष में दूसरी बार नगरों का उदय हुआ । यह नगरीकरण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण था कि काफी लबे समय तक यह नगरीय व्यवस्था रही और इसी काल में साहित्य की लेखन परम्पराओं का प्रारंभ हुआ । तत्कालीन साहित्य में राजगृह, श्रावस्ती, काशी आदि नगरों के बहुत से उदाहरण मिलते हैं ।

सिंधु घाटी के नगरों की समाप्ति के पश्चात् खेतिहर और घुम्मकड़ समुदाय भारत के मैदानों में बस गए । साधारण घरों वाली छोटी ग्रामीण बस्तियां हर तरफ देखी जा सकती थी । यह सब राजाओं और व्यापारियों के प्रभुत्व और बाजार स्थलों के कोलाहल एवं कलकल से मुक्त थीं ।

11.2 नगर केन्द्र क्या हैं ? (What are City Centres ?)

नगर केन्द्र को पारिभाषित करने में कुछ विद्वानों का विश्वास है कि घनी आबादी होना नगर केन्द्र का एक लक्षण है तथापि हम देखते हैं कि कुछ भारतीय आधुनिक गांवों की आबादी आस्ट्रेलिया के कुछ नगरों से भी अधिक है । इसी प्रकार, कुछ विद्वानों का तर्क है कि नगर केन्द्रों का आकार गांवों से बड़ा होता है । फिर भी, नगरों के आकार स्तर को निश्चित करना कठिन है । इस प्रकार, लोगों की संख्या या बस्ती के आकार को नगर या गांव केन्द्र को परिभाषित करने के लिए विश्वसनीय आधार नहीं माना जा सकता है । गांव में अधिकतर लोग खाद्य उत्पादन के काम में लगाए हुए होते है । इसलिए गांवों की सामाजिक व्यवस्था पर किसानों व खेतों की प्रधानता होती है । दूसरी ओर, नगरों में शासनकर्त्ताओं या पुजारियों या व्यापारियों की प्रधानता होती है ।

बनारस जो भारत के जीवित प्राचीनतम नगरों में से एक है, अच्छी किस्म का चावल उत्पादन करने के कारण नहीं परन्तु एक बहुत महत्वपूर्ण तीर्थ होने के कारण प्रसिद्ध है । यह सम्पूर्ण भारत के तीर्थ यात्रियों को अपनी ओर आकर्षित करता था । ये तीर्थ यात्री मंदिर में देवी–देवताओं पर विभिन्न प्रकार के उपहार चढ़ाते थे । इस तरह से जो लोग मंदिरों के स्वामी होते थे वे सारे देश से आने वाले तीर्थ यात्रियों के संसाधनों को प्राप्त करने में सक्षम थे ।

राजाओं, पुजारियों और व्यापारियों तथा किसानों के अलावा नगरों में दस्तकार और कारीगर भी रहते हैं जो नगर के लिए विलासिता की चीजों एवं शहर के बाहर के लोगों के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं । इन कारीगरों को शहर के सम्पन्न लोगों की भांति विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते । जैसे, व्यापारी और प्रशासन काफी धनी हो सकते है परन्तु लुहार, राहगीर या बढ़ई गरीब ही होंगे ।

इस प्रकार की विभिन्न सामाजिक–आर्थिक गतिविधियों के कारण उन लोगों में उचित तालमेल करने में कठिनाई होती है जो लोग इन गतिविधियों में व्यस्त हैं । गरीब व धनी के बीच शत्रुता पर नियंत्रण करने की आवश्कता और नगर के उपभोग के लिए कृषि उत्पादन को गतिशील बनाने की आवश्यकता ने केन्द्रीकृत शक्ति की उत्पत्ति की संभावनाओं को पैदा किया । केन्द्रीकृत निर्णय लेने वाले गुटों की उत्पत्ति लगभग उसी समय हु जब शकित पर एकाधिकार रखने वाले गुटों की उत्पत्ति हुई इस प्रकार की सामाजिक संरचना में यह तथ्य निहित है कि एक प्रकार का राज्य समाज अस्तित्व में आया ।

11.3 छठी शताब्दी ई0 पू0 की पृष्ठभूमि (Backgrounds of 6th Century BC)

पहले एक समय में ब्राह्मणों का एक जाति वर्ग में उद्भव हुआ और जो अनुष्ठानिक कार्य के विशेषज्ञ हो गये । फिर क्षत्रिय योद्वाओं और भू–स्वामियों का वर्ग आया जिसने क्रमिक रूप से किसानों तथा व्यापारियों पर कर लगाना प्रारंभ किया । उत्तर वैदिक काल में सरदारों ने बलि अनुष्ठानों के अवसर पर अपनी सम्पत्ति को खर्च करना और वितरित करना प्रारंभ कर दिया । अधिक से अधिक विशाल से विशाल स्तर पर बलि यज्ञों के आयोजन करने से सदस्यों के बीच प्रतियोगिता होने लगी जिससे कि वे अधिक से अधिक लूट, कर व नजराना प्राप्त करने लगे । शासकों की अधिक से अधिक घन की लालसा ने अधिक से अधिक भूमि पर खेती करने तथा चरवाहों एवं चारा खोजकर आने वालों को बसने के लिए बाध्य किया । मध्य गंगा घाटी में बढ़े हुए लोहे के औजारों का प्रयोग तथा रोपाई द्वारा की खेती ऐसे दो कारक थे जिनसे कृषि उत्पादन में वृद्धि करने में काफी मदद मिली ।

लोहे का प्रयोग तथा रोपाई द्वारा खेती (Uses of Iron and Vegetation)– 1000 ई0 पू0 के आसपास भारतीयों ने लोहे को पिघलाने की कला को सीख लिया था । आगे आने वाली तीन या चार शताब्दियों में लोहे का प्रयोग बढ़ता गया । इसलिए उज्जैन, श्रावस्ती और हस्तिनापुर से बड़ी संख्या में लोहे के उपकरण एवं औजार प्राप्त हुए है । विशेषकर लोहे के हथियारों का प्रयोग काफी बड़े स्तर पर होने लगा था । जिसके कारणवश क्षत्रियों तथा किसानों की शक्ति में वृद्धि हुई । क्षत्रिय वर्गो ने लोहे के हथियारों की सहायता से किसानों से अधिक धन को वसूल किया ।

लोहे के प्रयोग का अर्थव्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ा । लोहे की कुल्हाड़ी से जंगलों को साफ किया जा सका और लोहे की फाल वाले हल से कृषि कार्यो को करने में सुविधा हुई । यह सर्वविदित तथ्य है कि तराई चावल की खेती वाले क्षेत्र में

पैदावार गेंहू या मोटे अनाजों की परम्परागत कृषि से पर्याप्त मात्रा में अधिक थी । चावल उत्पादक मध्य गंगा घाटी में गेंहू उत्पादक ऊपरी गंगा घाटी की तुलना में अधिक अनाज का उत्पादन होता था । अधिक खाद्य उत्पादन के कारण जनसंख्या के बढ़ने में सहायता मिली, जिसकी अभिव्यक्ति उस समय के प्राश्रत हुए पुरातात्विक साक्ष्यों में भी होती है । अधिक अन्न उत्पादन ने यह संभावना बनाई कि ऐसे सामाजिक समूह अस्तित्व में आये जो खाद्यान्न उत्पादन में लिप्त नहीं थे ।

11.4 छठी शताब्दी ई0 पू0 के नगर (Cities of 6th Century BC)

छठी शताब्दी ई0 पू0 के नगरों के विषय में अनेक स्रोतो से जानकारी मिलती है क्योंकि यह वह समय है जब प्राचीन भारत में इतिहास लिखने की परम्परा का श्रीगणेश हुआ । ब्राह्मणिक, बौद्ध एवं जैन साहित्य में उस समय की परिस्थितियों का वर्णन हुआ है । इस काल के बहुत से नगरों और गांवों के उत्खनन से प्राप्त विवरणी हमारी जानकारी को और अधिक पुष्ट करता है ।

11.4.1 साहित्य में नगरों के प्रकार (Types of Cities in Literature)

प्राचीन भारतीय साहित्य में शहरों के प्रतीक रूप में पुर, दुर्ग, निगम, नगर आदि शब्दों का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग हुआ है ।

पुर (Pura)– पुर शब्द का प्रयोग प्रारंभिक वैदिक सभ्यता में भी हुआ है । यहां इसका उल्लेख किलेबंद बस्तियों, अस्थायी शरण स्थलों या पालतू पशुओं के बाड़ों के संदर्भ में हुआ है । बाद में इस शब्द का प्रयोग राजा के निवास स्थान और परिजनों के निवास स्थान या गण संघों के शासक वर्ग के परिवार जनों के निवास स्थल के लिए होता है ।

दुर्ग (Durga)– इस शब्द का प्रयोग राजा की घेरे–बन्द राजधानी के लिए होता था । इस घेरेबंदी के कारण नगर केन्द्र की सुरक्षा होती थी और यह आसपास के ग्रामीण क्षेत्रों से अलग हो जाता था । घेरेबंदी के कारण शासक वगों के लिए नगर में रहने वाले लोगों के क्रियाकलापों को नियंत्रित करना सरल था ।

निगम (Nigam)– एक कस्बे के रूप में इस शब्द का प्रयोग पाली साहित्य में खूब हुआ है । संभवतः इसका ऐसे स्थल से आशय है जहां पर व्यापारी वर्ग के द्वारा चीजों की बिक्री एवं खरीदारी की जाती थी । इस तथ्य की सत्यता इस बात से भी सिद्ध होती है कि बाद के काल में पाए गए सिक्के दर्शाते हैं कि ये निगम में बनाए गए हैं । कभी–कभी साहित्यिक ग्रंथों में नगरों में ''निगम'' शब्द का प्रयोग उसे स्थल के लिए हुआ है जहां पर दस्तकार और कारीगर रहते और काम करते थे ।

नगर (City)– साहित्य में कस्बे या शहर के लिए प्रयोग होने वाला यह सबसे अधिक सामान्य शब्द है । इस शब्द का प्रथम बार प्रयोग तेत्रिरिया अरण्येक में हुआ । एक अन्य शब्द महानगर का प्रयोग नगरों के लिए हुआ है । ये केन्द्र पुर के राजनैतिक कार्य – कार्यकलाप तथा निगम के व्यापारिक कार्यकलाप का समन्वित रूप थे । इन शहरों में राजाओं, व्यापारियों तथा प्रचारकों का निवास था ।

ऐसा प्रतीत होता है कि पुर व दुर्ग सबसे पुराने ऐसे शब्द है जिनको भारतीय साहित्य में कस्बे या नगर के प्रतीक के रूप में प्रयोग किया गया है । यह हमारे लिए महत्वपूर्ण है कि इन दोनों शब्दों का प्रयोग बस्तियों की घेरेबंदी के लिए किया गया है । इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि राजा और उसके समर्थक घेरेबंद बस्तियों में रहते थे । वे आसपास की बस्तियों से टैक्स वसूल करते थे । उनकी धन संचय व विलासिता की वस्तुओं को एकत्रित करने की क्षमता के कारण व्यापार का फैलाव संभव हो सका । इन किलेबंद बस्तियों की बदौलत विभिन्न सामाजिक समूहों में संबंधों की व्यवस्था का विकास हुआ । अततः इसके कारणवश नगरों का उद्भव हुआ । बौद्ध साहित्य में नगरों का संबंध मुनियों, पेड़–पौधों व जानवरों से है । जैसे, कपिलवस्तु को यह नाम कपि मुनि के नाम पर दिया गया । पांडवों ने इन्द्रप्रस्थ नामक नगर बसाया ।

आगे के समय में राजनैतिक केन्द्रों में से कुछ काफी बड़े व्यापारिक केन्द्र बन गए । जल्दी ही, ऐसे नगर जो केवल राजनैतिक केन्द्र थे, राजनैतिक तथा वाणिज्य केन्दों की छायामात्र हो गए । जैसे कि राजधानी हस्तिनापुर ने कभी भी ऐसी सम्पन्नता को प्राप्त नहीं किया, जैसी कि काशी या कौशाम्बी को प्राप्त थी । जब दूर–दराज के स्थलों से व्यापार

काफी बढ़ जाता था तो राजनैतिक लोग व्यापारियों पर टैक्स लगाकर अपने खजाने को सम्पन्न करते थे ।

कौशल राज्य की राजधानी को अयोध्या से श्रावस्ती ले जाया गया और मगध राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र को बनया गया । राजाओं तथा व्यापारियों द्वारा दिया जाने वाला संरक्षण ऐसा कारण था जिससे कि प्राचीन भारत में नगरों का विकास हुआ । इस काल का साहित्य व्यापारियों के काफिलों के वर्णन से भरा हुआ है जो दूर स्थलों पर व्यापार के लिए जाते थे । धनी व्यापारी भी राजाओं के साथ–साथ महात्मा बुद्ध के मुख्य अनुयायी थे ।

11.4.2 प्राचीन भारत में नगर की भूमिका (Role of City in Ancient India)

दिव्यावदान और अपस्ताम्बर धर्म–सूत्र जैसी पुस्तकें हमें उस समय के नगरों के विषय में जानकारी उपलब्ध कराती हैं । प्राचीन भारतीय साहित्य नगरों की आदर्श छवि प्रस्तुत करता है । अगर उनके विवरण का गहराई से अध्ययन किया जाए तो आदर्श रूप में नगरों का वर्णन बिल्कुल शतरंज के बोर्ड की भांति किया गया है । ऐसी सड़कें थी जिनके नाम बहुत से दस्तकारों के नाम पर थे । नगरों की घेरेबंदी सुरक्षित दीवारों तथा खाईयों द्वारा की गई थी । चौड़ी सड़कें, रंगीन पताकाओं से सुसज्जित ऊंचे भवन, व्यस्त बाजार, फूलों वाले बाग, कमलों व हंसों के साथ पानी से भरे तालाब इस विवरण में आते हैं । पुरूषों की अच्छी वेशभूषा तथा नाचती व गाली सुन्दर महिलाएँ शहर का चित्रण पूरा करती है । आदर्श शहरों का यह असीमित विवरण हमें ऐसा अपर्याप्त विचार देता है जिसके आधार पर प्राचीन भारत के शहरों की वास्तविक स्थिति का बोध नहीं होता ।

11.4.3 नगरीय यात्रा का क्रियाकलाप (Agenda of City Journey)

ऐसा प्रतीत होता है कि नदियों के लम्बे मार्गो के किनारों अथवा लम्बे स्थल मार्गो के संगम पर नगरों का विकास हुआ । घोड़ों की टापों से उड़ी धूल के अम्बार और व्यापारियों के काफिले जिनको पवित्र ब्राह्मण बहुत कृपा की दृष्टि से देखते थे । दुकानों के आसपास लोगों की भीड़ चिल्ला–चिल्लाकर खाने की चीजें जैसे कि आम, कटहल, केले, मिसरी, पके चावल आदि की बिक्री करती थी । सस्ते आभूषण, शंख वाले कंगन तथा फूलों को बेचने वाी महिलाओं का कोलाहर एवं कलकल की आवाजें हवा में तैरती रहती थी । घरों का निर्माण पत्थर और पक्की ईंटों से भी किया जाता था । महिलाओं को झरोखों से झांकते हुए देखा जा सकता था । राजा और उसकी सेना के हाथियों व रथों पर सवार जुलूसों को सड़कों पर निकलते हुए देखा जा सकता था । गेरूवे व सफेद वस्त्रों को धारण किए साधुओं के झुंड के झुंड नगर में घूमते हुए देखे जा सकते थे और कभी–कभी ये साधु नग्न अवस्था में भी घूमते रहते थे । ये घुमक्कड़ सन्यासी इसी समय में उदित विभिन्न सम्प्रदायों से संबंधित थे और इनको जो उपवन या बाग दिए गए थै उनमें रहते हुए इनको विभिन्न धार्मिक सवालों पर उपदेश देते हुए देखा जा सकता था । श्रोताओं की सभा में विभिन्नता होती थी । धनी लोग इन सन्यासियों को खुलकर धन देते थे । उपवनों एवं धार्मिक स्थलों पर इन सन्यासियों का पूर्ण अधिकार होता था और ये भी नगर के जीवन का एक अंग थे ।

बोधप्रश्न

1. छठी शताब्दी ई0 पू0 में नगर केन्द्रों का उत्थान किस परिस्थितियों में हुआ ?
2. प्राचीन नगर केन्द्र की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करें ।
3. प्राचीन काल के साहित्य में नगरों के कौन–कौन से प्रकार को दर्शाया गया है ?
4. नगरीय केन्द्रों की आर्थिक क्रियाकलापों को दर्शायें ।

* * * * *

अध्याय- 12

मौर्य साम्राजय की स्थापना

(Establishment of Mauryan Empire and Its Expansion)

12.0 उद्देश्य (Aims)

12.1 प्रस्तावना (Introduction)

12.2 मौर्य साम्राज्य की जानकारी की स्रोत (Sources of Knowledge of Mauryan Empire)

12.3 चन्द्रगुप्त मौर्य का जीवन परिचय (Life History of Chandragupta Maurya)

12.4 चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रशासन (Administration of Chandragupta Maurya)

12.4.1 केन्द्रीय प्रशासन (Central Administration)

राजा, मंत्रिपरिषद, प्रशासनिक विभाग, न्याय व्यवस्था

(King, Cabinet, Administrative Department, Judicial System)

सेना का संगठन (Organination of Army)

12.4.2 प्रान्तीय प्रशासन (State Administration)

नगर प्रशासन, गुप्तचर व्यवस्था, राजस्व व्यवस्था

(City Administration , Intelligence System, Revenue Administration)

12.5 धार्मिक नीति (Religious Policy)

बोधप्रश्न

12.0 उद्देश्य (Aims)

इस इकाई को पढ़ने के बाद –

- मौर्य साम्राज्य की जारकारी के विभिन्न स्रोतों को जानेंगे ।
- चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन परिचय से अवगत हो सकेंगे ।
- मौर्य–प्रशासन के क्रिया–कलापों से अवगत होंगे ।
- मौर्य साम्राज्य के सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों से अवगत होंगे ।

12.1 प्रस्तावना (Aims)

मुद्राराक्षस के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ने प्रवर्तक की सहायता से चाणक्य के निर्देशन में नन्द शासक से युद्ध किया, जिसमें नन्द शासक और प्रवर्तक दोनों मारे गये ।इसके फलस्वरूप पंजाब और मगध की सत्ता दोनों पर चन्द्रगुप्त मौर्य का अधिकार हो गया । उसने 321 ई0 में मगध पर अधिकार कर लिया । प्लूटार्क और जस्टिन के जानकारी के अनुसार

उसने सम्पूर्ण भारत को रौंद डाला था । जूनागढ़ अभिलेख से जानकारी मिलती है कि गुजरात का क्षेत्र चन्द्रगुप्त मौर्य के अधीन था और उसने एक तड़ाग का निर्माण करवाया था । तमिल लेखकों मामुलनार और परनार से विदित होता है कि तिन्नेवेली भी उसके अधीन था । 305 ई0 पू0 में चन्द्रगुप्त का यवनराज सेल्यूकस से युद्ध हुआ जिसमें सेल्युकस पराजित हुआ । उसने काबुल, कांधार, हेरात और बलूचिस्तान चन्द्रगुप्त मौर्य को सौंप दिए । साथ ही अपनी पुत्री हेलेना का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया और मेगास्थनीज को अपना दूत बनाकर चन्द्रगुप्त के दरवार में भेजा । चन्द्रगुप्त मौर्य की 297 ई0 पू0 में मृत्यु हो गई । इसके पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार गद्दी पर बैठा । उसने साम्राज्य विस्तार के लिए कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया । बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चातृ अशोक मगध का शासक बना । उसने 261 ई0 पू0 में कलिंग पर आक्रमण कर उसपर अधिकार कर लिया । इस समय मौर्य साम्राज्य अपने चर्मोत्कर्ष पर था ।

12.2 मौर्य साम्राज्य की जानकारी के स्रोत (Aims)

मौर्य वंश के विषय में हमें विभिन्न स्रोतें से जानकारी मिलती है, जो निम्नलिखित हैं –

1. साहित्य (Literature)– ब्राह्मण साहित्य में पुराण, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, विशाखादत्त कृत नाटक मुद्राराक्षस, कथासरित्सागर एवं वृहत्कथामंजरी आदि से जानकारी मिलती है ।

बौद्ध ग्रंथों में दीपवंश, महावंश टीका, महाबोधि वंश, दिव्यावदान आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं जो मौर्य साम्राज्य के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी देते हैं

जैन ग्रंथ में भद्रवाहु के कल्पसूत्र एवं हेमचन्द्र के परिशिष्टवर्णन से चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन की कुछ घटनाओं का उल्लेख मिलता है ।

2. विदेशी विवरण (Description of Foreigners)– स्ट्रैवो, कर्टिअस, डिओडोरस, प्लूटार्क जस्टिन एवं अरिस्टोवलस आदि के विवरणों से चन्द्रगुप्त के विषय में जानकारी मिलती है । स्ट्रैबो तथा जस्टिन ने चन्द्रगुप्त मौर्य को ''सैण्ड्रोकोट्स' एरियन तथा प्लूटार्क ने 'एण्ड्रोट्स' तथ फिलार्कसन ने 'सैण्ड्रोप्टस' कहा है । सर्वप्रथम विलियन जोन्स ने ही सैण्ड्रोकोट्स की पहचान चन्द्रगुप्त मौर्य के रूप में की । स्ट्रैवों के अनुसार चन्द्रगुप्त ने पालिब्रोथस उपनाम धारण किया था ।

चीनी यात्रियों, जैसे फाहियान, ह्वेनसांग एवं इत्सिंग ने यात्रा विवरण से चन्द्रगुप्त सभ्यता–संस्कृति की जानकारी एवं चन्द्रगुप्त के विषय में जानकारी मिलती है ।

3. पुरातत्व (Archeology)– इस काल के पुरातात्विक साक्ष्यों में अशोक के लेख अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं । भारत, पाकिस्तान और अफगान्तिान में अशोक के करीब 37 अभिलेख मिले हैं । इन अभिलेखों से अशोक के शासनकाल की समस्त जानकारी मिलती है । शक महाक्षत्रप रूद्रदामन के जूनागढ़ लेख से भी हमें मौर्यकालीन इतिहास की जानकारी मिलती है ।

12.3 चन्द्रगुप्त मौर्य का जीवन परिचय (Life History of Chandragupta Maurya)

चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने गुरू विष्णुगुप्त अथवा चाणक्य की सहायता से नंद वंश के अन्तिम शासक घनानंद को हराकर मौर्य साम्राज्य की स्थापना की । चन्द्रगुप्त मौर्य की जाति के विषय में एक मत नहीं है । ब्राह्मण साहित्य इन्हें 'शूद्र' तथा बौद्ध एवं जैन ग्रंथ इन्हें 'क्षत्रिय' कुल में उत्पन्न बताते हैं । विशाखादत्त कृत 'मुद्राराक्षस' में इनके लिए 'वृषल' शब्द का प्रयोग किया गया है । रोमिला थापर ने मौर्य वंश को वैश्य जाति का माना । चन्द्रगुप्त मौर्य की 'चन्द्रगुप्त' संज्ञा का प्राचीनतम अभिलेखीय साक्ष्य रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से मिलता है ।

मगध के राजसिंहासन पर बैठकर चन्द्रगुप्त ने एक ऐसे साम्राज्य की नींव डाली जो सम्पूर्ण भारत में फैला था । चन्द्रगुप्त मौर्य ने उत्तरी–पश्चिमी भारत को सिकन्दर के उत्तराधिकारियों से मुक्त कर, नंदों का उन्मूलन कर, सेल्युकस को पराजित कर संधि के लिए विवश कर जिन स्रामाज्य की स्थापना की उसकी सीमायें उत्तर–पश्चिम में ईरान की सीमा से लेकर दक्षिण में वर्तमान उत्तरी कर्नाटक एवं पूर्व में मगध से लेकर दक्षिण में सोपारा तथा सुराष्ट तक फैली हुई थीं ।

305 ई0 पू0 में यूनानी शासक सेल्युकस एवं चन्द्रगुप्त के मध्य युद्ध हुआ ,जिसमें सम्भवत सेल्युकस पराजित हुआ । दोनों के बीच सम्पन्न हुई संधि की शर्ते इस प्रकार थीं – सेल्युकस ने चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ अपनी पुत्री के विवाह में दहेज के रूप में एरिया, अराकोसिया, जेड्रोसिया एवं पेरीपेमिसदाई के क्षेत्रों को दिया । प्लूटार्क के अनुसार चन्द्रगुप्त ने सेल्युकस को 500 हाथी उपहार में दिये । सेल्युकस ने अपने एक राजदूत 'मेगास्थनीज' को चन्द्रगुप्त मौर्य के दरवार में भेजा ।

चन्द्रगुप्त मौर्य की दक्षिण भारत की विजय के विषय में जानकारी तमिल ग्रंथ 'अहनामूर' और मुरनानुरू तथा अशोक के अभिलेखों से मिलती है । तिब्बती इतिहासकार तारानाथ एवं स्मिथ का मानना है कि दक्षिण भारत को मौर्य साम्राजय में बिन्दुसार के समय में मिलाया गया ।

अपने जीवन के अन्तिम चरण में चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैन साधु भद्रवाहु से जैन धर्म की दीक्षा लेकर श्रवणवेलगोला में स्थित चन्द्रगिरि पहाड़ी पर करीब 298 ई0 पू0 में उपवास के द्वारा शरीर त्याग दिया । यहाँ पर चन्द्रगुप्त मौर्य ने चन्द्रगुप्त बस्ती का निर्माण करवाया ।

12.4 चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रशासन (Administration of Chandragupta Maurya)

मौर्य साम्राज्य का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य एक अत्यन्त महत्वाकांक्षी व्यक्ति था । वह एक महान विजेता और साम्राज्य के संस्थापक के साथ–साथ एक सुव्यवस्थित शासन–प्रणाली की भी नींव डाली थी जिससे उसके साम्राजय को स्थिरता प्राप्त हुई । अशोक के समय भी शासन का मूल स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहा । मौर्यो की शासन–व्यवस्था की जानकारी हमें मेगास्थनीज की 'इण्डिका' और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से होती है । शासन का रूप एकातंत्रीय था । शासन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य को विभिन्न शासकीय इकाइयों में बांट दिया गया था । चन्द्रगुप्त की शासन–व्यवस्था की कुछ खास विशेषताएँ थीं जैसे सत्ता का केन्द्रीयकरण, विकसित नौकरशाही, उचित न्याय–व्यवस्था, नगर–शासन, कृषि, शिल्प–उद्योग, संचार एवं वाणिज्य–व्यापार की वृद्धि के लिए राज्य द्वारा कारगर उपाय करना । चन्द्रगुप्त के शासन–प्रबंध का मुख्य उद्देश्य लोकहित था । इस प्रकार चन्द्रगुप्त का शासन–प्रबंध एक कल्याणकारी राज्य की धारणा को चरितार्थ करता है । चन्द्रगुप्त के शासन–प्रबंध का लक्ष्य 'अर्थशास्त्र के इस उदाहरण से स्पष्ट होता है : ''प्रजा के सुख में ही राजा का सुख और प्रजा की भलाई में उसकी भलाई है । राजा को जो अच्छा लगे वह हितकर नहीं है वरन् हितकर वह है जो प्रजा को अच्छा लगें ।''

12.4.1 केन्द्रीय प्रशासन (Central Administration)

राजा (King)– सैद्धान्तिक रूप से राज्य का प्रधान राजा होता था । राजाज्ञा ही विधि (कानून) था । कौटिल्य के अनुसार राजा को असीमित अधिकार प्राप्त होना चाहिए । राजा से यह आशा की जाती थी कि वह प्रजा का कल्याण करें । कौटिल्य का कहना था कि प्रजा के सुख में राजा का सुख एवं प्रजा के हित में, उसका हित, प्रजा का कल्याण एवं हितकारी कार्य ही राजा का प्रिय तथा हितकारी कार्य होता है ।

राजा कार्यपालिका, व्यवस्थापित, न्यायपालिका और सेना–सब का प्रधान था । राजा की आज्ञा ही सर्वोच्च आज्ञा मानी जाती थी । कार्यपालिका के सर्वोच्च अधिकारी के रूप में प्रजा के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना ही राजा का प्रधान कार्य था । इसके अतिरिक्त, राजा का यह भी कर्तव्य था कि वह अपने कर्मचारियों द्वारा बरती जाने वाली नीति के संबंध में निश्चित करें और समय–समय पर आवश्यकतानुसार उन कर्मचारियों के लिए अधिसूचनाएँ निकाला करें । राजा के कर्तव्यों को कौटिल्य ने राजा के व्रत के नाम से सम्बोधित किया ।

न्यायपालिका के प्रधान के रूप में प्रजा को न्याय दिलाना उसका मुख्य कर्तव्य था । साम्राज्य के विस्तृत होने के कारण राजा स्वयं सब मुकदमों की सुनवाई नहीं कर सकता था । किन्तु अपील की सुनावाई वह व्यक्तिगत रूप से कर तुरंत फैसला सुना देता था ।

कानून बनाना का कार्य भी राजा के जिम्मे था । उसे तमाम कानूनों का स्रोत माना जाता था । कौटिल्य ने राजा को 'धर्मप्रर्वतक' माना है । राजा द्वारा जारी की गई अधिसूचनाओं को उसने विधि के मुख्य स्रोतों में सम्मिलित किया है ।

मंत्रिपरिषद (Cabinet)– राजा की निरंकुशता पर प्रतिबंध लगाने के लिए मंत्रिपरिषद का गठन हुआ था । मौर्यकाल में यह एक अनिवार्य संस्था बन गई । कौटिल्य ने राज्य को एक रथ के समान माना है जिसके दो चक्रों में एक चक्र राजा है तथा दूसरा चक्र सचिव । राज्य को उचित रूप से चलाने के लिए दोनों की समान आवश्यकता पड़ती है ।

समस्त शासन का संचालन मंत्रिपरिषद द्वारा ही किया जाता था । राज्य के उच्च पदाधिकारी मंत्रियों की सम्मति से नियुक्त होते थे । राजदूतों और गुप्तचरों की नियुक्ति में भी मंत्री राजा को परामर्श देते थें । प्रत्येक प्रशासकीय विषयों में मंत्रियों से परामर्श लिया जाता था । मंत्रिपरिषद की बैठकों में यदि कोई मंत्री किसी कारणवश उपस्थित नहीं हो सकता था, तो उसका परामर्श पत्र द्वारा मंगाया जाता था । राजा को बहुमत की इच्छा से ही सब कार्य करना पड़ता था । राज्य में प्रधानमंत्री का पद सबसे ऊँचा था । उसे मंत्रिपरिषद के मंत्री से अधिक वेतन मिलता था ।

प्रशासनिक विभाग (Administrative Department)– केन्द्रीय शासन के संचालन के लिए अनेक विभागों का गठन हुआ था जिनको कौटिल्य ने 'तीर्थ' के नाम से सम्बोधित किया है । प्रत्येक विभाग एक अध्यक्ष के अन्तर्गत होता था जिसे अमात्य कहते थे । कौटिल्य ने अठारह विभागों का उल्लेख किया है ।

न्याय व्यवस्था (Judical System)– मौर्यो ने एक सुसंगठित न्याय–व्यवस्था को शुरू किया । चन्द्रगुप्त का दण्ड–विधान कठोर था । अपराधियों को अपराध स्वीकार करने के लिए यातनाएँ दी जाती थीं । गंभीर अपराधों के लिए प्राणदण्ड दिया जाता था । विश्वासघात और व्यभिचार की सजा अंग–विच्छेद थी । न्यायपालिका का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था । ग्रामसंघ तथा राजा के न्यायालय को छोड़कर न्यायालय दो श्रेणियों में बांटे गए ।

अर्थशास्त्र में अपराधियों को दो वर्गो में विभक्त किया गया है–जो अपराधि निष्ठुर होते हैं तथा जो निष्ठुर नहीं होते है । दूसरे प्रकार के अपराधियों को मृत्यु–दण्ड तो नहीं दिया जाता था, किन्तु उन्हें किसी प्रकार का शारीरिक कष्ट दिया जाता था ˙ प्रथम वर्ग के अपराधियों को शारीरिक कष्ट देकर मृत्यु–दण्ड देने की व्यवस्था थी ।

न्यायालय में विवाद के उपस्थित होने पर सर्वप्रथम उसकी तिथि दर्ज कर ली जाती थी । इसके बाद विवाद का स्वरूप, घटनास्थल, वादी तथा प्रतिवादी की जाति, देश और ग्राम तथा दोनों पक्षों की युक्तियाँ नोट कर लेने की प्रथा थी ।

किसी भी विवाद का निर्णय करने के लिए साक्षी की आवश्यकता होती थी । उसे अपने कथन के लिए न्यायाधीश के सम्मुख शपथ लेनी पड़ती थी ।

सेना का संगठन (Organization of Army)– एक विशाल और संगठित सेना के बल पर ही चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की । कौटिल्य के अनुसार राजा पर दो प्रकार की विपत्तियाँ आती है– बाह्य और आभ्यन्तर । इन दोनों विपत्तियों से सैन्यबल द्वारा ही रक्षा हो सकती है ।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में सेना के मुख्य चार अंग थे – हस्तिबल, अश्वबल, रथ बल और पैदल । इदन चारों को चतुरंग बल की संज्ञा दी गई थी ।

12.4.2 प्रान्तीय प्रशासन (State Administration)

शासन की सुविधा की दृष्टि से समस्त साम्राज्य विभिन्न प्रान्तों में विभाजित था । इन प्रान्तों में शासन करने के लिए रावंशीय व्यक्ति की नियुक्ति का नियम था जिन्हें कुमार महामात्र' के नाम से पुकारा जाता था । प्रान्तों का शासन राज्यपाल करता था । बड़े–बड़े प्रान्तों के राज्यपाल सम्भवतः राजकुमार ही हुआ करते थे । राज्यपाल को अनेक कार्य करने पड़ते थे । वे प्रान्त की अन्तःस्थिति पर केन्द्रीय सरकार को सूचना भेजते थे तथा उसके आदेशानुसार ही अपनी नीति निश्चित करते थे । प्रान्तीय शासकों की सहायता के लिए एक मंत्रिपरिषद का गठन होता था । यह सम्भवतः केन्द्रीय मंत्रिपरिषद के अधीन होती थी ।

नगर प्रशासन (City Administration)– नगर शासन के संबंध में मेगास्थनीज पाटलिपुत्र का वर्णन प्रस्तुत किया है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि दूसरे नगरों का शासन भी उसी तरह होता होगा ।

कौटिल्य के अनुसार नगर की शासन–व्यवस्था को सुचारू ढंग से चलाने के लिए एक अधिकारी होता था जिसे 'नागरिक' कहते थे । उसकी नियुक्ति का भार केन्द्रीय सरकार पर था ।

गुप्तचर व्यवस्था (Intelligence System)– चन्द्रगुप्त की राज्य–व्यवस्था में गुप्तचरों का बड़ा महत्व था । गुप्तचर प्रत्येक बात की सूचना राजा तक पहुँचाते थे । वह अपने कार्य–सम्पादन के लिए स्त्रियों और वेश्याओं की भी सहायता लेते थे । गुप्तचरों का काम करने वाली स्त्रियों में कौटिल्य ने वेश्या, कुशीलवाद, दासी शिल्पकारिका, भिक्षुणी आदि का उल्लेख किया है । पुरूष गुप्तचर भी तापस, कापटिक, उदास्थित, वैदेहक तथा गृहपतिक के रूप में कार्य करते थे । कौटिल्य ने दो प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख किया है – संस्था एवं संचारा ।

राजस्व व्यवस्था : राज्य की आय का मुख्य स्रोत भूमि–कर था । इसके अतिरिक्त, बिक्री–कर, खान–कर, जंगल–कर, मादक द्रव्यों पर कर, मछली'कर, सिंचाई–कर, चुंगी–कर, जुर्माना भी राज्य के आय के मुख्य साधन थे । आयात–निर्यात की वस्तुओं पर भी कर लगाया जाता था । साधारणतः आयात–कर 20 प्रतिशत होता था किन्तु निर्यात–कर की दर निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है । फल–फूल, शाक–सब्जी, ईख, मसाला आदि से प्राप्त होने वाली आमदनी को सेतु कहा जाता था । चुंगी की दर तीन प्रकार की थी – (1) गिन कर बेची जाने वाली वस्तुओं पर 921/12 प्रतिशत, (2) तौल कर बेची जाने वाली वस्तुओं पर 5 प्रतिशत और (3) नाप पर बेची जाने वाली वस्तुओं पर 6/1/4 प्रतिशत । नगरों से अनेक प्रकार की आय होती थी जिसे दुर्ग कहते थे । छोटे–छोटे अपराधों के लिए बड़े–बड़े जुर्माने होते थे । कुछ व्यवसाय–व्यापार पर राज्य का पूरा नियंत्रण रहता था ं इनमें खान, नमक, शराब, हथियार और मुद्रा प्रमुख थे । इनसे भी राजय को आमदनी होती थी । कभी–कभी राज्य कुछ व्यक्तियों को इन वस्तुओं के व्यवसाय का अधिकार भी दे देता था ।

12.5 धार्मिक नीति (Religions Policy)

चन्द्रगुप्त मौर्य धर्म में भी रूचि रखता था । यूनानी लेखकों के अनुसार जिन चार अवसरों पर राजा महल से बाहर जाता था उनमें एक था यज्ञ करना । कौटिल्य उसका पुरोहित तथा मुख्यमंत्री था ं मेगास्थनीज ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त वन में रहने वाले तपस्वियों से परामर्श करता था और उन्हें देवताओं की पूजा के लिए नियुक्ति करता था । वर्ष में एक बार विद्वानों की सभा बुलाई जाती थी ताकि वे जनहित के लिए उचित परामर्श दे सकें । दार्शनिकों से सम्पर्क रखना चन्द्रगुप्त की जिज्ञासु प्रवृति का सूचक है । जैन अनुयायियों के अनुसार जीवन के अंतिम चरण में चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया । कहा जाता है कि जब मगध में 12 वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा तो चन्द्रगुप्त राज्य त्यागकर जैन आचार्य भ्रदवाहु के साथ श्रवण बेल्गोला चला गया और एक सच्चे जैन भिक्षु की भॉति उसने निराहार समाधिस्थ होकर प्राण त्याग किया ।

बोध प्रश्न

1. मौर्य–साम्राज्य की जानकारी के कौन–कौन से स्रोत हैं ? विवेचना करें ।
2. चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन–परिचय एवं उपलब्धियों का परीक्षण करें ।
3. चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रशासनिक व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करें ।
4. चन्द्रगुप्त मौर्य की धार्मिक नीति उनके व्यक्तिगत एवं तत्कालीन समाज को किस प्रकार प्रभावित किया ? विवेचना करें ।

* * * * *

अध्याय- 13

अशोक

(Ashoka)

13.0 उद्देश्य (Aims)

13.1 प्रस्तावना (Introduction)

13.2 कलिंग विजय (Victory of Kalinaga)

13.3 अशोक का धम्म (Dhamma of Ahoka)

13.4 अशोक का साम्राज्य विस्तार (Expansion of Ashoka Empire)

13.5 अशोक का शासन प्रबंध (Administration of Ashoka)

13.6 अशोक की विदेश नीति (Foreign Policy of Ashoka)

13.7 मौय साम्राज्य के पतन के कारण (Causes of Decline of Mauryan Empire)

13.7.1 अयोग्य एवं दुर्बल उत्तराधिकारी (Incapable and Weak Heirs)

13.7.2 विघटनात्मक प्रवृति का उदय (Begining of Down Fall Nature)

13.7.3 साम्राज्य का विभाजन (Division of Empire)

13.7.4 प्रान्तीय शासकों के अत्याचार (Atrocities of State Rulers)

13.7.5 आर्थिक कारण (Economical Causes)

13.7.6 बृहद्रथ का उत्तरदायित्व (Responsibility of Brihadrath)

13.7.7 यूनानी आक्रमण (Unani Invasion)

13.7.8 दोषपूर्ण शासन–व्यवस्था (Defective Administrative System)

बोध प्रश्न

13.0 उद्देश्य (Aims)

इस इकाई को पढ़ने के बाद –

- अशोक के जीवन–परिचय से अवगत होंगे ।
- अशोक के कलिंग–विजय के महत्व को जान पायेंगे ।
- अशोक की प्रशासनिक एवं राजनीतिक उपलब्धियों से अवगत होंगे ।
- अशोक के विदेशों से व्यापार को समझ सकेंगे ।
- मौर्य साम्राज्य के पतन में अशोक की धार्मिक नीतियों के योगदान को समझ सकेंगे ।

13.2 प्रस्तावना (Introduction)

बिन्दुसार की मृत्यु के बाद अशोक राजा हुआ । अशोक के संबंध में जानकारी प्राप्त करने के प्रमुख साधन उसके शिलालेख तथा संतम्भों पर उत्कीर्ण अभिलेख हैं । किन्तु ये अभिलेख अशोक के प्रारंभिक जीवन पर कोई प्रकाश नहीं डालता है ।

अपने राज्याभिषेक के नवें वर्ष तक अशोक ने मौर्य साम्राज्य की परम्परागत नीति का ही अनुसरण किया । अशोक ने देश के अंदर साम्राज्य का विस्तार किया किन्तु दूसरे देशों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार की नीति अपनाई ।

भारत के अन्दर अशोक एक विजेता रहा । अपने राज्याभिषेक के नवें वर्ष में अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त की ।

कलिंग युद्ध में हुए नर–संहार तथा विजित देश की जनता के कष्ट से अशोक की अतंरात्मा को तीव्र आघात पहुँचा । युद्ध की भीषणता का अशोक पर गहरा प्रभाव पड़ा । अशोक ने युद्ध की नीति को सदा के लिए त्याग दिया और 'दिग्विजय' के स्थान पर 'धम्म विजय' की नीति को अपनाया । इसके बाद मगध की विजयों तथा राज्य–विस्तार का वह युग समाप्त हो गया जिसका सूत्रपात बिंबिसार की अंग विजय के बाद हुआ था । अब एक नए युग का आरंभ हुआ । यह युग शांति, सामाजिक प्रगति तथा धर्म प्रचारक का था, किन्तु इसके साथ–साथ राजनीतिक गतिरोध और सामरिक अकुशलता भी दिखाई देने लगी । सैनिक अभ्यास के अभाव में मगध का सामरिक आवेश और उत्साह क्षीण होने लगा । कलिंग की प्रजा तथा कलिंग की सीमा पर रहने वाले लोगों के प्रति कैसा व्यवहार किया जाए, इस संबंध में अशोक ने दो आदेश जारी किए ।

अशोक के शिलालेखों तथा स्तंभलेखों से अशोक के साम्राज्य की सीमा की ठीक जानकारी प्राप्त होती है । इन अभिलेखों से जनता के लिए राजा की घोषणाएँ थीं, अतः वे अशोक के विभिन्न प्रांतों में आबादी के मुख्य केन्द्रों में उत्कीर्ण कराए गए । कुछ अभिलेख सीमांत स्थानों पर पाए गए है ।

यद्यपि अशोक का साम्राज्य विस्तृत था तथापि साम्राज्य के अन्तर्गत सभी देशों पर उसका सीधा साधन था । अशोक के पांचवें और तेरहवें शिलालेखों में कुछ जनपदों तथा जातियों का उल्लेख किया गया है, जैसे यवन, कम्बोज, नाभाक, नाभापंक्ति, भोज, पेत्तनिक, आंध्र, पुलिंद । 13वें शिलालेख में अशोक ने अटवी जातियों का उल्लेख किया है जो अपराध करते हैं । उन्हें यथासंभव क्षमा करने का आश्वासन दिया गया है किंतु साथ ही यह चेतावनी भी दी है, कि अनुताप अर्थात पश्चाताप में भी देवानांप्रिय का प्रभाव है ।

13.2 कलिंग विजय (Victory of Kalinga)

राज्यारोहण के पश्चात् अशोक ने अपने पूर्वजों की दिग्विजय की नीति को अपनाया । यद्यपि उसको अपने पूर्वजों से एक विशाल साम्राज्य प्राप्त हुआ था किन्तु अशोक सम्पूर्ण भारत को विजित करना चाहता था । ऐसी अनुश्रुति हैं कि अशोक ने ही श्रीनगर को बसाया । कश्मीर की घाटी में अनेक चैत्यों और स्तूपों का निर्माण किया था । इसके बाद कलिंग–विजय किया जो भारत के दक्षिण–पूर्व में स्थित था ।

कलिंग देश बंगाल की खाड़ी के समीप महानदी तथा गोदावरी नदियों के मध्य स्थित था । यह एक शक्तिशाली एवं सम्पन्न राज्य था । बिन्दुसार ने कलिंग को जीतने की योजना बनायी थी परन्तु वह अपनी योजना को पूरा नहीं कर सका । अशोक सिंहासन पर बैठते ही इस योजना को पूरा करने का निश्चिय किया । वह कलिंग को मौर्य साम्राज्य का शत्रु समझता था । इस कारण भी अशोक कलिंग पर अधिकार करना चाहता था ˙ यह अत्यन्त भयंकर युद्ध था । रणक्षेत्र में एक लाख व्यक्ति मारे गये थे और करीब डेढ़ लाख बन्दी हो गये तथा उसे कई गुणा घायल हो गये । बहुत से सैनिक के अंग–भंग हो गये । इतने व्यक्तियों की हत्या देखकर अशोक का हृदय पिघल उठा । उसे युद्ध से घृणा हो गई तथा रणभूमि में ही उसने प्रतिज्ञा की कि अब वह जीवन भर युद्ध नहीं करेगा । उसने अपने महान पूर्वज बिम्बिसार के द्वारा मगध की दिग्विजय की नीति का त्याग करके धर्म–विजय की नीति को अपना लिया । इस प्रकार कलिंग का

युद्ध मगध एवं भारत के इतिहास की एक महत्पूर्ण घटना मानी जाती है क्योंकि इस युद्ध के द्वारा लगभग 300 वर्षो से चली आती हुई नीति का अशोक ने परित्याग कर दिा । उसने अब सर्वकल्याण और सर्वहित का मार्ग अपना लिया ।

कलिंग–युद्ध के बाद अशोक ने प्रतिज्ञा की कि 'धर्म की घोषणा करूँगा, धार्मिक शिक्षाओं का प्रचार करूँगा, जो लोग उसे सुनेंगे, उनके अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित होंगे, उनका आध्यात्मिक विकास होगा और धर्म की वृद्धि के साथ उनकी अभिवृद्धि होगी ।'' अशोक की आकांक्षाएँ तथा साम्राज्यवादी कामनाएँ विश्व–कल्याण में परिवर्तित हो गयी । उसके सैनिक जीवन का रणघोष 'धम्मघोष' में बदल गया और उसके जीवन का मूल उद्देश्य 'धम्म–विजय' हो गया । इस प्रकार कलिंग–युद्ध अशोक के जीवन मे एक युगान्तकारी घटना था ।

पर अशोक की नीति का प्रभाव मगध साम्राज्य के लिए अहितकर सिद्ध हुआ । इस काल में मगध के साम्राज्य का पतन आरंभ हो गया । सत्ता को जबरदस्त धक्का लगा । लेकिन, अन्य क्षेत्रों में इसका प्रभाव हितकर हुआ । इसके कारण धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में विशेष प्रगति हुई । अशोक ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया और उसके प्रचार के लिए विशेष प्रयत्न करना आरंभ कर दिया । उसने इस धर्म का प्रचार न केवल भारत में ही सीमित रखा वरन अन्य देशों में भी प्रचार–कार्य के लिए प्रचारकों को भेजा । वह शान्ति प्राप्त करने के लिए धार्मिक भ्रमण करने लगा । उसने आखेट और मांस–भक्षण का परित्याग कर दिया ।

13.3 अशोक का धम्म (Dhamma of Ashoka)

'धम्म' प्राकृत भाषा का शब्द है इसका हिन्दी में अर्थ है 'धर्म' । अशोक का धम्म 'बौद्ध धर्म' का परिष्कृत रूप था । इसमें सभी धर्मो के श्रेष्ठ तत्व सम्मिलित थे । अशोक का धम्म सर्वथा असाम्प्रदायिक और सहिष्णु धर्म था । अशोक ने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया है । इससे स्पष्ट है कि अशोक का 'धम्म' बौद्ध धर्म नहीं था ।

धम्म के तत्व मूलतः दो प्रकार के थे – व्यावहारिक और निषेधात्मक, व्यावहारिक तत्वों के अन्तर्गत निम्नलिखित आचार तत्व है –

(1) माता–पिता, गुरू एवं बडों का सम्मान करना । (2) विभिन्न सम्प्रदायों के प्रति उदारता तथा मित्रों, परिचितों आदि के प्रति व्यवहार करना । (3) सदाचरण, (4) मन एवं कर्मकी शुद्धि (5) आश्रितों के प्रति अच्छा व्यवहार (6) समस्त प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा का पालन (7) अल्प संग्रह

निषेधात्मक तत्व थे – चंडिय, निठुल्य, क्रोध, मान और ईर्ष्या । अशोक ने निषेधों के लिए 'आसिनक' शब्द का प्रयोग किया है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'पाप' । वास्तव में धम्म का कोई धर्म न था यह सभी धर्मों का निचोड़ था । इसके अनुपालन में अशोक का केवल एक यही उद्देश्य था कि समाजोत्थान और मानवता का कल्याण हो ।

अशोक ने इसके प्रचार के लिए धर्म यात्राएँ प्रारंभ की । स्तम्भ लेखों में धम्म सम्बन्धी सन्देश खुदवायें । धम्म महामात्र नियुक्त किए, धम्ममण्डल की व्यवस्था की और अनेक परोपकारी कार्य कर अपना उदाहरण प्रस्तुत किया । इसके साथ–साथ प्रशासनिक व्यवस्था में भी अनेक सुधार किए ।

13.4 अशोक का साम्राज्य विस्तार (Expansion of Ashoka's Empire)

कलिंग–युद्ध के बाद शास्त्रों की दिग्विजय के स्थान पर अशोक ने 'धम्म–विजय' की नीति अपनायी । किन्तु इसका अर्थ यह नही था कि चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार द्वारा अर्जित एवं संगठित राज्य को उसने विघटित होने की छूट दे दी थी । केवल दूसरे स्वतंत्र राज्यों को विजित करने के लिए 'बल' या सेना का उपयोग कलिंग–युद्ध के बाद नहीं किया गया । यही कारण है कि अशोक के समय मे मौर्य साम्राज्य की सीमाएँ हिन्दूकुश और हिमालय से लेकर पश्चिम में सौराष्ट्र और पूरब में कलिंग तक तथा नीचे दक्षिण से चेर–चोल, पाण्ड्य आदि राज्यों की सीमा तक विस्तृत रहीं ।

अशोक को अपने पूर्वजों से एक विस्तृत साम्राज्य मिला था । उत्तर–पश्चिम में सेल्युकस ने चन्द्रगुप्त को हिरात, कन्दहार, ब्लूचिस्तान और काबुल की घाटी के प्रदेश दिए थे । इन क्षेत्रों पर अशोक का अधिकार बना रहा क्योंकि उसके शिलालेख कन्दहार के निकट शरेकूना, पेशावर में शाहबाजगढ़ी और हजारा जिलें में मानसेहरा में मिले हैं ।

देहरादून जिले में कालसी नामक स्थान से प्राप्त अशोक के शिलालेख से पता चलता है कि गड़वाल देहरादून का यह पहाड़ी प्रदेश अशोक के अधिकार में था । अभिलेखों, अनुश्रुतियों और अशोक द्वारा निर्मित स्मारकों से ज्ञात होता है कि नेपाल और उसकी तराई भू–भाग पर भी अशोक का अधिपत्य था । बिहार के चम्पारण में लौरिया–अरेराज और लौरिया नन्दनगढ़ में भी अशोक के स्तम्भलेख मिले हैं । ये स्तम्भलेख इस तथ्य के प्रत्यक्ष प्रमाण है कि नेपाल की तराई का समस्त भू–भाग अशोक के राज्य में शामिल था । रामपुरवा का अभिलेख और ललितपाटन का अशोक द्वारा निर्मित स्मारक–स्तूप इस बात के साक्षी है कि नेपाल की घाटी का पूरा प्रदेश अशोक के राज्य का अंग था ।

पूरब में बंगाल अशोक के राज्य में शामिल था । इस तथ्य की पुष्टि यूनानी लेखकों, बौद्ध ग्रन्थ और ह्वेनसांग के विवरण से होता है । यूनानी लेखकों के अनुसार धनानन्द के समय बंगाल मगध के राजा के अधीन था । ह्वेनसांग लिखता है कि अशोक ने ताम्रलिपि, कर्णसुवर्ण, समतट और पुन्डबर्धन आदि स्थानों में स्तूप बनवाये थे । किन्तु कामरूप–आसाम में अशोक का कोई स्मारक नहीं मिला है ।

अभिलेखों के आधार पर अशोक के साम्राज्य की जो सीमा निश्चित की जाती है, उसकी पुष्टि उन जातियों की स्थिति से भी होती है जिन्हें अशोक ने अपने राज्य की सीमा पर माना है ।

अपने राज्य की सीमा के बाहर अशोक ने भारत के अन्दर चोल, पाण्ड्य, केरलपुत्र, सतियपुत्र और ताम्रपर्णि का उल्लेख किया है । भारत के बाहर उसने उन पाँच यूनानी शासकों को माना है, जो सीरिया, मिस्र, मकदूनिया, सिरीन तथा एपिरस में राज्य करते थे । राज्य के अन्दर अशोक ने बोधगया, धौली, उज्जयिनी, सुवर्णगिरी, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र आदि नगरों का उल्लेख किया है ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अशोक के विशाल साम्राज्य में काबुल, अफगानिस्तान और हिन्दूकुश तक का समस्त भू–भाग सम्मिलित था । इसके अतिरिक्त बलूचिस्तान, मकरान, सिंध, स्वातधाटी, कश्मीर और नेपाल सहित पूरब से पश्चिम समुद्र तक और नीचे तमिल प्रदेशों का का क्षेत्र उसके विजित राज्य थे । केवल दक्षिण के चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र, केरलपुत्र एवं ताम्रपर्णि के राज्य उसके प्रत्यन्त स्वतंत्र राज्य थे । मौर्य साम्राज्य के इस विस्तार ओर प्रभाव के कारण ही 'महावंश' में अशोक को समस्त जम्बूद्वीप का एकछत्र सम्राट कहा गया है ।

13.5 अशोक का शासन प्रबंध (Administration of Ashoka)

अशोक को उत्तराधिकार में न केवल एक विस्तृत साम्राज्य ही मिला था अपितु एक सुदृढ़ शासन–व्यवस्था भी प्राप्त हुई थी । अपने राज्याभिषेक के प्रथम नौ वर्षो में उसने इस शासन–व्यवस्था को ज्यों का त्यों चलने दिया था, किन्तु कलिंग–विजय के उपरान्त उसकी विचारधार में महान परिवर्तन हो गया था । उसने राजनीति में नवीन सिद्धान्तों तथा आदर्शो का समावेश किया था ।

अशोक एक आदर्श राजा था । उसका राज्य–काल सर्वलोक हित के लिए सु–विख्यात था । छठे शिलालेख और कलिंग के दोनों लेखों से उसके राजस्व के आदर्श का ज्ञान होता है । कलिंग युद्ध के पश्चात् उसने प्रतिज्ञा की थी कि वह राज्य के सारे साधनों का प्रयोग प्रजा की भौतिक एवं अध्यात्मिक उन्नति के लिए करेगा । सर्वलोकहित ही उसका आदर्श बन गया । अशेक ने अपनी प्रजा को अपनी संतान का स्थान दिया । एक पिता की भाँति ही उनकी भलाई के लिए वह सदा तैयार रहता था ।

छठे शिलालेख में अशोक ने राजत्व के आदर्श की व्याख्याएँ की है ''सर्वलोकहित वस्तुतः मेरे द्वारा कर्तव्य माना गया है । सर्वलोकहित के अतिरिक्त कोई दूसरा काम नहीं है । मैं इसलिए कार्य करता हूँ कि मैं जीवधारियों के प्रति अपने ऋण से उऋण होऊँ और यहाँ कुछ प्राणियों को सुखी करूँ ।

अपने आदर्शो को कार्यान्वित करने क लिए अशोक ने निम्नलिखित प्रशासनिक सुधार किए–

अधिकारी का दौरा (Visit of Officer)– अशोक ने रज्जुक, युतों, महामात्यों आदि उच्च अधिकारियों को तीन–तीन अथवा पाँच–पाँच वर्षो पर दौरा करने का आदेश दिया । उनके जिम्में धर्म–प्रचार, न्याय, रक्षा आदि अनेकों लोकहित के कार्य थे । वे इसकी निगरानी भी करते थे कि जनता को अकारण बन्धन और अकारण परिक्लेश न दिया जाए ।

धम्म महामात्रों की नियुक्ति (Appointment of Dhamma Mahamatres)– धम्म महामात्रों और धम्म–युगों की नियुक्ति भी इसी सिलसिले की ही एक कड़ी थी । उनका कार्य जन–कल्याण सम्बन्धी अनेकों कार्य करना जैसे धम्म प्रचार एवं विभिन्न पंथों के बीच आपसी एकता स्थापित करना । वे न्यायालयों द्वारा दिए गए दण्डों पर पुनर्विचार कर दण्ड कम कर देते अथवा बिल्कुल माफ कर देते थे । वे साम्राज्य में धर्म और दान का नियमन करते थे ।

प्रतिवेदकों की नियुक्ति (Messangers' Appointment)– अशोक के विचार में राजा को हर समय, हर जगह जनता की भलाई का कार्य करना चाहिए । इस कार्य के लिए 'प्रतिवेदक' नियुक्त किए गए । उन्हें आदेश था कि किसी भी घड़ी, किसी भी स्थान पर जनता की आवाज पहुँचाई जाए ।

रज्जुकों को लोकहित के कार्य करने की स्वतंत्रता (Liberty of Doing Public Welfare Works)– अशोक ने रज्जुकों को न्याय–सम्बन्धी सब अधिकार दे दिए ताक वे बिना किसी रूकावट के लोक–हित के कार्य कर सकें और उसका आदर्श पूरा हो । उन्हें उपहार और दण्ड देने की पूरी स्वतंत्रता थी । अशोक ने अपने रज्जुकों की तुलना निपुण धाइयों से की हैं ।

जिन कैदियों को फाँसी सजा होनी थी उन्हें तीन दिन की मुहलत देने का नियम बनाया गया था । प्रत्येक वर्ष किसी विशेष अवसर पर कैदियों को क्षमा कर जेल से छुटकारा दिलाया जाता था । अशोक ने धम्म–विजय, धम्म–यात्रा तथा धम्म–श्रवण की व्यवस्था करवायी और सभी धम्म वालों को वास की सुविधा दी गयी । इस प्रकार अशोक ने अपने प्रशासनिक सुधारों द्वारा मौर्य साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान किया ।

सम्पूर्ण शासन–व्यवस्था का केन्द्र–बिन्दु तो अभी भी सम्राट ही था, किन्तु अशोक प्रजा के प्रति अपने उत्तरादायित्वों को निबाहने में पूर्ण जागरूक था । प्रजा–पालन तथा उनका हित–चिन्तन ही अशोक के जीवन का एकमात्र ध्येय रह गया था । अशोक स्वयं को प्रजा का ऋणी समझता था और लोकहित के द्वारा ही वह इससे उऋण हो सकता था । अतः वह कहता है, 'बहुत दिनों से हर घड़ी काम करने और समाचार प्राप्त करने की प्रथा नहीं रही है, अतः अब मैं यह व्यवस्था करता हूँ कि सब समय और सब जग, चाहे मैं भोजन करता रहूँ चाहे अन्तःपुर में रहूँ अथवा शयनागार में, लोक–कार्य की सूचना प्रतिवेदकों द्वारा मुझे दी जाय । मैं जनता के कार्य को करने के लिए हर जगह प्रस्तुत हूँ ।

अशोक केवल कोरा सैद्धान्तिक नहीं था, अपितु एक योग्य शासक भी था । अपने श्रेष्ठ धार्मिक भावनाओं, प्रजावत्सलता और अहिंसात्मक नीति के होते हुए भी उसने शासन के कर्तव्यों का इतनी कुशलता से पालन किया था कि उसके विशाल साम्राज्य में पूर्ण शान्ति–व्यवस्था तथा समृद्धि व्याप्त थी ।

मंत्रिपरिषद (Cabinet)– शासन–व्यवस्था के सुचारू संचालन के लिए एक मंत्रिपरिषद थी जो सम्राट को सभी महत्वपूर्ण विषयों पर परामर्श देती थी । वे शिलालेख से हमें ज्ञात होता है कि मंत्रिपरिषद को इतनी अधिक स्वतंत्रता प्राप्त थी कि वह सम्राट से किसी भी गूढ़ विषय पर वाद–विवाद कर सकती थी । राजाज्ञा का पालन करना, विवादास्पद विषयों को राजा के पास निर्णय के लिए भेजना, राजा की नीतियों और आज्ञाओं को कार्यान्वित करवाना, राजकर्मचारियों को सलाह देना एवं उनपर नियंत्रण रखना मंत्रिपरिषद के कार्य थे ।

13.6 अशोक की विदेश नीति (Foreign Policy of Ashoka)

अपने शासन–काल के प्रथम तेरह वर्षो में अशोक ने मौर्य साम्राज्य की परम्परागत नीति का ही अनुसरण किया । उसने भारत के अन्दर अपने साम्राज्य के विस्तार और विदेशी शासकों के साथ मैत्रीपूण व्यवहार की नीति अपनायी । चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार की तरह अशोक भी देशी शक्तियों के लिए आक्रमण और विदेशी शक्तियों के लिए मित्र रहा । राजदूतों के आदान–प्रदान एवं तुषारफ जैसे यवनों को भी राजपद देने के उदाहरण विदेशियों से मौर्यो की मैत्री के परिचायक है । भारत के अन्दर अशोक की दिग्विजय–नीति का परिणाम कलिंग युद्ध था । किन्तु इस युद्ध के बाद उसने भारत की सीमाओं के अन्दर भी दिग्विजय की नीति छोड़ दी । कलिंग–अभिलेख में अशोक ने स्वयं घोषणा की कि सीमान्त स्वतंत्र राज्य उससे भयभीत न हो और विश्वास रखें कि उन्हें अशोक से सुख की प्राप्ति होगी । उसने स्वीकार किया कि 'धम्म विजय' सबसे बड़ी विजय है और आशा व्यक्त की कि उसके उत्तराधिकारी भी 'धम्म–विजय' की नीति

अपनायेंगे । उसने स्पष्ट घोषणा की कि ''यदि उन प्रदेशों के निवासी, जिन्हें मैंने नहीं जीता है, जानना चाहते है कि मेरी क्या इच्छा है तो उन्हें बतला दिया जाये कि उनके प्रति मेरी यह इच्छा है कि मेरे कारण वे किसी प्रकार चिन्तित न हों । मेरे में विश्वास रखें । उन्हें इस व्यवहार का फल सुख ही मिलेगा, न कि शोक । किन्तु वे यह भली प्रकार समझ लें कि मैं उनको एक सीमा तक ही क्षमा कर सकता हूँ उससे परे नहीं ।

यद्यपि अशोक ने अपने पड़ोसी राज्यों को जीतकर अपने साम्राज्य में मिलाया नहीं किन्तु समय–समय पर वह उन्हें परामर्श देता था । इन राज्यों में उसने अपने धर्म–प्रचारक भेजे, मनुष्यों एंवं पशुओं के लिए अस्पताल खोले और औषधियों के पौधे लगवाये ।

इस प्रकार अशोक का बाहरी प्रत्यन्त राज्यों के साथ मैत्री, सौहार्दपूर्ण सहयोग ओर सह–अस्तित्व का सम्बन्ध था । अपने राष्ट्र के साथ–साथ वह समान यप से बाहरी राष्ट्रों की हित–कामना के लिए भी प्रयत्नशील था । निश्चय ही उसकी इस नीति ने बाहरी देशों के साथ भारत के सम्बन्ध दृढ़ कर दिये थे । यवनों के साथ–साथ उसने चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णि के राज्यों के साथ भी सर्वकल्याण, सहयोग एवं सह–अस्तित्व की नीति अपनायी ।

13.7 मौय साम्राज्य के पतन के कारण (Causes of Decline of Mauryan Empire)

अशोक के शासनकाल के पश्चात् मौर्यवंश क इतिहास पर गहरा अंधेरा छा गया । केवल एक बात निश्चित है कि जिस साम्राज्य की स्थापना चन्द्रगुप्त मौर्य ने की थी और जिसको अशोक ने बढ़ाया था वह बहुत काल तक सुरक्षित नहीं रह सका । अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ अपने सेनापति पुष्यमित्र के हाथों मारा गया । इसके साथ ही मौर्य साम्राज्य का भी अन्त हो गया ।

मौर्य साम्राज्य के पतन क प्रत्यक्ष कारण निम्नलिखित हैं –

13.7.1 अयोग्य एवं दुर्बल उत्तराधिकारी (Incapable and Weak Heirs)

पतन के अधिक प्रत्यक्ष कारणों में अशोक के बाद निर्बल एवं अयोग्य राजाओं का एक के बाद एक गद्दी पर आना था । अशोक के ये निर्बल उत्तराधिकारी साम्राज्य के पतन के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी थे । वे इतने योग्य नहीं थे कि देश में पूर्ण शान्ति और व्यवस्था बनाये रखते । उनमें साम्राज्य के विघटन को रोकने की न शक्ति थी, न इच्छा । अशोक के उत्तराधिकारियों में से एक भी ऐसा नहीं था जो उसकी–सी ऊँचाई तक पहुँच सकता । उन्होंने अशोक से अहिंसा का उपदेश तो ग्रहण कर लिया था किन्तु उसकी प्रजा–वत्सलता और शासन को सुव्यवस्थित करने की प्रतिभा को ग्रहण नहीं किया था ।

13.7.2 विघटनात्मक प्रवृति का उदय (Beginning of Downfall Nature)

मौर्य साम्राज्य के पतन का एक प्रबल एवं महत्वपूर्ण कारण इसकी विघटनात्मक प्रवृति भी थी । अशोक के समय तक विशाल मौर्य साम्राज्य के ऊपर एक सुदृढ़ शासन सत्ता का प्रभाव जमा रहा किन्तु उसकी मृत्यु के शीघ्र बाद ही स्थानीय स्त्रतंत्रता की भावना प्रबल हो उठी । सीमावर्ती प्रान्तों में नियुक्त शासकों ने भी केन्द्रीय शासन की दुर्बलता का लाभ उठाकर स्वतंत्रता की घोषण कर दी । इस प्रकार अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य में विकेन्द्रीकरण की प्रवृति इतनी प्रबल हो गयी थी कि इसे रोका नहीं जा सका, क्योंकि इसे रोकने के लिए चन्द्रगुप्त जैसे शक्तिशाली नरेश की आवश्यकता थी, जबकि मौर्य साम्राज्य ऐसे शासक से शून्य हो गया था । अतः साम्राज्य का पतन अवश्यम्भावी था ।

13.7.3 साम्राज्य का विभाजन (Division of Empire)

पतन का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण साम्राज्य का दो भागों में विभाजन था । अशोक की मृत्यु के बाद पूर्वी साम्राज्य का शासक दशरथ बना ओर पश्चिमी का कुणाल । साम्राज्य के विभाजन ने विभिन्न राजकीय सेवाओं को छिन्न–भिन्न कर दिया ।

13.7.4 प्रान्तीय शासकों के अत्याचार (Atrocities of State Rulers)

सीमान्त प्रदेशों में शासन करने वाले राज्यपालों का अत्याचार भी मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण थे । लोकप्रियता प्राप्त करके ही कोई शासन चिरस्थायी रह सकता है और शासन की लोकप्रियता बहुत कुछ उसके कर्मचारियों के सद्व्यवहार पर निर्भर करती है । किन्तु मौर्य साम्राज्य के प्रान्तीय शासकों में इस गुण का सर्वथा अभाव था । अशोक

के शासनकाल में तक्षशिला के नागरिकों ने मंत्रियों की प्रजापीड़न की नीति के विरूद्ध विद्रोह कर दिया था । इससे स्पष्ट होता है कि मौर्य साम्राज्य के प्रान्तीय अधिकारी प्रजावत्सल नहीं थे । जबतक अशोक जीवित रहा, वह संयत और मर्यादित रख सका, किन्तु अशोक की मृत्यु के बाद ही वे अमर्यादित हो उठे । प्रजा में प्रानतीय शासकों के प्रति विरक्ति और क्षोभ तीव्र गति से बढ़ा । इस प्रकार प्रान्तीय शासन की अलोकप्रियता ने साम्राज्य के आधार को ही नष्ट कर दिया ।

13.7.5 आर्थिक कारण (Economical Causes)

मौर्य शासकों की आर्थिक नीति भी मौर्य साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण रहा है । मौर्य शासनकाल में प्रजा पर अत्यधिक कर लगाये गये थे और राजकोष को भरने के लिए मूर्तियों पर भी कर लगाया गया था । सिक्कों के वजन में कमी कर दी गयी थी । करों के भार ने प्रजा को साम्राज्य का विरोधी बना दिया था । यह भी कहा जाता है कि अशोक की दानशीलता एवं स्तूपों, विहारों, शिलालेखों, स्तम्भलेखों के निर्माण करने की नीति के फलस्वरूप राजकोष रिक्त होने लगा था । अशोक लोकोपकारी कार्य पर भी काफी धन खर्च किया था । विदेश में भी धर्म–प्रचार के लिए काफी धन व्यय किया गया था । अतः जहाँ एक ओर अशोक की अहिंसा की नीति साम्राज्य की सैनिक शक्ति को नष्ट कर रही थी, वहीं दूसरी ओर उसकी दान–नीति साम्राज्य की आर्थिक स्थिति को खोखली करती जा रही थी । अशोक के उत्तराधिकारियों के समय अनेक प्रान्त स्वतंत्र हो गये । इससे भी साम्राज्य की आय कम हो गयी थी । सुदृढ़ आर्थिक स्थिति के अभाव में साम्राज्य की सुरक्षा संभव नहीं थी ।

13.7.6 बृहद्रथ का उत्तरदायित्व (Responsibility of Brithadrath)

अन्तिम मौर्य साम्राज्य का शासक बृहद्रथ, जो एक विलासी और अकर्मण्य शासक था, मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए कम उत्तरदायी नहीं था । वह अपने दरबारियों को भी संगठित रखने में असमर्थ था । उसके शासनकाल में दो परस्परविरोधी दलों का निर्माण हो चुका था जिसमें सदैव पास्परिक प्रतिद्वन्द्विता बनी रहती थी । इससे साम्राज्य का ह्रास होता गया । उसने एक और भंयकर गलती की थी । उसने सेना से कोई सम्पर्क नही रखा था, जिससे सेनापति पुष्यमित्र ने अनुकूल परिस्थिति पाकर उसकी हत्या कर दी और एक राजवंश की नींव डाली । इसके साथ ही मौर्य साम्राज्य का भी अन्त हो गया ।

13.7.7 यूनानी आक्रमण (Unani Invasion)

कुछ इतिहासकारों ने यूनानी आक्रमणों को भी मौर्य साम्राज्य के पतन का कारण माना है । यूनानी आक्रमण का आभास पोलिबियस के विवरण और गार्गी संहिता से होता है । विभिन्न प्रान्तों, विशेषकर उत्तर–पश्चिमी भाग पर केन्द्रीय अधिकार समाप्त हो गया होगा । अतः मौर्य साम्राज्य अधिक दिनों तक नहीं टिक सका ।

13.7.8 दोषपूर्ण शासन–व्यवस्था (Defective Administrative System)

मौर्य साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण वह राज्य–व्यवस्था थी जिसमें एक राजा के पश्चात् उसका पुत्र सिंहासन पर बैठता था, चाहे वह कितना ही अयोग्य क्यों न हो । व्यक्तिगत शासन की सफलता शासन की व्यक्तिगत योग्यता और प्रजा के हित की भावना पर निर्भर करती है । अशोक के उत्तराधिकारियों में इन गुणों का अभाव था । राजकर्मचारी राजा के प्रति निष्ठा रखते थे, न कि राज्य के प्रति । प्रशासन में भी अधिकतर शक्तियाँ राजा के हाथ में थीं । ऐसे शासन में जनता के सहयोग के लिए पर्याप्त अवसर नहीं रहता है ।

डॉ0 रोमिला थापर के अनुसार ''मौर्य साम्राज्य के पतन की संतोषजनक व्याख्या सैनिक अकर्मण्यता, ब्राह्मणों का असंतोष, सार्वजनिक विद्रोह या आर्थिक दबाव के आधार पर नहीं दी जा सकती ।'' उनका मत है कि पतन का मुख्य कारण केन्द्रीय नौकरशाही व्यवस्था और राज्य अथवा राष्ट्र के विचार का अभाव था । मौर्य–साम्राज्य केन्द्रीयकरण पर आधारित था और प्रशासनिक व्यवस्था अधिकारियों की योग्यता और वफादारी पर निर्भर थी । ये अधिकारी राजा के प्रति वफादार रहते थे, राज्य के प्रति नहीं । इस व्यवसायी में सबकुछ शासन की योग्यता और शक्ति पर निर्भर करता था । इसके अतिरिक्त, गंभीर आर्थिक असमानताओं और सांस्सकृतिक प्रगति के आधार पर सम्पूर्ण साम्राय का एकता के सूत्र में बांधकर रखना कठिन था ।

इस प्रकार मौर्य साम्रज्य का पतन प्रायः उन्हीं कारणों से हुआ जिनके कारण अन्य साम्राज्यों का पतन हुआ था । अयोग्य उत्तराधिकारी, विघटनात्मक प्रवृति का उदय, आवागमन के साधनों का अभाव, साम्राज्य का विभाजन, महल में षड्यंत्र, नौकरशाही व्यवस्था आदि मौर्य साम्राज्य के पतन के मुख्य कारण थे । अतएव साम्राज्य के पतन के लिए अशोक को पूर्ण रूप से उत्तरदायी ठहराना उपर्युक्त एवं तर्कसंगत नहीं लगता है । वह आंशिक रूप से ही उत्तरदायी माना जा सकता है ।

बोधप्रश्न

1. अशोक के जीवन में कलिंग–विजय के महत्व को दर्शायें ।
2. अशोक क राजनीतिक एवं प्रशासनिक उपलब्धियों का परीक्षण करें ।
3. अशोक का कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदानों का वर्णन करें ।
4. मौर्य साम्राज्य के पतन में अशोक की नीतियाँ किस प्रकार सहायक सिद्ध हुई ? परीक्षण करें ।

* * * * *

अध्याय- 14
मौर्योत्तर काल
(Post Mauryan Age)

14.0 उद्देश्य (Aims)

14.1 प्रस्तावना (Introduction)

14.2 जानकारी के स्रोत (Sources of Knowledge)

14.3 विदेशी आक्रमण (Foreign Invasion)

14.4 यूनानी सम्पर्क का भारत पर प्रभाव (Impact of Unani Relationship on India)

14.5 हिन्द–पार्थियन (Hind-Parthiyan)

14.6 शक (Shakas)

14.7 कुषाण (Kushanas)

14.7.1 कनिष्क (Kanishka)

14.8 शुंग वंश (Shunga Dynasty)

14.9 काण्व वंश (Kanva Dynasty)

14.10 आंध्र–सातवाहन वंश (Andhra-Satvahana Dynasty)

बोध प्रश्न

14.1 उद्देश्य (Aims)

इस इकाई को पढ़ने के बाद–

- मौर्योत्तर काल के इतिहास की जानकारी के विभिन्न स्रोतों को जान पायेंगे ।
- मौर्योत्तर काल में भारत पर विदेशी आक्रमण के प्रभावों को समझ सकेगें ।
- कुषाण काल के विभिन्न उपब्धियों से अवगत होंगे ।
- आन्ध्र–सातवाहन वंश की विशेषताओं एवं प्रभाव को समझ सकेगें ।

14.1 प्रस्तावना (Aims)

मौर्य साम्राज्य की लड़खड़ाती हुई दीवार ई0 पू0 187 में ढ़ह गई और मौर्य साम्राज्य के अंत के साथ ही भारतीय इतिहास की राजनीतिक एकता कुछ समय के लिए खंडित हो गई । अब हिन्दूकुश से लेकर कर्नाटक एवं बंगाल तक एक ही राजवंश का आधिपत्य नहीं रहा । देश के उत्तर–पश्चिमी मार्गो से कई विदेशी आक्रांताओं ने आकर अनेक भागों में अपने–अपने राज्य स्थापित कर लिए । दक्षिण में स्थानीय शासक वंश स्वतंत्र हो उठे । कुछ समय के

लिए मध्य प्रदेश का सिंधुघाटी एवं गोदावरी क्षेत्र से संबंध टूट गया और मगध के वैभव का स्थान साकल, विदिशा, प्रतिष्ठान आदि कई नगरों ने ले लिया ।

14.2 जानकारी के स्रोत (Sources of Knowledge)

इस काल के विषय में जानकारी देने वाले स्रोत अनेक हैं । भारतीय धार्मिक एवं धर्मेतर साहित्य, विदेशी साहित्यक ग्रंथों, अभिलेखों, सिक्कों एवं पुरातात्त्विक खोजों के आधार पर इस काल के इतिहास की पुनर्रचना में सहायता मिलती है । पुराण एवं स्मृति–ग्रन्थ इस काल के विषय में जानकारी के स्रोत है । इसके अतिरिक्त बौद्ध धार्मिक ग्रंथों से भी तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक स्थिति का पता चलता है । दिव्यावदान, ललितविस्तर, मंजूश्रीमूलकल्प नामक बौद्ध ग्रन्थ भी इस काल के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं । धर्मेत्तर साहित्य में पतंजलि के महाभाष्य से हमें पुष्यामित्र शुंग के राज्यकाल की कुछ घटनाओं का पता चलता है । कालिदास कृत मालविकाग्निमित्र से भी पुष्यमित्रकालीन यवन–आक्रमणों के कुछ विवरण मिलते हैं ।

सन् 80 के लगभग किसी यूनानी नाविक ने पेरिप्लस ऑफ दि एरिथ्रियन सी नामक पुस्तक में भारतीय समुद्रों का हाल लिया था । इस पुस्तक से ईसवी सन् की पहली शती में भारत की व्यापारिक गतिविधि का पता चलता है । स्ट्राबों के 'भूगोल' एवं प्लिनी कृत 'नेचुरल हिस्ट्री' में उन देशों के विविध पक्षों का वर्णन मिलता है जिनके साथ उस समय भूमध्यसागरीय देशों का व्यापारिक संबंध था । ये दोनों कृतियाँ ईसवी सन् की आरंभिक दो शताब्दियों की है । चीन के राजवंशों के प्रांरभिक इतिहास ग्रंथ भी इस काल के संबंध में उपयोगी सामग्री प्रदान करने में सहायक हुए है ।

राजाओं के अभिलेखों में प्रशस्तियाँ और राजाज्ञा प्रमुख हैं । प्रशस्तियाँ में सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं गौतमी वलश्री का नासिक अभिलेख, जिसमें गौतमीपुत्र शातकर्णी का वर्णन है । रूद्रदामा का गिरनार शिलालेख भी उस समय का प्रसिद्ध अभिलेख है । इस समय का इतिहास लिखने में सिक्के बहत उपयोगी सिद्ध हुए हैं । भारतीय सिक्कों पर पहले केवल देवताओं के चित्र ही अंकित रहते थे, उनका नाम या तिथि उत्कीर्ण नहीं की जाती थी । जब से उत्तर–पश्चिमी भारत पर बैक्ट्रिया के यूनानी राजाओं का शासन प्रारंभ हुआ, सिक्कों पर राजाओं के नाम व तिथियाँ उत्कीर्ण की जाने लगी । शक, पहलव और कुषाण राजाओं ने भी यूनानी राजाओं के अनुरूप ही सिक्के चलाए । भारतीय शक राजाओं और मालव यौधेय आदि गण राज्यों के इतिहास पर उनके सिक्के पर्याप्त प्रकाश डालते हैं । वास्तव में सिक्कों के इतिहास की दृष्टि से यह काल अभूतपूर्व है ।

14.3 विदेशी आक्रमण (Foreigners Invasion)

उत्तर–पश्चिमी से विदेशियों के आक्रमण मौर्योत्तर काल की सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना थी । इनमें से सबसे पहले आक्रांता थे बैक्ट्रिया के ग्रीक जिन्हें पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य में यवन के नाम से संबोधित किया गया है । सिकंदर ने अपने पीछे एक बहुत विशाल साम्राज्य छोड़ा था जिसमें मैसीडोनिया, सीरिया, बैक्ट्रिया, पार्थिया, अफगानिस्तान एवं उत्तर–पश्चिमी भारत के कुछ भाग सम्मिलित थें । इस साम्राज्य का काफी बड़ा भाग सिकंदर के बाद सेल्यूकस के अधीन रहा यद्यपि अफगानिस्तान एवं भारत के उत्तर–पश्चिम के भाग उसे चन्द्रगुप्त मौर्य को समर्पित कर देने पड़े थे । लगभग ई0 पू0 250 में बैक्ट्रिया के गर्वनर डियोडोटस एवं पार्थियाके गवर्नर औरेक्सस ने अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर दिया । बैक्ट्रिया के दूसरे राजा डियोडोटस द्वितीय ने अपने देश सेल्यूकस के साम्राज्य से पूर्णतः अलग कर लिया ।

डियोडोटस एवं उसका उत्तराधिकारी मध्य एशिया में अपना साम्राज्य सुगठित करने में व्यस्त रहे किंतु उनके बाद के एक शासक डेमेटियस प्रथम ने भारत पर आक्रमण किया । ई0 पू0 183 के लगभग उसने पंजाब का एक बड़ा भाग जीत लिया और साकल को अपनी राजधानी बनाया । डेमोट्रियस ने भारतीयों के राजा की उपाधि धारण की और यूनानी तथा खरोष्ठी दोनों लिपियों वाले सिक्के चलाए ।

यूक्रेटाइड्स के सिक्के बैक्ट्रिया, सीस्तान, काबुल की घाटी, कपिश और गंधार में मिले है । संभवतः झेलम तक पश्चिमी पंजाब को उसने अपने राज्य में मिला यद्यपि वह और आगे नहीं बढ़ सका । डेमेट्रियस का अधिकार पूर्वी पंजाब

और सिंध पर ही रह गया । भारत में यवन साम्राज्य इस प्रकार दो कुलों में बंट गया – डेमेट्रियस एवं यूक्रेटाइड्स के वंश । सबसे प्रसिद्ध यवन शासक मीनान्डर था जो बौद्ध साहित्य में मिलिन्द के नाम से प्रसिद्ध है । यह संभवतः डेमोट्रियस के कुल का था । पेरिप्लस में लिखा है कि मिनान्डर के सिक्के भड़ोच के बाजारों में खूब चलते थे । स्वात की घाटी में एक मंजूषा मिली है जिसपर मिनान्डर का नाम खुदा है । इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि मिनान्डर के राज्य में अफगानिस्तान का कुछ भाग और उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रदेश सम्मिलित थे । पतंजली के महाभाष्य में उल्लेख आया है कि यूनानियों ने अवध में साकेत और राजस्थान में चितौड़ के निकट माध्यमिक का घेरा डाला । कुछ इतिहासकारों का मत है कि ये वर्णन मिनान्डर के भारतीय आमणों से संबद्ध हैं । पुरातात्विक साक्ष्यों से भी इस बात के संकेत मिले है कि गंगा घाटी में ई0 पू0 दूसरी शती के मध्य में काफी विध्वंस हुआ । पुष्यमित्र शुंग के राज्यकाल का प्रारंभ लगभग ई0 पू0 187 में हुआ था और मिनान्डर का समय इससे बहुत बाद का है । मिनान्डर के सिक्के काबुल से मथुरा और बुंदेलखण्ड तक मिले है । बौद्ध ग्रंथ मिलिन्द में मिनान्डर के बौद्ध भिक्षु नागसेन के साथ वाद–विवाद के उपरान्त बौद्ध धर्म का अनुयायी बनने की कथा है । इसकी राजधानी साकल शिक्षा का प्रसिद्ध केन्द्र थी और वैभव एवं ऐश्वर्य में यह पाटलिपुत्र की समता करती थी । यह व्यापार का बड़ा केंद्र भी थी । भारत में यवन राज्य दीर्घकालीन न हो सका क्योंकि राजनीतिक एवं भौगोलिक कारणों से मध्य एशिया में कबीलों का आना प्रारंभ हो गया । चीनी सम्राट शी–हुआंग–ती द्वारा वहां विशाल दीवार बना देने एवं उस क्षेत्र में चरागाह सूख जाने के कारण कई कबीले वहां से पश्चिम की ओर चले पड़े । किंतु यू–ची कबीला अब भी उनके पीछे था, अतः और आगे बढ़ते हुए उन्होंने पहले पार्थिया और फिर भारत के इंडो–ग्रीक राज्यों पर आक्रमण किया और वहाँ अपना अधिकार स्थापित कर लिया ।

14.4 यूनानी सम्पर्क का भारत पर प्रभाव (Impact of Unani Relationship on India)

इस काल में यूनानी सम्पर्क का भारत पर जो प्रभाव पड़ा उसके विषय में विभिन्न मतों की चर्चा करना तर्कसंगत होगा । प्रायः यह कहा जाता है कि भारत पर यूनानी सत्यता का प्रभाव जमाने का जो कार्य सिकन्दर नहीं कर सका था वह भारत में इंडो–ग्रीक साम्राज्य स्थापित होने से पूर्ण हो गया । इस पक्ष पर और साथ ही तथाकथित गंधार शैली पर ग्रीक प्रभाव के विषय में विद्वानों में भिन्न–भिन्न मत है ।

बी0 ए0 स्मिथ एवं डब्ल्यू0 डब्ल्यू टार्न जैसे इतिहासकारों के अनुसार देश के अंदरूनी भागों पर डेमेट्रियस, युक्रेटाइड्स, मिनान्डर, आदि के आक्रमण अल्पकालिक थे और उन्होंने भारत की मूल संस्कृति पर कोई प्रभाव नहीं छोड़ा । उनके अनुसार भारतीय, सिकन्दर, मिनान्डर आदि में विजेताओं के रूप में प्रभावित थे । वे उन्हें संस्कृति का दूत नहीं समझते थे । यद्यपि ये विजेता उनके लिए भय के पात्र अवश्य थे किन्तु उनके लिए वे अनुकरणीय कदापि नहीं थे । बुडकाक जैसे इतिहासकारों का कथन है कि ग्रीक विजेताओं ने कई क्षेत्रों में भारत पर अपनी छाप छोड़ी थी । उनके अनुसार मुस्लिम आक्रमणों ने पूर्व के अन्य सभी आक्रांताओं की भांति यद्यपि कालक्रम से यवन भी भारतीय जनसंख्या में समाविष्ट हो गए, किन्तु ईसवी सन् के प्रारंभिक काल में भारत पर उनका पर्याप्त प्रभाव था । इसके अतिरिक्त विज्ञान के क्षेत्र में भारतीयों ने मुक्त रूप से यवनों से शिक्षा ग्रहण की थी । भारतीयों का ध्यान ज्योतिषशास्त्र ने विशेष रूप से आकर्षित किया था । उन्होंने यूनानियों से ही कलैंडर प्राप्त किया–सप्ताह का सात दिनों में विभाजन एवं विभिन्न ग्रहों के नाम भी उनसे ही लिये । बराहमिहिर ने लिखा है कि यद्यपि यूनानी म्लेच्छ है किंतु वे ज्योतिष के विद्वान है और इसलिए प्राचीन ऋषियों की भाँति पूज्य है ।

सिक्के बनाने की कला में भारतीयों ने यूनानियों से बहुत–कुछ सीखा । यूनानियों से सम्पर्क होने से पहले भारतीय आहत मुद्राएँ काम में लाते थे । उनपर कोई मुद्रालेख नहीं होता था । यवनों ने यहाँ ऐसे सिक्कों का प्रचलन किया जिनपर एक ओर राजाओं की आकृति और दूसरी ओर किसी देवता की मूर्ति या कुछ चिह्न बनाए गए । भारतीय शासकों ने इसी प्रणली को अपनाया । कनिष्क ने भी बैक्ट्रिया के यूनानी राजाओं और रोम के सिक्कों के अनुरूप अपने सिक्के बनवाए ।

दूसरी ओर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में यूनान भारत का ऋणी हुआ । कई यूनानी राजाओं ने भारतीय धर्म को अपनाया । तक्षशिला के एक यवन राजा एण्टियालकिडास ने हेलियोडोरस नामक अपना राजदूत काशीपुत्र भागभाद्र के पास भेजा था । मिनान्डर स्वयं बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया । संभवतः तपस्या और योग की क्रियाएँ यूनानियों ने भारतीयों से सीखा ।

वचन प्रभाव के संदर्भ में एक मनोरंजक मत जर्मनी के प्राच्यविदों का है कि पारंपरिक संस्कृत सुखांत नाटकों पर एथेंस के नाटकों का प्रभाव था, जो कि इंडोग्रीक राजाओं के दरबारों एवं नगरों में अभिनीत होते थे । इसके प्रमाण के रूप में किसी अन्य साक्ष्य के अभाव में यह एक बहुत पुष्ट साक्ष्य माना जाता है कि संस्कृत नाटकों में पटाक्षेप के लिए 'यवनिका' शब्द का प्रयोग होता है ।

14.5 हिन्द–पार्थियन (Hind-Parthiyan)

ई0 पू0 पहली शती के अंत में पार्थियन नामों वाले कुछ शासक उत्तर–पश्चिम भारत पर शासन कर रहे थे, जिन्हें भारतीय स्रोतों में 'पहलव' कहा गया है ।

पार्थिया ने भी बैक्ट्रिया के साथ ही स्वयं को यूनानी शासक से स्वतंत्र किया था और सेल्यूकसवंशीय शासक एण्टियोकस तृतीय को इसकी स्वतंत्रता को भी मान्यता देनी पड़ी थी । पहलव शक्ति का वास्तविक संस्थापक मिथ्रेडेट्स प्रथम था जो यूक्रेआइड्स का समकालीन था । सीस्तान, कंधार, काबुल में प्राप्त कई सिक्कों से, चीनी एवं रोमन साहित्य से इस सूचना की पुष्टि होती है कि इस पर बैक्ट्रिया के बाद पहलवों ने राज्य किया और लगभग ईसवी की पहली शती के मध्य तक इनकी शक्ति का इस प्रदेश में काफी बोलबाला था । सिक्कों में ऐसे कई शासकों के नाम है जो पार्थियन हैं – ये संभवतः पहले पार्थियन शासकों के गर्वनर थे । भारत में पहला पार्थियन शासक माउस है । स्वातः की घाटी तथा गंधार प्रदेशों में प्राप्त सिक्कों में इसका नाम खरोष्टि लिपि में मोय और यूनानी लिपि में माउस लिखा है । फारसी में उसका नाम विन्दफर्ण है जिसका अर्थ है यथ विजयी । उसने पार्थिया के साम्राज्य के पूर्वी इरान आदि प्रदेशों को और यूनानी राजा ह्रयिस से उतरी काबुल की घाटी को जीता ।

पहलव साम्राज्य का अंत कुषाणों द्वारा हुआ । यह बात दो अभिलेखों से स्पष्ट होती है । हजारा जिले के पंजतर अभिलेख में महाराज कुषाण का राज्य लिखा है । 79 ई0 के तक्षशिला अभिलेख में राजा के लिए 'महाराज राजधिराज देवपुत्र कुषाण' लिखा है ।

14.6 शक (Shakas)

लगभग ई0 पू0 165 में यह कबीला यू–ची नामक एक अन्य कबीले द्वारा मध्य एशिया से खदेड़ दिया गया था । इसने आगे बढ़ते हुए बैक्ट्रिया, पार्थिया आदि पर आक्रमण किया, फिर और आगे बढ़कर हिंद–पार्थियन राजाओं से युद्ध किया । भारत में शक राजा अपने आपको क्षत्रप कहते थे । शक शासकों की भारत में दो शाखाएँ हो गई थीं । एक उत्तरी क्षत्रप कहलाते थे जो तक्षशिला एवं मथुरा में थे और दूसरे पश्चिमी क्षत्रप कहलाते थे जो नासिक एवं उज्जैन के थे । पश्चिमी क्षत्रप अधिक प्रसिद्ध थे । यू–ची आक्रमण के भय से कई क्षपत्र ई0पू0 पहली शती से ईसवी की पहली शती के बीच उत्तर–पश्चिम से दक्षिण की ओर बढ़ आए थे और नासिक के क्षत्रपों तथा उज्जैन के क्षत्रपों की दो शाखाओं में बंट गए थे । नासिक के क्षत्रपों में दो प्रसिद्ध शासक भूमक और नहपान थे । वे अपने को क्षहरात क्षत्रप कहते थे । अभिलेखों के आधार पर प्रतीत होता है कि नहपान का राज्य उत्तर में राजपूताना तक था । उसके राज्य में काठियावाड़, दक्षिणी गुजरात, पश्चिमी मालवा, उत्तरी कोंकण, पूना आदि शामिल थे । उसने महाराष्ट्र के एक बड़े भू–भाग को सातवाहन राजाओं से छीना था ं नहपान के समय भड़ौच एक बंदरगाह था । उज्जैन, प्रतिष्ठान आदि से बहुत–सा व्यापारिक सामान लाकर वहाँ एकत्र किया जाता था । वहाँ से यह सामान पश्चिमी देशों को भेजा जाता था ।

उज्जैन का पहला स्वत्रंत शासक चष्टण था । इसने अपने अभिलेखों में शत संवत् का प्रयोग किया है । इसके अनुसार इस वंश का राज्य 130 ई0 से 388 ई0 तक चला, जब संभवतः चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने इस कुल का समाप्त किया । ये शक कार्द्वमत क्षत्रप कहलाते थे । उज्जैन के क्षत्रपों में सबसे प्रसिद्ध रूद्रदमन था । रूद्रदामा ने दुबारा अपने समकालीन शातकर्णी राजा को हराया । परन्तु निकट संबंधी होने के कारण उसे नष्ट नहीं किया । यह शातकर्णी संभवतः वशिष्ठीपुत्र पुलुमादि था । संभवतः सिंधु नदी की घाटी रूद्रदामा ने कुषाण राजा से जीती थी । वह सुदर्शन झील, जिसे

चन्द्रगुप्त मौर्य ने बनवाया था और जिसकी मरम्मत अशोक ने करवाई थी, रूद्रदमन के समय फिर टूट गई । तब उसने निजी आये से इसकी मरम्मत कराई और प्रजा के इसके लिए कोई कर नहीं लिया ।

रूद्रदमन व्याकरण, राजनीति, संगीत एवं तर्कशास्त्र का पंडित था । जूनागढ़ अभिलेख संस्कृत में है और इससे उस समय के संस्कृत के साहित्य के विकास का अनुमान होता है ।

यद्यपि शक साम्राज्य चौथी शताब्दी ईसवी तक चलता रहा किन्तु रूद्रदामा के पश्चात् शक साम्राज्य की शक्ति का ह्रास प्रारंभ हो गया था । इस वंश का अंतिम शासक रूद्र सिंह तृतीय था । चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उसे मारकर पश्चिमी क्षत्रपों के राज्य को गुप्त साम्राय में मिला लिया ।

14.7 कुषाण (Kushanas)

मौर्योत्तरकालीन विदेशी आक्रमणों की श्रृंखला में यू–ची अत्यंत महत्वपूर्ण है । लगभग ई0 पू0 165 में इसके पड़ोसी कबीले हिंग नू ने यूचियों क नेता को मारकर उन्हें पश्चिमी चीन का क्षेत्र छोड़ने पर बाध्य कर दिया था । इसी क्षेत्र में यह कबीला दो शाखाओं में विभक्त हो गया – 1) कनिष्ठ यू–ची जो तिब्बत की ओर चले गये और 2) ज्येष्ठ यू–ची जो पश्चिम की ओर बढ़े और उन्होंने बैक्ट्रिया, पार्थिया, आदि के शासकों को पराजित किया । चीनी इतिहासकारा स्यू–मा–चियन के अनुसर एक नेता कुजुल कडफिसस ने पाँच विभिन्न कबायली समुदायों को अपने कुई शांग अथवा कुषाण समुदाय की अध्यक्षता में संगठित किया और वह भारत की ओर बढ़ा जहाँ उसने काबुल और कश्मीर में अपनी सत्ता स्थापित कर दी । उसके प्रारंभिक सिक्कों पर मुख भाग पर अंतिम यूनानी राजा हर्मियस की आकृति है और पृष्ठ भाग पर उसकी अपनी । इसका अर्थ यह हुआ कि वह पहले यूनानी राजा हर्मियस के अधीन था । बाद के सिकों में वह अपने को 'महाराजाधिकार' कहता था । उसकी मृत्यु लगभग 64 ई0 में हुई । उसके सिक्के रोम के सम्राटों के सिक्कों से बहुत मिलते–जुलते है । उसके बाद उसका पुत्र विम कडफिसस गद्दी पर बैठा । उसने सिंधु नदी पार करके तक्षशिला और पंजाब पर अधिकार कर लिया । उसने अपने सोने तथा तांबे के सिक्कों में महाराज, राजाधिराज, महीश्वर, सर्वलोकेश्वर आदि के विरूद्ध धारण किए । उसके सिक्कों पर भी एक ओर यूनानी लिपि है और दूसरी ओर खरोष्ठी । उसके सिक्कों पर शिव की आकृति, नंदी और त्रिशूल आदि लक्षणों से ज्ञात होता है कि वह शैव धर्म से प्रभावित था ।

14.7.1 कनिष्क (Kanishka)

इस वंश का तीसरा शासक कनिष्क था । कनिष्क कुषाण वंश का महानतम शासक था । उसके ही कारण कुषाण वंश का भारत के सांस्कृतिक एवं राजनीतिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है । उसका राज्यारोहण काल 78 ई0 से 105 ई0 तक के लगभग में है किंतु संभावना यही अधिक है कि तथाकथिक शक संवत्, जो 78 ई0 से आरंभ हुआ माना जाता है, कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि है । कनिष्क के राज्यारोहण के समय कुषाण साम्राज्य में अफगानिस्कान, सिंध का भारग, बैक्ट्रिया एवं पार्थिया के प्रदेश सम्मिलित थे । कनिष्क ने भारत में अपना राज्य मगध तक विस्तृत कर लिया । वहाँ से वह प्रसिद्ध विद्वान अश्वघोष को अपनी राजधानी पुरूषपुर ले गया । कनिष्क का सबसे प्रसिद्ध युद्ध चीन के शासक के साथ हुआ था, जहाँ एक बार पराजित होकर वह दुबारा विजयी हुआ कनिष्क ने मध्य एशिया में काशगर, यारकंद, खोतान आदि प्रदेश पर भी अपना आधिपत्य जमा लिया । इस प्रकार मौर्य साम्राज्य के पश्चात् पहली बार एक विशाल साम्राज्य की स्थापना हई जिसमें गंगा, सिंधु और ऑक्सस की घाटियाँ सम्मिलित थीं ।

प्राचीन भारत के सभी साम्राज्यों में कुषाण साम्राज्य की बड़ी ही महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति थी । पूर्व में चीन का 'स्वगिक साम्राज्य' था । इसके पश्चिम में पार्थियन साम्राज्य था । रोमन साम्राज्य का उदय हो रहा था । महान् 'सिल्कमार्ग' की तीनों मुख्य शाखाओं पर कुषाण साम्राज्य का नियंत्रण था । परिणामस्वरूप कुषाणों के समय में उत्तर–पश्चिम भारत उस समय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र बन गया । आर्थिक दृष्टि से कुषाणकालीन भारत अत्यंत समृद्ध प्रतीत होता है ।

उत्तरी भारत के सांस्कृतिक इतिहास में भी कुषाण काल का महत्वपूर्ण स्थान है । कनिष्क का नाम महायान बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार के साथ–साथ गंधार कला शैली के विकास से संबंद्ध है । कनिष्क निश्चय ही एक महान् योद्धा

था जिसने पार्थिया से मगध तक अपना राज्य फैलाया किन्तु उसका यश उसके बौद्ध धर्म के संरक्षक होने के कारण कही अधिक है । उसका निजी धर्म बौद्ध धर्म था । उसके प्रचार और संगठन के लिए उसने बहुत से कार्य किए । कनिष्क यद्यपि स्वयं बौद्ध धर्मावलंबी था किन्तु वह अन्य धर्मो के प्रति सहिष्णु था, यह बात उसके सिक्कों से स्पष्ट है । उनपर कई पार्थियन, यूनानी तथा भारतीय देवी–देवताओं की आकृतियां है ।

कनिष्क की राजसभा में बड़े–बड़े विद्वान विद्यमान थे । पार्श्व, वसुमित्र और अश्वषोघ बौद्ध दार्शनिक थे । नागार्जुन जैसे प्रकांड पंडित और चरक जैसे चिकित्सक उसकी राजसभा के रत्न थे ।

इस प्रकार कुषाणों की यद्यपि अपनी कोई विकसित संस्कृति नहीं थी किंतु भारत में बसने पर उन्होंने भारतीय और यूनानी संस्कृति को अपना लिया और इस समन्वित संस्कृति को ऐसा प्रोत्साहन दिया कि वह खूब विकसित हुई । उत्तरी भारत की जनता को यूनानी, शक, पहलव, आदि के आक्रमणों से अब मुक्ति मिली और उत्तर भारत में शांति और सुव्यवस्था स्थापित हुई । राजनीतिक शांति के इस काल में धर्म, साहित्य, कला, विज्ञान, व्यापार आदि सभी दिशाओं में खूब प्रगति हुई । वास्तव में गुप्त राजाओं से पूर्व कुषाण युग भारत के सांस्कृतिक विकास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है ।

14.8 शुंग वंश (Shunga Dynasty)

मौर्य साम्राज्य के पतन के उपरान्त इसके मध्य भाग में सत्ता शुंग वंश के हाथ में आई । इस वंश की उत्पत्ति के बारे में कोई निश्चित जानकारी नहीं है । संभवतः शुंग उज्जैन प्रदेश के थे जहाँ इनके पूर्वज मौर्यो की सेवा में थे । शुंगवंशीय पुष्यमित्र अंतिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ का सेनापति था । उसने अपने स्वामी की हत्या करके सत्ता प्राप्त की । इस नवोदित राज्य में मध्य गंगा की घाटी एवं चंबल नदी तक के प्रदेश सम्मिलित था । पाटलिपुत्र, अयोध्या, विदिशा आदि इसके महत्वपूर्ण नगर थे । पुष्यमित्र शुंग को यवन आक्रमणों का भी सम्मान पड़ा । समकालीन पतंजलि के महाभाष्य से हमे दों बातों का पता चलता है । पतंजलि ने स्वयं पुष्यमित्र के लिए अश्वमेघ यज्ञ कराए और उस समय एक आक्रमण में यवनों ने चित्तौड़ के निकट माध्यमिका नगरी और अवध में साकेत का घेरा डाला किंतु पुष्यमित्र ने उन्हें पराजित किया । कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक में उल्लेख आया है कि यवन आक्रमण के दौरान एक युद्ध सिंधु नदी के तट पर हुआ और पुष्यमित्र के पोते और अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र ने इस युद्ध में विजय प्राप्त की । शायद इस युद्ध का कारण यवनों द्वारा अश्वमेघ के घोड़े को पकड़ लिया जाना था । इसमें यवनों को पराजित करके यज्ञ का घोड़ा सुरक्षित वापस लाया गया था । इस उल्लेख से प्रकट होता है कि पुष्यमित्र ने यवनों को मगध में प्रविष्ट नहीं होने दिया । अशोक के समय से निषिद्व यज्ञादि क्रियाएं, जिनमें पशुबलि दी जाती थी, अब पुष्यमित्र के समय में पुनर्जीवित हो उठीं ।

पुष्यमित्र शुंग ने लगभग 36 वर्ष तक राज्य किया । उसके बाद उसके उत्तराधिकारियों ने ईसा पूर्व 75 तक राज्य किया । किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि शुंगों का राज्य संकुचित होकर मगध की सीमाओं तक ही रह गया ।

14.9 कण्व वंश (Kanva Dynasty)

शुंगवंश के अंतिम सम्राटा देवभूति की हत्या करके उसके सचिव वसुदेव ने ई0 पू0 75 में मगध में काण्व वंश की नींव रखी । इसमें केवल चार ही शासक हुए – वसुदेव, भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मन । इन्होंने ई0 पू0 30 तक राज्य किया । पुराणों के अनुसार इस वंश को आंध भृत्यों ने उखाड़ फेंका । किंतु आंध्र भृत्यों के मगध तक राज्य करने का कोई अन्य प्रमाण नहीं है । पाटलिपुत्र में कुछ काल के लिए मित्र वंश के राजाओं ने राज्य किया ।

14.10 आंध्र–सातवाहन वंश (Andhra-Satvahana Dynasty)

इसका केन्द्रबिन्दु महाराष्ट्र में प्रतिष्ठा नामक स्थान था ं इस राज्य को आंध्र–सातवाहन राज्य भी कहा जाता है जिसकी वजह से यह माना जाता है कि कदाचित इनका उद्‌गम आंध्र प्रदेश से हुआ था । जहाँ से वे गोदावरी नदी के तट के साथ–साथ पश्चिम की ओर बढ़े और मौर्य साम्राज्य के ह्रास का लाभ उठाते हुए स्वयं को वहाँ शक्तिशाली बना लिया । किन्तु एक अन्य मत के अनुसार वे प्रारंभ में पश्चिमी–दक्षिण के वासी थे तथा धीरे–धीरे उन्होंने अपना प्रदेश पूर्वी

तट तक विस्तृत कर लिया । अतः कालांतर में उन्हें आंध्र कहा जाने लगा । सातवाहनों का प्राचीनतम अभिलेख पश्चिमी दक्षिण से प्राप्त हुआ, अतः यह मत भी उचित हो सकता है । सातवाहन वंश के शासकों को दक्षिणाधिपति कहा जाता है । सातवाहन वंश के प्रारंभिक शासकों के समय में दक्षिणापथ से संभवतः यही अर्थ ग्रहण किया जाता था । इस राजवंश के प्रारंभिक शासकों के अभिलेख उत्तरी महाराष्ट्र में नासिक और नानाघाट में प्राप्त हुए है ।

अभिलेखों में जिन शासकों का उल्लेख सातवाहन के नाम से है, पुराणों में उन्हें आंधभृत्य कहकर भी संबोधित किया गया है ।

पुराणों के प्रमाण के अनुसार आंध्रों का उदय की तिथि लगभग ई0 पू0 30 कहीं जा सकती है । प्रथम सातवाहन शासक सिमुक था । उसे शुंग एवं काण्व शक्ति का नायक कहा गया है और उसका शासनकाल ई0 पू0 प्रथम शताब्दी का तृतीय चरण कहा जाता है । उत्तरवर्ती शासकों का तिथिक्रम उनके पश्मी भारत के शक क्षत्रपों के साथ संबंधों के आधार पर काफी संतोषजनक ढंग से निश्चित किया गया है ।

पुराणों के अनुसार सिमुक का उत्तराधिकारी उसका भाई कृष्ण था जिसने 18 वर्ष तक राज्य किया । क्षहरात वंश के शक क्षत्रपों ने सातवाहनों को पश्चिमी दक्कन से निष्कासित कर दिया शक क्षत्रप नहपान के जो सिक्के एवं अभिलेख नासिक प्रदेश के आसपास पाए गए है, वे प्रथम शताब्दी के अंत अथवा दूसरी शताब्दी के प्रारंभ में इस क्षेत्र पर शक आधिपत्य प्रकट करते है किंतु सातवाहनों ने अपने महानतम शासक गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी के नेतृत्व में पुनः अपनी प्रतिष्ठा स्थापित कर ली । गौतमीपुत्र ने शकों, यवनों, पहलवों तथा क्षहरातों का नाश कर सातवाहन कुल के गौरव की पुनः स्थापना की । उसने नहपान को हराकर उसके चांदी के सिक्कों पर अपना नाम अंकित कराया । गौतमी वलश्री के नासिक अभिलेख में लिखा है कि उसके पुत्र के घोड़े तीन समुद्रों का पानी पीते थे । गौतमीपुत्र शातकर्णी से संबंधित कुछ सिक्के भी आंध्रप्रदेश में मिले है । वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि अभिलेख ही सातवाहन राजाओं के अभिलेखों में आंध्रप्रदेश में सबसे प्राचीन है किंतु उसमें यह कहीं नहीं लिखा है कि इस प्रदेश को पुलुमावि ने जीतकर स्वयं सातवाहन साम्राज्य में मिलाया था ।

गौतमीपुत्र के बाद उसका पुत्र वाशिष्टीपुत्र श्री पुलुमावि राजा बना । उसके अभिलेख नासिक, कार्ले और अमरावती में भी मिले है । गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी के बाद सातवाहन राजाओं का शकों के दूसरे वंश काट्र्टमक से संघर्ष हुआ जिसमें वाशिटीपुत्र पुलुमावि को पराजित करके सातवाहन साम्राज्य के अनेक प्रदेशों पर अधिकार कर लिया । कन्हेरी अभिलेख के आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि शिवश्री शातकर्णी ने महाक्षत्रप रूद्रदामा की पुत्री से विवाह किया । रूद्रदामा के गिरनार अभिलेख में भी लिखा है कि उक्त शक शासक ने दक्षिणापथपति शातकर्णी को दो बार पराजित किया था किन्तु निकट संबंधी होने के कारण उसका विनाश नहीं किया ।

किन्तु तीसरी शताब्दी में उसकी शक्ति क्रमशः क्षीण होने लगी और स्थानीय शासक स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने लगे । सातवाहनों के पतन पर अनेक स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गए । आभीरों ने उनके महाराष्ट्र को छीन लिया । उत्तरी कनाडा जिला और मैसूर के भाग में कुन्तल और चुटु एवं उसके बाद कंदव शक्तिशाली हो गए । आंध्रप्रदेश में इच्छवाकुओं ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली । दक्षिण–पूर्वी में पल्लवों ने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया तथा छठी शताब्दी के मध्य तक एक महान् शक्ति बन गए । विदर्भ में वाकाटकों ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली ।

बोध प्रश्न

1. मौयोत्तर भारत के जानकारी के विभिन्न स्रोतों का उल्लेख करें ।
2. भारत पर मौयोत्तर काल में विदेशी आक्रमण का क्या प्रभाव पड़ा ? विवेचना करें ।
3. कुषाण कौन थे ? कनिष्क की उपलब्धियों का परीक्षण करें ।
4. आन्ध्र–सातवाहन काल की सांस्कृतिक उपलब्धियों का विवेचना करें ।

* * * * *

अध्याय- 15

मौर्योत्तरकालीन-राजनीतिक व आर्थिक अवस्था

(Political and Economical Condition of Post Mauryan Age)

15.0 उद्देश्य (Aims)

15.1 प्रस्तावना (Introduction)

15.6 मौयोत्तर काल की राज्य व्यवस्था एवं प्रशासन (States Conditions and Administration of Post Mauryan Era)

15.7 व्यापार एवं नगर (Trade and Towns)

15.8 आर्थिक व्यवस्था और सिक्के (Economical Conditions and Coins)

15.9 कारीगर एवं शिल्प विकास (Mechanic and Sculpture Development)

15.10 विदेशी व्यापार और आर्थिक परिवर्तन (Foreigner Trade and Economical Changes)

बोधप्रश्न

15.0 उद्देश्य (Aims)

इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त :–

- मौयोत्तर काल में भारत के विदेशों से सम्पर्क के प्रभाव को जान सकेंगे ।
- भारत के प्रमुख राजवंशों कुषाण एवं आन्ध्र–सातवाहन के महत्वपूर्ण उपलब्धियों से अवगत होंगे ।
- मौयोत्तर काल की राज–व्यवस्था, प्रशासन एवं आर्थिक परिस्थितियों से अवगत होंगे ।

15.1 प्रस्तावना (Introduction)

मौर्य साम्राज्य की लड़खड़ाती हुई दीवार ई0 पू0 187 में ढ़ह गई और मौर्य साम्राज्य के अंत के साथ ही भारतीय इतिहास की राजनीतिक एकता कुछ समय के लिए खंडित हो गई । देश के उत्तर–पश्चिमी मार्गो से कई विदेशी आक्रांताओं ने आकर अनेक भागों में अपने–अपने राज्य स्थापित कर लिए । कुछ समय के लिए मध्यप्रदेश का सिंधुघाटी एवं गोदावरी क्षेत्र से संबंध टूट गया और मगध के वैभव का स्थान साकल, विदिशा, प्रतिष्ठान आदि कई नगरों ने ले लिया ।

15.6 मौयोत्तर काल की राज्य व्यवस्था एवं प्रशासन (State Conditions and Administration of Post Mauryan Era)

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर ईसा की तृतीय शताब्दी तक का भारत का राजनीतिक इतिहास परस्पर संघर्षरत

शासकों एवं विदेशी आक्रांताओं का एक अव्यवस्थापूर्ण चित्र उपस्थित करता है । मौर्योत्तर काल में अधिकतर राज्य छोटे–छोटे थे । इन दोनों ही राजवंशों के शासकों ने कई छोटे–छोटे राजाओं से सामंती संबंध स्थापित किए थे । सातवाहन शासकों के कई अधीनस्थ शासक थे जैसे इच्छवाकु आदि जिन्होंने सातवाहन शासकों का पतन होने पर अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिए । कुषाण शासकों द्वारा धारण की जाने वाली प्रभावशाली उपाधियाँ इस तथ्य को प्रकट करती है कि उनके अधीन कई छोटे राजा थे जो उन्हें सैनिक सेवाएँ प्रदान करते थे ।

मौर्योत्तर काल में विकेन्द्रीकरण की प्रवृतियों पर नियंत्रण रखने के लिए राजतंत्र में दैवी तत्वों को समाविष्ट करने की प्रवृति अपनाई गई । पहले राजाओं से देवताओं की तुलना की जाती थी । एक विशेष उल्लेखनीय तत्व कुषाण राजाओं में देखने को मिलता है । इन्हें देवपुत्र कहा गया है । अशोक को 'देवानांप्रिय' कहा गया है लेकिन कुषाण राजाओं ने ऐसी उपाधि धारण की जिसका प्रचलन केवल चीनियों और रोमन सम्राटों के बीच ही था । तत्कालीन रचनाओं में प्रायः ही राजतंत्र की दैविक उत्पत्ति की ओर संकेत मिलता है किन्तु राजाओं के इस दैवीकरण ने उसकी सत्ता एवं देश पर उनके नियंत्रण में कोई वृद्धि नहीं की । दूसरी ओर, सातवाहन शासकों ने ब्राह्मणों एवं बौद्ध श्रमणों को राजस्व एवं प्रशसनिक करों से मुक्त भूमि प्रदान करने की प्रथा प्रारंभ की, जिससे अंततः केन्द्रीय सता क्षीण ही हुई । इस आशय का उल्लेख गौतमीपुत्र शातकर्णी के अभिलेखों में मिलता है ।

भारतीय यूनानियों तथा उनके विदेशी उत्तराधिकारियों द्वारा शासित क्षेत्रों में मौर्य शासन–व्यवस्था के चिह्न दिखाई नहीं देते । शकों तथा पार्थियन शासकों ने संयुक्त शासन का चलन प्रारंभ किया जिसमें युवराज सत्ता के उपभोग में राजा का बराबरी का सहभागी होता था । शक और कुषाण लोग पार्थियनों के माध्यम से अखामनी राजवंश की क्षत्रपीय प्रणाली भी इस देश में ले आए । कुषाणों ने प्रांतों में द्वैध शासकत्व की विचित्र प्रणाली का भी प्रचलन किया ।

15.7 व्यापार एवं नगर (Trade and Twons)

आर्थिक रूप से इस काल का एक उज्जवल पक्ष है वाणिज्य–व्यापार का विकास एवं उन्नति । व्यापार की प्रगति के लिए प्रारंभिक आधार तो मौर्यो ने ही प्रदान किया था, जिन्होंने आंतरिक यातायात के साधनों एवं मार्गो को काफी विकसित किया था । पाटलीपुत्र को तक्षशिला से जोड़ने वाला मार्ग मौर्यो की ही देन था । स्थल मार्ग से पाटलिपुत्र ताम्रलिप्ति से जुड़ा था जो बर्मा एवं श्रीलंका के जहाजों के लिए एक प्रमुख बंदरगाह था । दक्षिण भारत के स्थल मार्गो का विकास मौर्यो के पश्चात् हुआ । ये मार्ग नदी घाटियों के साथ–साथ या तटीय प्रदेश में या पर्वतीय दरों में विकसित किए गए । उत्तरवर्ती मार्ग बैक्ट्रिया से होकर कैस्पियन सागर होता हुए कृष्ण सागर को जाता था । एक मार्ग कंधार से हेरात होकर ईरान जाता था । यहाँ से व्यापारी स्थल मार्ग से पूर्वी भूमध्य सागर तक जाते थे । उत्तर–पश्चिम भारत की इंडोग्रीक, कुषाण एवं शक विजयों द्वारा पश्चिमी एवं मध्य एशिया में घनिष्ठ संबंध स्थापित हुए मध्य एशिया से वह व्यापारिक मार्ग गुजरता था जो चीन को रोमन साम्राज्य के पश्चिमी प्रांतों से जोड़ता था । जिसे 'सिल्क मार्ग' कहा जाता था, क्योंकि चीने से होने वाला रेशम का समस्त व्यापार अधिकतर इसी मार्ग से होता था । इस चीनी रेशम व्यापार में भारतीय व्यापारियों ने मध्यस्थ के रूप में भाग लेना प्रारंभ किया । इन प्रदेशों से होकर जाने वाले व्यापार में अधिकतर उत्तर–पश्चिम के व्यापारी भाग लेते थे । रोमन साम्राज्य के एक सर्वशक्तिमान साम्राज्य के रूप में उदय होने से ई0 पू0 प्रथम शती से भारतीय व्यापार को काफी प्रोत्साहन मिला क्योंकि इस साम्राज्य का पूर्वी भाग भारत में निर्मित विलासिता के सामान का एक बड़ा ग्राहक बन गया । भारतीय व्यापारी चीन से रेशम खरीदकर रोमन व्यापारियों तक पहुँचाते थे और यह बहुत ही महत्वपूर्ण वस्तु थी । रोमन साम्राज्य की मसालों की आवश्यकता केवल भारतीय सामग्री देने से ही पूर्ण नहीं होती थी, इसलिए भारतीय व्यापारी दक्षिण–पूर्व एशिया से संपर्क बढ़ाने लगे । अपने निर्यात के प्रतिदान में रोम से भारत में अन्य सामान के अतिरिक्त बहुत बड़ी संख्या में सोने–चांदी के सिक्के आते थे ।

देश के भिन्न–भिन्न प्रदेश भिन्न–भिन्न वस्तुओं के लिए प्रसिद्ध थे । कश्मीर, कोसल विदर्भ और कलिंग हीरों के लिए विख्यात थे । मगध वृक्षों के रेशों से बने वस्त्रों के लिए बंगाल मलमल के लिए प्रसिद्ध था । कश्मीर और उज्जयिनी से लाई गई अनेक वस्तुएँ भड़ोंच के बंदरगाह से पश्चिमी देशों को भेजी जाती थीं । सोपारा और कल्याण भी पश्चिमी तट पर प्रसिद्ध नगर थे ।

15.8 आर्थिक व्यवस्था और सिक्के (Economical Conditions and Coins)

ई0 पू0 और ईसा की शती के प्रारंभ में व्यापार के विकास के साथ ही मुद्रा व्यवस्था का विकास जुड़ा था । रोम से आने वाला सोना अधिकतर सर्राफे के काम आता था और संभवतः बड़े स्तर के व्यापारिक लेन–देन में भी इसका प्रयोग होता था । किन्तु भारत में भी मुद्रा–विकास के संकेतों की कमी नहीं है । उत्तर में इंडो–ग्रीक शासकों ने सोने के सिक्के चला । संभवतः सोने एवं चांदी के ये सिक्के दैनिक जीवन में प्रयुक्त नहीं होते थे इसलिए दिनोंदिन जीवन में व्यापारिक उपयोग के लिए कुषाण शासकों ने तांबे के सिक्के भी प्रचलित किए । वह इस बात का प्रमाण है कि दैनिक जीवन में भी मुद्रा का बहुत चलन हो गया था । इसके अतिरिक्त भारतीय मुद्रा की कलात्मकता पर विदेशों विजेताओं का बहुत प्रभाव पड़ा । बैक्ट्रियाई शासकों द्वारा जारी किए गए सिक्कों में शासक की आकृति और नाम खुदा होता था । इन आकृतिकयों एवं अन्य चिह्नों, जैसे देवताओं के चित्रों में कलात्मकता का वह स्तर है जो भारतीय सिक्कों ने अबतक प्राप्त नहीं किया था । मौर्यकाल के अंत तक सिक्कों पर केवल कोई चिह्न अंकित होता था । उनपर चिह्न कोई भी हो किंतु शासकों के नाम आदि नहीं होते थे । प्रारंभिक सिक्कों में प्रदर्शित पौराणिक कथाएँ ग्रीक एवं सिक्कों पर खुदी आकृतियां ग्रीक मूर्तिकला से प्रभावित है । धीरे–धीरे पौराणिक कथाएं यूनानी एवं भारतीय दोनों स्रोतों से ली जाने लगी और खराष्ठी तथा ग्रीक दोनों लिपियों में लिखी जाने लगी । मुद्रा व्यवस्था एवं व्यापार की ही प्रगति के परिणामस्वरूप देश में कई नगरों का विकास हुआ और साथ–ही–साथ कारीगरी एवं शिल्प का भी विकास हुआ । विवेच्य काल में अर्थात् ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों के दौरान सम्पूर्ण भारत, विशेषकर गंगा घाटी, महाराष्ट्र, कर्नाटक आदि क्षेत्रों में जो उत्खनन हुए है, उनसे यह पता चलता है कि यह नगरों के प्रतिष्ठापन का काल है । इस प्रकार के अवशेष मय एशिया में भी मिले है । शहरीकरण के साक्ष्यों की दृष्टि से यह एक अभूतपूर्व काल था ।

15.9 कारीगर एवं शिल्प विकास (Mechanic and Sculpture Development)

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के महावस्तु नामक एक बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार राजगृह नगरी में लगभग 36 विभिन्न प्रकार के शिल्पी रहते थे । उद्योगों के विकास ने उनमें विशिष्टीकरण को भी प्रोत्साहन दिया गया जिससे तकनीकी कौशल का भी विकास हुआ । चीने रेशम के आयात से देश में रेशम उद्योगों को प्रोत्साहन मिला । इस प्रकार मौर्योत्तर काल में उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में तकनीकी विकास भी हुआ ।

व्यापारिक प्रगति ने उत्पादन एवं वितरण की व्यवस्था को भी भलीभाँति संगठित करने की आवश्यकता उत्पन्न कर दी । विभिन्न शिल्पकारों ने एकत्र होकर शिल्पी श्रेणियों का संगठन किया । व्यापारियों ने भी अपनी श्रेणियों का संगठन किया । दूसरी शताब्दी में सातवाहन वंश के एक खेल में इस बात का उल्लेख है कि बौद्ध धर्म के सामान्य उपासकों ने कुम्हारों, जुलाहों आदि के पास धन जमा कराया था ताकि वे भिक्षुओं के लिए अन्न, वस्त्र आदि आवश्यकता की चीजें जुटा दें । इसी समय के मथुरा क्षेत्र के एक लेख में इस बात का उल्लेख आया है कि एक प्रमुख ने आटा पीसने वाले कारीगरों के पास धन जमा कराया था ताकि वे उसके मासिक ब्याज से लगभग 700 ब्राह्मणों के निवार्ह की व्यवस्था कर दें । स्पष्टतः श्रेणियाँ इस जमा किए गए धन का उपवास उत्पादन बढ़ाने के लिए करती होंगी और बिक्री से प्राप्त धन से वे पूंजी पर ब्याज देती होंगी । इस पद्धति से कारीगरों को मौर्य काल की अपेक्षा, जबकि वे राज्य के नियंत्रण में कार्य करते थे, अधिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई होगी । कई नगरों में उन्होंने अपने सिक्के तक प्रचलित किए थे, जो सामान्य शासकों का कार्य था । भारतीय युनानी युग से पहले के पाँच सिक्कों में निगम शब्द का स्पष्ट उल्लेख मिलता है जो तक्षशिला में उत्खनन से प्राप्त हुए है ।

श्रेणियों की सदस्यता कारीगरों आदि को समाज में प्रतिष्ठा का स्थान एवं सुरक्षा प्रदान करती थी । प्रत्येक श्रेणी का अपना तमगा, पताका एवं मुहर होती थी । अपने विज्ञापन का सर्वोत्तम ढंग था धार्मिक आधार पर उदारतापूर्वक धन–दान । अत्तार, जुलाहे, स्वर्णकार आदि सभी को श्रेणियों द्वारा बौद्ध भिक्षुओं को गुफाओं, स्तंभों आदि के दान का उल्लेख प्राप्त होता है ।

15.10 विदेशी व्यापार और आर्थिक परिवर्तन
(Foreigners Trade and Econmical Changes)

मौर्य–साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारत में राजनीतिक अस्थिरता रही, राजवंशों में परिवर्तन हुए, नवीन राजवंशों का उत्थान हुआ और विदेशी आक्रमण हुए । परन्तु तब भी भारत में इस काल में एक बड़े साम्राज्य का निर्माण संभव नहीं हुआ तथा विदेशियों को भारत से बाहर निकालना भी संभव नहीं हुआ । इस समय के आक्रमणकारियों में से प्रत्येक का उद्देश्य भारत को अपना निवास–स्थान बनाना था । ग्रीक, शक, पार्थियन और कुषाण आक्रमणकारी थे परन्तु वे विदेशी न रहे । उनमें से प्रत्येक को भारतीय समाज में स्थान प्राप्त हो गया क्योंकि उनमें से कोई भी लूट–मार करके भारत से वापस नहीं गया अपितु भारत में ही बस गया । साहित्य, कला, धर्म, विदेशों से सम्पर्क आदि सभी दृष्टियों से भारत लाभान्वित हुआ । भारत को एक विशेष लाभ विदेशी व्यापार की दृष्टि से हुआ। ई0 पू0 छठी सदी से ही विदेशी व्यापार में प्रगति हो रही थी । मौर्य–सम्राटों के समय में यह प्रगति और अधिक तीव्र हुई । इस काल के मौर्य–साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारत का राजनीतिक विभक्तीकरण हो जाने के बावजूद भी इस प्रगति में कोई बाधा नहीं आयी अपितु विदेशी आक्रमणकारियों के भारत के भारत के उत्तर–पश्चिम और पश्चिम–दक्षिण में बस जाने और राज्य स्थापित करने से मुख्यतया कुषाण–साम्राज्य की स्थापना से भारत का प्रत्यक्ष सम्पर्क मध्य–एशिया और पश्चिमी राज्यों से हुआ । इससे भारत में विदेशी व्यापार में वृद्धि हुई । भारत ने इस अवसर पर चीन और दक्षिण–पूर्वी एशिया के राज्यों से भी व्यापारिक सम्बन्ध बनाये । इस प्रकार भारत का विदेश व्यापार निरन्तर बिना किसी बाधा के बढ़ता गया । उसके फलस्वरूप भारत की आर्थिक सम्पन्ता में वृद्धि होगी गई और नगरों का निर्माण बढ़ता गया ।

इस समय में भारत का आन्तरिक और विदेशी व्यापार पूर्ण प्रगति पर था । उत्तर–पश्चिम में ग्रीक, कुषाण, शक आदि शासकों ने भारत के व्यापारिक सम्बन्धें को मध्य–एशिया, चीन और रोमन–साम्राज्यों तक बढ़ा दिया । सम्पूर्ण भारत और मध्य एशिया तथा पश्चिमी एशिया तक विभिन्न व्यापारिक मार्ग थे जो विभिन्न नदियों के किनारे–किनारे या बड़े–बड़े नगरों से होकर गुजरते थे । मौर्य–सम्राटों ने विभिन्न मार्गो के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग लिया था । उनके पश्चात् उत्तर–पश्चिम में कुषाण–शासकों और पश्चिम में शक–शासकों एवं दक्षिण में सातवाहन–शासकों ने इनके निर्माण में भाग लिया । पाटलिपुत्र से एक मार्ग उत्तर–पश्चिम में तक्षशिला तक जाता था जिसे आधुनिक समय में ग्राण्ड–ट्रंक रोड पुकारा जाता है । पश्चिम–एशिया, मध्य–एशिया, चीन और यूरोप तक के देशों से स्थल–मार्ग से व्यापार करने के लिए यह प्रमुख मार्ग था । समुद्री मार्गो से भी भारत का पश्चिमी देशों से व्यापार होता था । एक समुद्री मार्ग पर्शिया की खाड़ी से बेबीलोन तक जाता था । एक अन्य मार्ग अरब सागर से अदन, स्वेज, अलेक्जेण्ड्रिया और लाल सागर तक जाता था । भारतीयों ने इन विभिन्न मार्गो पर स्थान–स्थान पर अनेक व्यापारिक केन्द्र बना रखे थे ।

उत्तर–भारत से कई मार्ग दक्षिण–भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी तटों को भी जाते थे, मुख्यतया मौर्य–साम्राज्य के पतन के पश्चात् इन मार्गो में और अधिक वृद्धि हुई थी । सातवाहन–शासकों ने इस दिशा में महत्वपूर्ण सहयोग दिया । भारत का व्यापार इस काल में चीन से भी हुआ । रोमन–साम्राज्य की रेशमी कपड़े की मांग की पूर्ति भारत अधिकांशताया चीन से रेखम प्राप्त करके करता था । भारत चीन से रेशम मंगाता था और फिर उसे रोमन–साम्राज्य में भेजता था । इससे भारत के चीन से होने वाले व्यापार में वृद्धि हुई और भारत के रेशम–उद्योगों की काफी उन्नति हुई ।

विदेशी व्यापार ने भारत को आर्थिक सम्पन्नता प्रदान की । इससे सबसे अधिक लाभ व्यापारी–वर्ग को हुआ जिसने अपने को विभिन्न समुदायों में संगठित कर लिया था । उद्योगों का विकास मुख्यतया कच्चे माल की उपलब्धि और योग्य कारीगरों की प्राप्ति पर निर्भर करता था । जिस स्थान पर जो कच्चा माल उपलब्ध था उससे संबंधित उद्योग का विकास उसी स्थान पर हुआ । कपड़े का उद्योग भारत के विविध भागों में विकसित था क्योंकि विभिन्न स्थानों पर परम्परागत दृष्टि से उसका उत्पादन होता रहा था और योग्य कारीगर वहाँ उपलब्ध थे । दक्षिण–भारत में विभिन्न बन्दरगाह थे जहाँ से विदेशी व्यापार प्रचुर मात्रा में होता था क्योंकि उसके पूर्वी तथा पश्चिमी तट दोनों ही समुद्र के किनारे पर थे ।

व्यापारिक और औद्योगिक प्रगति ने विभिन्न नगरों के निर्माण और विकास में भी सहयोग दिया । अनेक स्थानों पर खुदाई किये जाने से जो अवशेष प्राप्त हुए हैं उनमें वहाँ समृद्धशाली नगरों का होना प्रमाणित होता है । इस काल में उत्तर–भारत में वैशाली, पाटलिपुत्र, वाराणसी, कौशाम्बी, श्रावस्ती, हस्तिनापुर, मथुरा, इन्द्रप्रस्थ, जालन्धर, रोपर, लुधियाना, उज्जैन तथा मेरठ और मुजफ्फरनगर जिलों में भी विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अन्य सम्पन्न नगर थे ।

इस प्रकार, भारत में यह समय भी अत्यधिक आर्थिक सम्पन्ना का रहा । भारत के बढ़ते हुए व्यापार ने भारत में एक सम्पन्न व्यापारी वर्ग को जन्म दिया, शिक्षा की प्रगति में सहायता दी, ललित–कलाओं के विकास को प्रोत्साहन दिया और हिन्दू तथा बौद्धों के धार्मिक विचारों को भी प्रभावित किया ।

बोधप्रश्न

1. मौर्योत्तर काल में यूनानी सम्पर्क के प्रभावों का परीक्षण करें ।
2. मौर्योत्तरकालीन राज–व्यवस्था एवं प्रशासन की विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख करें ।
3. मौर्योत्तर काल की शिल्प विकास पर निबंध लिखें ।
4. मौर्योत्तरकालीन नगरों के उत्थान में विभिन्न आर्थिक पहलुओं के महत्व का परीक्षण करें ।

* * * * *

अध्याय- 16

मौर्योत्तरकालीन-सामाजिक, धार्मिक एवं कला की स्थिति

(Social, Religious and Art Conditions in Post Mauryan Age)

16.0 उद्देश्य (Aims)

16.1 प्रस्तावना (Introduction)

16.2 समाज और धर्म (Society and Religion)

16.2.1 महायान बौद्धधर्म का उदय (Mahayana : Rise of Buddhism)

16.2.2 जैन धर्म (Jain Religion)

16.3 कला (Art)

16.3.1 गन्धार मूर्ति कला (Gandhar Sculpture)

16.3.2 मथुरा मूर्ति कला (Mathura Sculpture)

16.3.3 अमरावती मूर्ति कला (Amravati Sculpture)

16.4 मौर्योत्तरकालीन साहित्य (Post Mauryan Age Literature)

बोधप्रश्न

16.0 उद्देश्य (Aims)

इस अध्याय को पढ़ने के बाद–

- मौर्योत्तर काल की सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था कैसी थीं ?
- मौर्योत्तर में किन–किन धर्मो की प्रधानता थी तथा वे राजनीतिक धाराओं को किस प्रकार प्रभावित किया ।
- मौर्योत्तर कालीन कला की विभिन्न विधाओं से अवगत होंगे ।

16.1 प्रस्तावना (Introduction)

मौर्य–साम्राज्य के पतन हो जाने से भारत की राजनीतिक एकता नष्ट हो गयी । आन्तरिक दुर्बलता के अतिरिक्त पुष्यमित्र के सफल षड्यन्त्र, दक्षिण–भारत के सातवाहन अथवा आन्ध शासकों के आक्रमण और भारत की उत्तर–पश्चिमी सीमा पर क्रमशः यूनानी, शक और कुषाणों के सफल आक्रमणों ने मौर्य–साम्राज्य के पतन में भाग लिया । मौर्य–वंश के पश्चात् यशस्वी सम्राटों का गुप्त–काल से आरम्भ हुआ । गुप्त–सम्राटों ने एक बार फिर एक विस्तृत तथा समृद्धिशाली

साम्राज्य की स्थापना की । इस मध्य के युग की अपनी पृथक् विशेषताएँ रहीं और उन्होंने भी विभिन्न दृष्टियों से भारत की सभ्यता और संस्कृति को समृद्ध बनाया । पुष्यमित्र, शुंग, कलिंग का राजा खारवेल, सातवाहन–शासक गौतमीपुत्र शातकर्णी और कुषाण–शासक कनिष्क इस काल के महत्वपूर्ण शासक हुए । इस युग में विदेशियों को बहुत बड़ी संख्या में भारतीय समाज और संस्कृति में सम्मिलित किया गया । भारतीय सभ्यता का प्रसार विदेशों में हुआ । मुख्यतया कनिष्क के समय में बौद्ध धर्म के विभाजन और महायान–सम्प्रदाय के संगठन एवं उत्थान ने बौद्ध धर्म के माध्यम से भारतीय संस्कृती प्रचार विदेशों में करने का अवसर दिया । भारत में एक बार फिर गणतन्त्रीय राज्यों की स्थापना हुई ।

इस काल के विषय में ज्ञान प्रदान करने वाले विभिन्न स्रोत है । विभिन्न भारतीय धार्मिक और साहित्यिक ग्रन्थ, विदेशी साहित्यिक ग्रन्थ, अभिलेख, सिक्के और विभिन्न पुरातात्विक खोजे इस काल के इतिहास को जानने में सहायक हैं । विभिन्न पुराण और स्मृतियाँ मुख्यतया 'मनुस्मृति' इसमें सहायक है । पतंजलि के 'महाभाष्य' से हमें पुष्यमित्र शुंग के शासन–काल की कुछ घटनाओं का पता लगता है । कालिदास द्वारा रचित 'मालविकाग्निमित्र' से पुष्यमित्र शुंग के समय में हुए यवन–आक्रमणों का कुछ विवरण प्राप्त होता है तथा 'गार्गी–संहिता' में भी यवन–आक्रमणों का उल्लेख है । इनके अतिरिक्त अनेक मूर्तियाँ और प्रचुर मात्रा में पाये गये सिक्के भी इस समय के इतिहास को जानने के प्रमुख स्रोत है ।

16.2 समाज और धर्म (Society and Religion)

इस समय में भी कारीगर आदि अधिकतर शूद्र वर्ण से ही आते थे किन्तु उनके धन एवं प्रतिष्ठा में अब वृद्धि हो गई थी । मौर्य काल में समस्त आर्थिक कार्यवाहियों पर राज्य का नियंत्रण था किन्तु इस साम्राज्य के पतन के साथ ही वह नियंत्रण समाप्त हो गया और शिल्पियों आदि को कुछ वैयक्तिक स्वतंत्रता प्राप्त हो गई । वैश्यों एवं शूद्रों के बीच का अंतर इस प्रकार कुछ कम हो गया किन्तु फिर भी मनु ने शूद्रों के लिए बड़े कठोर नियम रखे । शूद्र वर्ग में इस कठोरता के कारण बहुत असंतोष था । मनुस्मृति में शूद्रों की वैरभावपूर्ण कार्यवाहियों के विरूद्ध कई सुरक्षा–उपायो का उल्लेख है ।

इस काल में वर्ण पर आधारित परम्परागत समाज–व्यवस्था को विदेशियों के आक्रमण से भी खतरा उत्पन्न हो गया था । भारत में यवन, पार्थियन, शक, कुषाण आदि विदेशी शासकों की उपस्थिति, जिनके पास राजनीतिक एवं आर्थिक शक्ति थी, वर्णव्यवस्था के लिए संकट उत्पन्न कर रही थी । इस कारण स्मृतिकारों ने उन्हें कौशल से निम्न कोटि के क्षत्रिय की उपाधि प्रदान कर दी । इस प्रकार प्रत्यक्षतः धर्म ने विदेशियों एवं अनार्यो के आर्यीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी ।

यद्यपि मनु कट्टर ब्राह्मणवादी थे किन्तु उनकी स्मृति में जिन लगभग 60 वर्णसंकरों का उल्लेख है, उससे स्पष्ट होता है कि वह पर्याप्त यर्थाथवादी भी थे । विदेशी लोगों के आगमन से जो एक सामाजिक तनाव उत्पन्न हुआ उसका एक प्रायोगिक समाधान वर्णसंकर की परिकल्पना में ही दृष्टिगोचर होता है । मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि जबतक इन लोगों को डंडे के बल से दबाया नही जाएगा, काम नही चलेगा । ऐसा प्रतीत होता है कि विद्रोह का एक महत्वपूर्ण रूप राजकरों का न देना था । स्पष्टतः इससे समाज में एक तनाव की स्थिति हो गई होगी । हो सकता है कि इस स्थिति से निपटने के लिए ही राजाओं ने भूमिदान की प्रथा को प्रोत्साहन दिया क्योंकि कालांतर में इसके माध्यम से कर एकत्र करने का उत्तरदायित्व स्थानीय बिचौलियों का हो गया, जिन्हें पुलिस अधिकार भी प्राप्त थे ।

जहाँ तक विदेशियों के एकीकरण का प्रश्न है, वर्णसंकर की परिकल्पना के अतिरिक्त धर्म का भी आश्रय लिया गया । विभिन्न धर्मो में एक प्रकार की होड़ हो गई कि वे किस प्रकार इन विदेशी शासकों का समर्थन प्राप्त करते हैं । पारंपरिक ब्राह्मण धर्म का रूपान्तरण हो रहा था । भक्ति भावना के पुट का उदय इस काल में विशेष रूप से हुआ । महाक्षत्रप शोंडास के समय एक अन्य अभिलेख में भगवत वसुदेव के मंदिर के प्रवेश द्वार तथा वेदिकाओं के निर्माण का उल्लेख है । कुषाण राजा भी वैष्णव एवं शैव प्रभाव से अछूते नहीं थे । उनमें से एक ने भगवान वसुदेव का नाम धारण किया था ।

देश के भीतर बौद्ध धर्म को सम्पन्न व्यापारी वर्ग द्वारा समर्थन प्राप्त हुआ । इस समय के अनेक विहार आदि व्यापारियों के अनुदान के ही परिणाम है । व्यापार के माध्यम से बौद्ध धर्म पश्चिमी एवं मध्य एशिया भी पहुँचा । देश के अधिकतर विहार व्यापारिक भागों या पश्चिमी तट के पर्वतीय दरों पर स्थित थे । बड़े–बड़े अनुदानों के परिणामस्वरूप

बौद्ध विहार धन के भंडार हो गए थे । भिक्षु–भिक्षुणियों ने भी बौद्ध विहारों को दान दिया था । यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वे अब इस प्रारंभिक बौद्ध नीति को नहीं मानते थे कि भिक्षु एवं भिक्षुणी को अपनी समस्त इहलौकिक वस्तुओं का परित्याग कर देना चाहिए ।

16.2.1 महायान : बौद्धधर्म का उदय (Mahayan : Rise of Buddhism)

वास्तव में बुद्ध की मृत्यु के तुरंब बाद ही उनकी शिक्षाओं के तात्पर्य के संबंद्ध में वाद–विवाद प्रारंभ हो गया था और कई परिषदों द्वारा इस विवाद को सुलझाने की असफल चेष्टा की गई थी । कनिष्क के समय तक आते–आते बौद्ध धर्म की 18 विभिन्न शाखाएँ विद्यमान थीं । परंपरा के अनुसार कनिष्क के समय में चौथी बौद्ध संगीति में बौद्ध धर्म औपचारिक रूप से हीनयान एवं महायान नामक दो शाखाओं में बंट गया था । बौद्ध धर्म में महायान समुदाय का उदय इसी प्रवृति का द्योतक है । हीनयान सम्प्रदाय में बुद्ध मानव के पथप्रदर्शक मात्र थे, अब वे देवता माने जाने लगे । समय के साथ–साथ बोधिसत्वों की एक श्रृंखला विकसित हो गई । महायान सम्प्रदाय ने प्रत्येक व्यक्ति के सामने बोधिसत्व का आदर्श रखा । बुद्ध को एक धार्मिक उपदेशक के रूप में न देखकर भगवान के रूप में देखा जाने लगा और उनकी मूर्तियों की उपासना प्रारंभ हो गई । बुद्ध के जीवन–चिह्नों की उपसना पूर्ववत चलती रही किन्तु अब उसका स्थान पूर्तिपूजा लेने लगी । बुद्ध को एक भगवान के रूप में देखा जाने लगा जिनसे उनके उपासक दया की आशा कर सकते थे । इस प्रकार महायान बौद्ध धर्म में भक्ति की धारणा का विकास हुआ । बुद्ध के दिव्य गुणों पर जोर देने के लिए इस काल में उनकी जीवन कथा फिर से लिखी गई ।

16.2.2 जैन धर्म (Jain Religion)

बौद्ध धर्म की भांति ही जैन धर्म में भी परिवर्तन आया ।ईसा के प्रथम शताब्दी के आसपास जैन धर्म में भी विभाजन हो गया । रूढ़िवादी जैन दिगम्बर और उदारवादी श्वेतांबर कहलाए । बौद्ध धर्म की ही भांति जैन धर्म में भी मूर्तिपूजा का विकास हुआ ।

ये प्रचलित धर्म – बौद्ध एवं जैन – वैदिक धर्म के विरूद्ध थे जिसमें पशु की बलि आदि सम्मिलित थी और याज्ञिक अनुष्ठान थे । लोग भक्ति पर आधारित मूर्तिपूजा संप्रदाय की ओर आकृष्ट होने लगे । बौद्ध धर्म तथा अन्य शास्त्र–विरोधी धार्मिक सम्प्रदायों के भीषण प्रहारों ने वैदिक प्रथाओं तथा ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा एवं प्रभुत्व को काफी आघात पहुँचाया । ब्राह्मण लोग, जिनकी स्थिति यज्ञों के लिए मांग में कमी हो जाने के कारण ब्राह्मणों की स्थिति गिर रही थी, अतः वे जीविका के कुछ अन्य साधन का सहारा लेने के लिए बाध्य हो गए । दूसरी ओर, नए आर्थिक एवं राजनीतिक तत्वों से उत्पन्न स्थिति से निबटने के लिए तथा ब्राह्मणधर्मी सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए ब्राह्मणों ने अनेक लोकप्रिय उपासना–विधियों को अपना लिया । वैदिक देवताओं के स्थान पर नवीन देववर्ग का उदय हुआ, जिनमें ब्रह्मा–विष्णु–महेश की त्रिमूर्ति बहुत विख्यात हुई । इस नवोदित ब्राह्मण धर्म में भी वैदिक धर्म के कर्मकांडों के स्थान पर 'भक्ति' को प्राधान्य दिया गया ।

16.3 कला (Art)

इस काल में मूर्ति–काल की दृष्टि से अद्वितीय प्रगति हुई । भारत की तीन मुख्य शैलियो– (1) गान्धार शैली, (2) मथुरा शैली और (3) अमरावती शैली का विकास इसी काल में हुआ । ये सभी शैलियाँ अपने–अपने दृष्टिकोण से महान थीं और भारतीय शिल्प–कला में इन सभी को श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया ।

16.3.1 गन्धार मूर्ति कला (Gandhar Sulpture)

गान्धार–शैली को ग्रीको–रोमन ग्रीको–बुद्धिष्ट, हिन्दू–यूनानी आदि नामों से भी पुकारा जाता है । निःसन्देह, उस पर यूनानी, रोमन, अथवा हैलेनिक कलाओं का प्रभाव था परन्तु इस कला का विकास यूनानियों अथवा रोमनों ने नहीं किया वरन् कला के क्षेत्र में उनकी परम्परा को निभाने वाले शकों और कुषाणों ने किया । भारत के गांधार–प्रदेश में इसका विकास हुआ । इसी कारण, इसे गान्धार–शैली पुकारा गया । विदेशी प्रभाव के कारण इसे ग्रीक–रोमन अथवा

हिन्दू–यूनानी पुकारा गया क्योंकि बौद्ध धर्म उसकी प्रेरणा था, अतएव इसे ग्रीको–बुद्धिष्ट भी कहा गया । क्रमरिश ने लिखा है कि ''गान्धार की अपनी अलग स्थिति है । यूनानी दृष्टिकोण से वह भारतीय और औपनिवेशिक है तथा भारतीय दृष्टिकोण से वह यूनानी और औपनिवेशिक है ।

इस कला के नमूने विमरन, लैरियन, हस्त–नगर, शाहजी की ढेरी, तक्षशिला, हड्ड आदि विभिन्न स्थानों पर प्राप्त हुए हैं । इनमें से अधिकांश पेशावर और लाहौर के अजायबघरों में सुरक्षित हैं । इनमें बुद्ध की प्रतिमाएँ प्रमुख स्थान रखती है । प्रारंभ के प्रायः 150 वर्षो में यह कला प्रगति पर रही, दूसरी सदी में इसमें गिरावट आ गयी परन्तु तीसरी सदी के प्रारंभ से पुनः इसकी प्रगति हुई । अन्तिम काल में गान्धार शैली पर मथुरा–शैली का प्रभाव भी पड़ा ।

गांधार–शैली के अन्तर्गत बुद्ध की मूर्तियों को इतना सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया गया था कि वे यूनानियों के सौन्दर्य–देवता 'अपोलो' की भांति लगती हैं । अत्यधिक सुन्दर मूर्तियों के निर्माण के कारण एक समय ऐसा था जब गान्धार मूर्ति–कला को भारतीय कलाओं में श्रेष्ठतम और अन्य सभी मूर्ति–कलाओं की जननी माना जाता था । परन्तु अब इसे स्वीकार नहीं किया जाता । गुप्तकालीन मूर्ति–कला पर गान्धार–शैली के स्थान पर मथुरा–शैली का प्रभाव स्वीकार किया जाता है और उसे गान्धार–शैली से श्रेष्ठ स्थान दिया गया है ।

16.3.2 मथुरा मूर्ति कला (Matura Sulpture)

पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मथुरा में जिस शैली का विकास हुआ, उसे मथुरा मूर्ति–कला शैली के नाम से पुकारा गया । ईसा की पहली सदी से प्रगति करती हुई इस शैली ने आगे आने वाले समय में उत्तर भारत की मूर्ति–कला की शैलियों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया । गुप्तकाल की श्रेष्ठमत मूर्ति–कला को मथुरा–शैली का विकसित स्वरूप माना गया है । यहाँ की बनी हुई मूर्तियाँ पश्चिम में तक्षशिला और मध्य–एशिया तक तथा पूर्व में श्रावस्ती और सारनाथ तक भेजी जाती थीं ।

अमोहिनी की एक खड़ी हुई स्त्री की मूर्ति, कनकली–तिला में प्राप्त विभिन्न मूर्तियाँ, मथुरा के अजायबघर में सुरक्षित सम्राट कनिष्क की मूर्ति, बनारस के अजायबघर में सुरक्षित हाथ में श्रृंगारदान लिये एक दासी की मूर्ति और मथुरा तथा उसके निकट के क्षेत्रों में प्राप्त बुद्ध और बौधिसत्यों, यक्ष–यक्षणियों तथा स्त्री–पुरूषों की विभिन्न मूर्तियाँ इस कला के सुन्दर नमूने है ।

इस कला पर दूसरी सदी के प्रारंभ में कुछ प्रभाव गान्धार–कला का और सम्भवतया, कुछ प्रभाव रोमन–कला का आया था जहाँ से समुद्री मार्ग से यहाँ के व्यापारिक सम्पर्क थे ।

सम्राट कनिष्क की मूर्ति आकार और शारीरिक अवयवों की दृष्टि से विशाल एवं ठोस है, परन्तु उसकी वेश–भूषा रोमन है । परन्तु इस कला के मुख्य नमूने इन्द्रिय–सुख और सौन्दर्य से विभूषित स्त्रियों की मूर्तियाँ है । स्त्रियों के गोल व सुडौल वक्ष एवं भारी व उभरे हुए कूल्हे न केवल स्त्री की प्रजनन–शक्ति के प्रतीक है, वरन स्त्री के शरीर के सौन्दर्य को भी प्रदर्शित करते हैं । हाथों ओर पैरों की मुद्राएँ भी इसी प्रकार का संकेत देती है । पुरूषों की मूर्तियों में भी शारीरिक सौन्दर्य को दिखाने का प्रयत्न किया गया है । बुद्ध की प्रतिमाओं के चेहरे के चारों ओर दिव्य–प्रकाश को चक्र द्वारा प्रदर्शित करने का प्रयत्न मथुरा–शैली के अन्तर्गत ही आरम्भ किया गया । इस प्रकार मथुरा–शैली में भाव, भावना और शारीरिक सौन्दर्य सभी को प्रदर्शित करना शुरू किया गया जिसके कारण कला धार्मिक विचार और शारीरिक सुख, दोनों की अभिव्यक्ति का साधन बन सकी ।

मथुरा–शैली की एक मुख्य विशेषता फतेहपुर सीकरी के निकट लाल पत्थर का प्रयोग था । प्रायः सभी मूर्तियाँ लाल रंग के पत्थर से बनायी गयी थीं ।

16.3.3 अमरावती मूर्ति कला (Amravati Sculpture)

कृष्णा और गोदावरी नदी के मुहानों पर अमरावती तथा गुन्टूर जिलों में अमरावती–मूर्तिकला शैली का विकास हुआ । अमरावती–शैली भारहुत, गया और साँची तथा बाद में गुप्त और पल्लव–कला को जोड़ने वाली कड़ी है । दूसरी सदी के मध्य तक इस शैली का पूर्ण विकास हो गया और स्त्री–पुरूषों की श्रेष्ठतम मूर्तियाँ इसके अन्तर्गत तैयार की गयीं ।

इस काल के नमूने स्तूपों की चहारदीवारी पर बनी हुई प्रतिमाओं अथवा कुछ बौद्ध प्रतिमाओं तक सीमित नहीं हैं, वरन् इसमें स्त्री–पुरूषों की मूर्तियों की प्रधानता है । इस शैली में धर्म, त्याग, निर्वाण आदि की भावना प्रमुख नही है अपितु कलाकारों ने 'कला को कला के लिए' आदर्श को अपनाया है । इनमें शारीरिक सौन्दर्य, अंगों के जोड़ और भाव–मुद्रा ही श्रेष्ठ नहीं है अपितु विभिन्न मूर्तियों को इस प्रकार बनाया गया है कि उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी स्पष्ट होता है और मूर्तियों द्वारा एक दृश्य को प्रदर्शित करना एक चित्र की भांति प्रतीत होता है । स्त्री–सौन्दर्य, भाव, मुद्रा आदि इस शैली में मथुरा–शैली से भी श्रेष्ठ है । ये मूतियाँ आकार की दृष्टि से भी अधिक विशाल है । परन्तु अमरावती–शैली के अन्तर्गत वैराग्य और भक्ति को भी प्रदर्शित किया गया है । बुद्ध की प्रतिमा के सम्मुख नत–मस्तक उपासिकाओं का दृश्य अत्यन्त सुन्दर है ।

अमरावती–शैली की मुख्य विशेषता मूर्तियों के निर्माण में सफेद संगमरमर का प्रयोग था ।

मथुरा और अमरावती शैलियों ने कला के उस अध्याय को समाप्त कर दिया जो भारहुत, गया और साँची से प्रारंभ हुआ था । इस कला के माध्यम से भारतीय कला पहली बार मनुष्य की शारीरिक और भावनात्मक आवश्यकता के निकट हुई और उसने धर्म–प्रधान के स्थान पर मनुष्य–प्रधान बनने का प्रयत्न किया । इस परिवर्तन के मुख्य कारण भारतीय समाज का व्यवसाय–प्रधान होना था और दक्षिण–भारत उसमें उत्तर–भारत से आगे था । पश्चिमी देशों और मुख्यतया रोमन–साम्राज्य से समुद्री–मार्ग से व्यापार दक्षिण की इस सभ्यता और कृषि–प्रधान आर्थिक ढ़ांचे में भी परिवर्तन हुआ और इस आर्थिक परिवर्तन ने भारतीय कला को प्रभावित करके शारीरिक सौन्दर्य और 'कला के लिए कला' निर्माण करने में प्रोत्साहन दिया तथा मूर्ति–कला की इस प्रगति को सम्भव बनाया ।

16.4 मौर्योत्तरकालीन साहित्य (Post Mauryan Age Literature)

मौर्योत्तर काल में साहित्य के भी विभिन्न रूपों का विकास हुआ । एक सातवाहन शासक द्वारा 'हाल' छद्मनाम से लिखी गई गाथा सप्तशती प्राकृत भाषा की बहुत सुन्दर काव्य रचना है, यद्यपि इस काल में साहित्य रचना में संस्कृत भाषा का प्रचलन अधिक था । ई0 पू0 दूसरी शती के मध्य में पतंजलि ने अपने महाभाष्य लिखा जो उनके पूर्ववर्ती वैयाकरण पाणिनि की प्रसिद्ध रचना अष्टाध्यायी की टीका है । चिकित्सा शास्त्र पर भी मौलिक ग्रंथ लिखे गए जिनमें सबसे प्रसिद्ध चरक–कृत संहिता है । चरक कुषाण शासक कनिष्क का समकालीन था । चिकित्सा शास्त्र एवं ज्योतिष शास्त्र में भारत ने पश्चिमी जगत से सम्पर्क द्वारा बहुत लाभ उठाया । कुछ विद्वानों के अनुसार भरत नाट्य शास्त्र और वात्स्यायन का कामसूत्र भी इसी काल की रचनाएँ है ।

भारत की सर्वप्रसिद्ध स्मृति मनुस्मृति ई0 पू0 दूसरी शदी से ईसा की दूसरी शताब्दी के मध्य लिखी गई है । इसी समय में ब्राह्मणों ने महाकाव्यों में भी संशोधन किए ।

संस्कृत काव्य की प्रारंभिक शैली की महत्वपूर्ण कृति अश्वघोष का बुद्ध चरित है । अश्वघोष कनिष्क का समकालीन था । अश्वधोष के नाटकों के कुछ भाग मध्य एशिया के एक विहार से प्राप्त हुए थे ।

संभवतः सबसे पहले सम्पूर्ण नाटक रचने का श्रेय भास को है । इनमें से सबसे प्रसिद्ध है स्वप्नवासवदत्तम्, जो राजा उदयन एवं वासवदत्ता की कथा पर आधारित है । ये काव्य राजदरबार के लिए लिखे गए थे । किन्तु अब सामान्यतः संस्कृत भाषाके क्लिष्टता में वृद्धि हो रही थी । यह केवल ब्राह्मणों की भाषा न रहकर शासकवर्ग की भाषा बन रही थी ।

बोधप्रश्न

1. मौर्योत्तरकालीन प्रमुख सामाजिक और धार्मिक विशेषताओं का उल्लेख करें ।
2. मौर्योत्तरकालीन कला के विविध विद्याओं की विशेषताओं का उल्लेख करें ।
3. मौर्योत्तरकालीन साहित्य के रचनाओं के महत्व पर प्रकाश डालें ।

* * * * *

अध्याय- 17

गुप्तकालीन राजनीतिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

(Political and Administrative System of Gupta Age)

17.0 उद्देश्य (Aims)

17.1 प्रस्तावना (Introduction)

17.2 समुद्रगुप्त (Samundragupta)

17.3 रामगुप्त (Ramgupta)

17.4 चन्द्रगुप्त द्वितीय (Chandragupta II)

17.5 गुप्त–शासन प्रणाली (Gupta-Administration System)

17.5.1 केन्द्रीय शासन व्यवस्था (Central Administration System)

17.5.2 जिला शासन व्यवस्था (District Administrative System)

17.5.3 स्थानीय शासन (Local Administration)

17.5.4 ग्राम शासन (Village Administration)

17.6 गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण (Causes of the Downtall of Gupta Empire)

बोध प्रश्न

17.0 उद्देश्य (Aims)

इस इकाई को पढ़ने के बाद :–

- गुप्तकाल में समुद्रगुप्त की उपलब्धियों को जान पायेंगे ।
- चन्द्रगुप्त द्वितीय की उपलब्धियों से अवगत होंगे ।
- गुप्तकालीन राजनीतिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था के विभिन्न स्तरों को समझ सकेंगे ।
- उन तत्वों को जान पायेंगे जिसके चलते गुप्त साम्राज्य का पतन हुआ ।

17.1 प्रस्तावना (Introduction)

गुप्त काल के इतिहास की जानकारी के अनेक स्रोत है, जो पाँच भागों में विभाजित किए जा सकते हैं, जैसे – उत्कीर्ण लेख, मुद्रा, शिल्प शास्त्र, साहित्य और यात्रा–विवरण । गुप्तकालीन लेख शिला, स्तंभ और ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण मिलते हैं । वैशाली से पर्याप्त मात्रा में मिट्टी की मुहरें भी मिली है । इन लेखों से राजा की वंशावली और उनकी

कीर्तिवर्द्धक दानशीलता, राजनीतिक निपुणता और कौशल का भी पता लगता है । दामोदरपुर–ताम्रपट्ट–लेख और वैशाली से प्राप्त मुहरों के आधार पर हम गुप्त–शासन–प्रणाली का अध्ययन प्रस्तुत कर सकते है । उत्कीर्ण लेखों से तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है । उस समय के संस्कृत–साहित्य के स्तर की उच्चता का पता भी हमें इन लेखों से लगता है ।

उत्कीर्ण लेखों की तरह मुद्रा भी गुप्त–इतिहास के अध्ययन के लिए बड़ा ही महत्वपूर्ण साधन है । गुप्त–काल में सोने के सिक्कों का बाहुल्य था और 1949–50 ई0 में प्राप्त मात्र 'वयाना होर्ड' से लगभग 2200 सोने के सिक्के मिले थे । इन मुद्राओं से जहाँ एक ओर राजनीतिक इतिहास के निर्धारण में सहायता मिलती है, वहाँ दूसरी ओर तत्कालीन संस्कृति और मानवोचित दिनोंदिन जीवन के अध्ययन का भी आधार मिलता है ।

शिल्पशास्त्र से तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है । वैष्णव–धर्मावलंबी होने के बावजूद गुप्तों ने अन्य धर्मो के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाई और उसका प्रमाण हमें तत्कालीन कला से मिलता है । गुप्त–शैली की भव्य बुद्धमूर्ति इसका सबसे बड़ा प्रमाण है । लेखोत्कीर्ण बुद्ध और जैन मूतियाँ भी प्रचुर मात्रा में मिली है ।

संस्कृति और साहित्य के दृष्टिकोण से यह युग निःसंदेह स्वर्णयुग हो सकता है और साहित्य उस युग के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण साधन है । भविष्योत्तरपुराण से गुप्तों के पूर्व की राजनीतिक स्थिति का पता चलता है ।

17.2 समुद्रगुप्त (Samudragupta)

चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने सभी सभासदों और राजकुमारों की सभा बुलाकर समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी बनाया । समुद्रगुप्त अपना लिखित इतिहास स्वयं छोड़ गया है । कौशांबी के अशोकस्तंभ पर समुद्रगुप्त की विस्तृत प्रशस्ति अंकित है । इससे उसके बाल्याजीवन, शिक्षा, व्यक्तिगत गुण, दिग्विजय, तत्कालीन राजनीतिक अवस्था, भाषा, साहित्य, शास्त्र, विद्या आदि की पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है । चूँकि वह अपने पिता द्वारा मनोनीत उत्तराधिकारी था, इसलिए संभवतः वह उसका ज्येश्ठ पुत्र नहीं था । कुछ लोग काच को समुद्रगुप्त ही मानते हैं और कहते हैं कि 'काच' समुद्रगुप्त का पहला नाम था । डी0आर0 भंडारकर के अनुसार काच और रामगुप्त एक थे । समुद्रगुप्त समस्त गुप्त सम्राटों में कई अर्थो में अद्वितीय था और अपने कृत्यों से उसने अपने पिता की दूरदर्शिता को प्रमाणित किया । ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि समुद्रगुपत की दिग्विजय की समाप्ति के बाद और उसके अश्वमेघ–अनुष्ठान के पूर्व इस प्रशस्ति की रचना हुई होगी । उसके दरबार के प्रसिद्ध कवि हरिषेण द्वारा प्रशस्ति की रचना हुई थी । वह समुद्रगुप्त का सेनानायक और सांधिविग्रहिक था ।

साहित्य और संगीतकला में निपुण समुद्रगुप्त ने अपनी वीरता और नीति–कौशल का भी परिचय दिया । उसका आदर्श भारत के प्राचीन क्षत्रियों का परम्परागत आदर्श, दिग्विजय और भारत का राजनीतिक एकीकरण था । उसके सामने महापद्मनन्द और समुद्रगुप्त मौर्य के उदाहरण थे । गुप्त–साम्राज्य की स्थापना के पूर्व ही छोटे–छोटे राज्यों की अनुपयोगिता सिद्ध हो चुकी थी और इसलिए उसे अपने राजनीतिक आदर्श पूरे करने में काफी प्रोत्साहन मिला । उसके राजनीतिक आदर्श अशोक से भिन्न थे । पाटलिपुत्र की प्राप्ति से गुप्तों की साम्राज्यवादी आकांक्षाएँ और बढ़ गई । समुद्रगुप्त ने अपने राजनीतिक आदर्श की पूर्ति के लिए दिग्विजय की योजना बनाई । पाटलिपुत्र के पश्चिम और पूरब के दुश्मनों को वह पहले ही समाप्त कर चुका था ।

विन्ध्य तथा हिमालय के बीच के क्षेत्रों को आर्यावर्त करते है । समुद्रगुप्त ने समस्त उत्तरी भारत के राजाओं को परास्त कर उनके राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया । राजनीति में ऐसे विजेता को असुरविजयी कहा जाता है । प्रारंभ में समुद्रगुप्त के दो प्रबल शत्रु थे – एक था पाटलिपुत्र का कोटकुल और दूसरा मथुरा का पद्मावती के नागवंश, जो कोटकुल के संबंधी थे । जिस समय समुद्रगुप्त पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर रहा था, संभवतः उसी समय से अच्युत और नागसेन नामक राजाओं ने उसके राज्य पर चढ़ाई कर दी । उसने पहले अच्युत और नागसेन को ही बुरी तरह हराया और फिर आसानी से कोटकुल का विनाश कर पाटलिपुत्र में प्रवेश किया । समुद्रगुप्त के प्रथम अभियान में अच्युत, नागसेन

और कोटवंशी शासक और दूसरे अभियान में गणपतिनाग, चंद्रवर्मन, रूद्रदेव आदि शासक पराजित हुए और उसके राज्य गुप्त–साम्राज्य में मिलाए गए ।

समुद्रगुप्त के दक्षिण–विजय के संबंध में इतिहासकारों में बड़ा मतभेद है । कहा जाता है कि समुद्रगुप्त ने वहाँ के शासकों को जीतकर अपने अधीन कर लिया । दक्षिणापथ की विजय में इन राजाओं से उसकी मुठभेड़ भी हुई होगी । पराक्रमी विजेता समुद्रगुप्त ने समस्त दक्षिणी राजाओं को पराजित किया, परन्तु उसने उनके राज्यों को गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया । उसने विजित प्रदेश स्थानीय भासकों को लौटा दिए तथा अपनी छत्रछाया में उसे राज्य करने की आज्ञा दी ।

प्रयाग–प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त आटविक राज्यों को जीतकर मध्यप्रदेश पहुँचा और वहाँ से महाकोशल तथा महाकांतार के मार्ग से होता हुआ कलिंग के समीप उसके समस्त नरेशों को परास्त किया । उपर्युक्त दक्षिणी राज्यों के वर्णन से प्रतीत होता है कि दक्षिण में उसका प्रभाव चेर–राज्य तक पहुँच गया था ।

17.3 रामगुप्त (Ramgupta)

गुप्त–लेखों के अनुसार समुद्रगुप्त के बाद चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य राजा हुआ, परन्तु अल्तेकर और कुछ अन्य विद्वानों ने सिद्ध किया है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के पहले रामगुप्त का शासन था । रामगुप्त का कोई लेख नहीं मिला है और न कोई प्रामाणिक सिक्का ही । रामगुप्त की ऐतिहासिका अब भी संदिग्ध है । उसके संबंध में जो साहित्यिक प्रमाण मिलते हैं, वे छठी भाताब्दी के पूर्व के नही है । साहित्यिक प्रमाणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त गद्दी पर बैठा । वह कमजोर शासक था । शक–शासक ने रामगुप्त पर आक्रमण किया । संधि के फलस्वरूप रामगुप्त ने अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को भाकों को समप्रित करने का वचन दिया । इस संधि के बाद रामगुप्त ने छोटे भाई चंद्रगुप्त द्वितीय ने ध्रुवदेवी का वेश बनाकर शकों के समीप जाने का निश्चय किया । ऐसा करने में वह सफल भी हुआ और उसने शकपति को मार डाला । इसके पश्चात् रामगुप्त मार डाला गया । रामगुप्त की मृत्यु के बाद ध्रुवदेव ने चन्द्रगुप्त से विवाह कर लिया ।

विशाखादत्त–प्रणीत देवीचन्द्रगुप्तम् नाटक में रामगुप्त का उल्लेख मिलता है । परन्तु इसके उद्धरण नाट्यदर्पण में मिलते है । राष्ट्रकूट–अमोधवर्ष प्रथम के सज्जन–ताम्रपत्र–अभिलेख में इस बात का वर्णन मिलता है कि किसी दानी गुप्त नरेश ने अपने भाई का राजसिंहासन ले लिया था तथा उसकी दीन पत्नी को भी । इसके आधार पर कुछ लोग उपर्युक्त घटना का समर्थन करते है । इन सभी साधनों से रामगुप्त– संबंधी घटनाओं का ज्ञान होता है । इसके आधार पर कहा जा सकता है कि रामगुप्त अत्यंत भाक्तिहीन और असमर्थ था । रामगुप्त और शकों के बीच के युद्ध का वर्णन विभिन्न साधनों में मिलता है, परन्तु गुप्त–लेखों से इसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो पाई है ।

जैसा कि उपर कहा जा चुका है कि समकालीन अभिलेखों में रामगुप्त नामक किसी राजा का उल्लेख नहीं है और यह सम्पूर्ण कहानी बाद की उपज मालूम पड़ती है । बाण ने रामगुप्त और ध्रुवदेवी का उल्लेख किया है । अगर इस घटना को सच मान भी ले कि किसी रामगुप्त का शकों से युद्ध हुआ था तो वह रामगुप्त भिलसा क्षेत्र का कोई स्थानीय शासक रहा होगा, न कि गुप्तवंशीय समुद्रगुप्त का वास्तविक उत्तराधिकारी । अभी हाल में विदिशा में पत्थर की तीन जैन मूर्तियाँ मिली हैं, जिनपर महाराजाधिकार रामगुप्त का उल्लेख है । इन अभिलेखों और अन्यान्य साधनों के आधार पर रामगुप्त को गुप्त–सम्राट स्वीकार किया गया है और समुद्रगुप्त के बाद उसके राज्यारोहन की बात कही गई है ।

17.4 चन्द्रगुप्त द्वितीय (Chandragupta II)

समुद्रगुप्त की पत्नी दत्तदेवी के गर्भ से चन्द्रगुप्त पैदा हुआ था । गुप्तों और वाकाटकों के लेख से ज्ञात होता है कि उसका दूसरा नाम देवराज और देवगुप्त भी था । प्रवरसेन के चमक–लेख में इसका नाम 'देवगुप्त' भी मिलता है । चन्द्रगुप्त की प्रथम रानी का नाम कुबेरनागा था, जो नागवंश की लड़की थी । इस पत्नी से उत्पन्न पुत्री प्रभावतीगुप्त का

विवाह वाकाटक राजा रूदसेन द्वितीय से हुआ था । दूसरी रानी ध्रुवस्वामिनी थी जिससे कुमारगुप्त भी पैदा हुआ था । चन्द्रगुप्त के शासनकाल के छः अभिलेख प्राप्त हुए है जिनके आधार पर उसके शासनकाल का अध्ययन किया जा सकता है । उनके नाम है – (1) मथुरा–स्तंभलेख (2) उदयगिरि–गृह–लेख (3) गढ़वा का शिलालेख (4) साँची का लेख (5) उदयगिरि का गुफालेख एवं (6) मथुरा का शिलालेख ।

दिल्ली के समीप मैहरौली के लौहस्तंभ पर चन्द्र नामक राजा की विजय–कीर्ति अंकित है । चन्द्र ने विष्णुध्वज के रूप में स्तंभ का निर्माण कराया था । इस लेख के अनुसार उसने वंग में अपनी कीर्ति की स्थापना की, सिंधु के सातों मुखों को पाकर बाहुकि को जीता और अपने शौर्य से दक्षिणी निधि को सुवासित किया ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकविजय द्वारा पश्चिमी समुद्रतट के व्यावसायिक केन्द्र पर अपना अधिकार किया और पूरब में बंगाल में विद्रोह को दबाकर उसे भी अपने साम्राज्य में मिला लिया । डॉ0 भंडारकर के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने वाहिकी विजय के बाद ही महरौली के इस स्तंभ की स्थापना की होगी । उदयगिरि–गुहालेख में भी वंशावली का अभाव है और इस तथ्य का सहारा लेखक प्रा0 गोवर्धन राय शर्मा का कहना है कि मेहरौली स्तंभ गुप्तकालीन चन्द्रगुपत द्वितीय का ही है । प्रो0 ओझा ने उनके विचारों को अपने ढंग से खंडन किया है । जिस रूप में मेहरौली–लौहस्तंभ–लेख प्रापत है, उसमें सब प्रकार की अटकलबाजियाँ चल सकती है ।

विभिन्न साधनों के आधार पर चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन 375 से 414 ई0 तक माना जाता है । समुद्रगुप्त की तिथि का तो कोई प्रमाण नहीं मिलता है, परन्तु उसके अभिलेखों में वे तिथियाँ अंकित है जिनसे उसके समयनिर्धारण में सहायता मिलती है । उसके पिता ने सत्पुत्र समझकर उसे राज्य के लिए चुना था ।

17.5 गुप्त शासन प्रणाली (Gupta Administration System)

मौर्य–साम्राज्य के बाद भारत में फिर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना और राजनीतिक भाक्तियों को एक सूत्र में संगठित करने का श्रेय गुप्तवंश के शासकों को जाता है । समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे शक्तिशाली सम्राटों के नेतृत्व में मगध के लुप्त गौरव का पुनरूद्धार हुआ । फिर, भारत के एक बड़े भाग में विशाल साम्राज्य का गठन हुआ ।

गुप्त–साम्राज्य के अन्तर्गत सब प्रदेशों पर गुप्त–सम्राटों का सीधा शासन नहीं था । उनके अधीन अनेक महाराज, राजा और गणराज्य थे, जो अपने आंतरिक शासन में स्वतंत्र थे । सब सामंतों की स्थिति एकसमान नहीं थी । आर्यावर्त के सामंत गुप्त–सम्राट के अधिक प्रभाव में थे । सुदूरवर्ती सामंत प्रायः स्वतंत्र स्थिति रखते थे और सम्राट की अधीनता स्वीकार करते थे । यही दशा गणराज्यों की भी थी । सद्व्यवहार की मात्रा पर्याप्त रूप में वर्तमान थी । फाहियान के विवरणों से स्पष्ट है कि सर्वत्र पूर्ण भाांति का राज्य था । कुछ ऐसे भी गुप्तकालीन लेख मिले है, जो सर्वथा शासन–व्यवस्था के द्योतक है । गुप्तकालीन शासन–व्यवस्था बहुत उच्चकोटि की थी । समस्त राज्य शासन के सुप्रबंध के लिए मुख्यतः चार भागों में विभक्त था

17.5.1 केन्द्रीय शासन व्यवस्था (Central Administration System)

गुप्त–साम्राज्य का शासन सम्राट में निहित था । गुप्त–शासन अपने को महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभागवत्, परमदैवत्, सम्राट, चक्रवर्ती, परमभट्टारक आदि विरू0 से विभूशित करते थे । केन्द्रीय शासन से पद्धति का तात्पर्य है, जो राजधानी में शासनकर्ताओं से संबद्ध थी । सम्राट ही राज्य का प्रधान होता था । एकतंत्रिक शासन प्रणाली में राजा राज्य का सर्वोपरी अधिकारी होता ही है और राज्य की अंतिम सत्ता उसी के हाथ रहती है । गुप्तकाल में कुमारों द्वारा राजपद पाने के लिए ज्येष्ठाधिकार का नियम बराबर नही लागू होता था । पिता द्वारा उत्तराधिकारी का चुनाव प्रायः योग्यता के आधार पर होता था । उत्तर–भारत में गुप्त साम्राज्य का गृहराज्य काफी बड़ा था, परन्तु उसका स्वरूप बहुत–कुछ मांडलिक था और सामंतों द्वारा सम्राट अपने कर्तव्यों का पालन करता था । बहुत सारे लोगों ने राजमुद्रा से अंकित फरमान स्वीकार किए थे । गुप्त–सम्राटों ने अपनी वैयक्तिक भाक्ति, साहस और प्रताप से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, अतः शांतिकाल में उनके शौर्य का प्रभाव देखा जा सकता था ।

मंत्री (Minister)– सम्राट को शासन–कार्य में सहायता देने के लिए मंत्री हुआ करते थे जिनकी संख्या निश्चित नहीं थी । अमात्यगण केवल राजा की सहायता करने तथा मंत्रणा देने के लिए नियुक्त होते थे । परम्परागत धर्म, चरित्र और व्यवहार पर देश का कानून आधृत था और जनता का कल्याण तथा लोकरंजन ही शासन का उद्देश्य था । गुप्तयुग में मंत्रियों का पद बहुधा कुलागत होता था । चन्द्रगुप्त द्वितीय ने आम्रकार्दव नामक एक योग्य व्यक्ति को उच्चपद पर नियुक्त किया । विभिन्न लेखों से क्रमागत मंत्रिपद का स्पष्ट प्रमाण मिलता है ।

मंत्रिपरिषद् (Cabinet)– राजा अपने मंत्रियों की मंत्रणा तथा सहायता से शासन करता था । उनमें से कुछ युद्ध संबंधी और दैनंदिन, दोनों प्रकार के शासन की व्यवस्था करते थे और सम्राट के साथ युद्धभूमि में भी जाते थे । राजा तथा मंत्रिगण की सम्मिलित रूप से एक मंत्रिपरिषद होती थी । राजा उसका प्रधान होता था और प्रत्येक विभाग का मुख्य अधिकार एक–एक मंत्री । मंत्रियों पर विभिन्न विभागों का प्रभार रहता था । कई मंत्रियों के हाथ शासन और सेवा दोनों का भार होता था । मंत्रिपरिषद के कारण राज्य–प्रबंध सुचारू रूप से होता था । मंत्रिपरिषद में महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया जाता था ।

विभिन्न विभाग (Various Department)– केन्द्रीय शासन के विविध भागों को अधिकरण कहते थे साम्राज्य के मुख्य पदों पर काम करने वाले कर्मचारियों को कुमारामात्य कहते थे, जो राजघराने के होते थे । ये साम्राज्य की स्थिर सेवा में होते थे और विभिन्न पदों पर काम करते थे । शासनसूत्रों का संचालन इन्हीं के हाथ होता था । प्रत्येक अधिकरण की अपनी–अपनी मुद्रा होती थी । गुप्तकालीन लेखों से निम्नलिखित अधिकरणों और प्रधान राजकर्मचारियों का पता लगता है – महासेनापति, रणभांडागारिक, महाबलाधिकृत, दंडपाशिक, महादंडनायक, महासांधिविग्रहिक, विनयस्थितिस्थापक,, भांडागाराधिकृत, महाक्षपटलिक, सर्वाध्यक्ष, महाप्रतिहार, ध्रुवधिकरण, पुस्तपाल, अग्रहारिक ।

मंत्रिमंडल के विभिन्न विभागों के सम्मिलित प्रयास से ही केन्द्रीय भाासन का सफल संचालन होता था । राजाज्ञा पर सरकारी मुहर होती थी और संधिपत्रों तथा सनदों पर 'गरूड़' का चिह्न भी । राजाज्ञा सुनाने के लिए आज्ञापक के सदृश दूतक भी होता था ं राजप्रासाद का विभाग बहुत विशाल होता था । महाप्रतिहार और प्रतिहार उसके विविध कार्य संभालते थे । राजा के निजी सचिव भी हुआ करते थे । राजा का सबसे बड़ा लड़का युवराजभट्टारक और अन्य लड़के युवराज कहलाते थे । शासन में इन्हें अनेक महत्वपूर्ण पद दिये जाते थे ।

न्याय–शासन (Judicial Administration) – नीति और स्मृति के ग्रंथों से स्पष्ट होता है कि न्याय का विधान पक्षपातरहित होता था । राजा न्याय का सर्वोच्च अधिकार था । न्यायाधीश स्वयं भी गंभीर विद्वान हुआ करते थे । न्यायालय चार प्रकार के होते थे – राजा का न्यायालय, पूरा, श्रेणी तथा कुल । प्रत्येक न्यायालय की अपनी सीमा तक स्वतंत्र रहते थे । न्यायालय में प्रमाण की आवश्यकता होती थी और साक्षी की भी । गुप्तकाल में दंड सरल था । प्रायः अर्थदण्ड ही दिया जाता था ।

राजस्व–व्यवस्था (Revenue System)– राज्य की आय के कई प्रमुख साधन थे । सबसे अधिक आय भूमि–कर से होती थी, परन्तु इसके और भी कई साधनों का उल्लेख मिलता है ।

17.5.2 जिला शासन–व्यवस्था (District Administration System)

प्रांतों के अतिरिक्त जिले और उनसे छोटे भी शासक के हलके थे । जिले का अध्यक्ष विशयपति सीधे प्रांतीय शासक के प्रति उत्तरदायी था और तन्नियुक्तक कहलाता था । उसका प्रधान कार्यालय 'अनुष्ठान' में होता था, जहाँ अधिकरण अर्थात् ऑफिस रहता था । उसकी सहायता के लिए भी स्थानीय प्रतिनिधियों की एक समिति होती थी । विषय में चार सदस्यों की एक गैर–सरकारी परामर्शसमिति कार्य करती थी । इनमें नगरश्रेष्ठी, सार्थवाह, प्रथम कुलिक और प्रथम कायस्थ होते थे, जो क्रमशः नगर, व्यापार, उद्योग और शासन का प्रतिनिधित्व करते थे । पुण्ड्रवर्धनभुक्ति में कोटिवर्श नामक एक प्रमुख विशय था, जिसका अधिकांश स्वयंभूदेव था और जो उपर्युक्त चार सदस्यों की सामान्य समिति की सहायता से कार्य करता था । इनके नाम दान की हुई भूमि थी, जिसका अनुदान पाँच ग्रामों से ली गई भूमि की पट्टियों से मिलाकर बना था ।

विषयों में लाट विषय, त्रिपुरी विशय, ऐरिकिन विषय प्रमुख थे । प्रदेशों में ऐरिकिन, अंतर्वेदी, वाल्वी, कोटिवर्श, महाखुशापार, खंडाहापार, कुंडधानि आदि प्रमुख थे । देश के शासक को 'गोप्ता कहते थे और भुक्ति के शासक को उपरिक या उपरिक महाराज । विशयपति प्रायः कुमारामात्य तथा आयुक्तक अथवा मातृविश्णु जैसे सामंत भी होते थे । अंतर्वेदी के सर्वनाग सीधे सम्राट के अधीन थे । जबकि कोटिवर्श, ऐरिकिन और त्रिपुरी के विशयपति राजयपाल के अधीन काम करते थे ।

विषयपति अपने जिले के मुख्य–मुख्य व्यक्तियों की नियुक्ति करता था और वे उसकी परामर्शदात्री समिति के सदस्य भी होते थे । उनके कारण जिले के शासक में सर्वसाधारण का भी हाथ रहता था । विषयपति अपने जिले की सुरक्षा, भांति और व्यवस्था के लिए उत्तरदायी थे । उनके अधीन राजकीय कर एकत्र करने के लिए अनेक कर्मचारी रहते थे । उन्हें भूमि के क्रय–विक्रय की सारी व्यवस्था सूचित करनी पड़ती थी । भूमि का क्रय तभी कानूनी माना जाता था, जब पुस्तपाल क्रेता का आवेदन–पत्र पाकर विक्रय–संबंधी भूमि का स्वामित्व–निर्णय कर लेता और अपनी रिपोर्ट सरकार को लिखकर भेजता ।

17.5.3 स्थानीय भासन (Local Administration)

स्थानीय शासन के अन्तर्गत नगर और ग्राम का शासन आता था । गुपतकाल में अनेक नगर थे–तक्षशिला, उज्जैन, मंदसोर, पाटलिपुत्र, सौराश्ट्र आदि । इनके शासन के लिए नगरपालिकाओं का प्रबंध था । नगरों में नगरसभा होती थी । नगरपति जनता के स्वास्थ्य पर भी ध्यान रखता था । नगरपति की नियुक्ति विशयपति के द्वारा होती थी । स्कंदगुप्त के समय पर्णदत्त का पुत्र चक्रपालित सौराश्ट्र में नगरपति के पद पर था । उसने सुदर्शन झील की फिर से मरम्मत करवाई थी । कोटिवर्श, वैशाली, गिरनार आदि स्थानों का नगर शासन संगठित था । नगर–संबंधी सभी बातों का नियंत्रण नगरसभाओं के अधीन था । शरह में परपाल नामक एक कर्मचारी का उल्लेख भी मिलता है । पुरों की निगम–सभाएँ भी विद्यमान थीं । नगरपालिकाओं का मंत्री परमाल उपरिक होता था ।

17.5.4 ग्राम शासन (Village Administration)

प्रत्येक ग्राम का अपना क्षेत्रफल होता था । ग्राम के अधिपति को ग्रामपति या महत्तर तथा भोजक कहते थे । ग्रामपति की सहायता के लिए एक छोटी–सी समिति होती थी । व्यवहारमंडप तथा नगररक्षाधिकृत की सहायता के लिए अधिकरणभोजक, महत्तर आदि हुआ करते थे । इस संस्था का उल्लेख गुप्त–लेखों में भी है । चन्द्रगुप्त द्वितीय के सेनापति आम्रकार्दव द्वारा ग्राम पंचायत के सम्मुख एक गांव तथा 25 दीनार के दान का वर्णन मिलता है । ग्रामपंचायत अपने कार्य में स्वतंत्र थी । केवल कर के विषय में उसका संबंध केन्द्रीय शासन से था । ग्राम पंचायत के कुछ पदाधिकारियों का उल्लेख दामोदपुर–ताम्रपत्रलेख में इस प्रकार है – महत्तर, अष्टकुलाधिकार, ग्रामिक, कुटंबिन् ।

इन्हीं चार सभ्यों द्वारा ग्राम–शासन का प्रबंध होता था । ग्रामपति का अधिकार विस्तृत था । वह ग्रामसभा की राय से सब काम करता था । ग्राम में न्याय का अधिकार पंचायत के हाथ था । सुगमता से कार्य चलाने के लिए कई उपसमितियाँ भी थीं । ग्रामपंचायत को कर–संग्रह का अधिकार था । भूमि–विक्रय का भार भी ग्रामपंचायत पर था । ग्राम–प्रबंध के निरीक्षण के लिए राजा की ओर से एक अधिकारी नियुक्त होता था और उसी के द्वारा राजा को ग्राम–संबंधी बातें ज्ञात होती थीं ।

17.6 गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण (Causes of the Downfall of Gupta Empire)

बुद्धगुप्त के बाद से गुप्त साम्राज्य का वास्तविक पतन प्रारंभ हो गया था । उसके बाद के गुप्त नरेश न तो दूरस्थ प्रदेशों के सामंतो को अपने अधीन रख सके और न विदेशी आक्रमणों से अपने साम्राज्य की रक्षा ही कर सके । उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर राजपुत्रों में संघर्ष भी होता था । इसके बाद स्थानीय राजाओं का अभ्युदय हुआ । लगातार हुणों के आक्रमण और सामंत राजाओं तथा प्रांतीय भासकों की महत्वाकांक्षा ने गुप्त साम्राज्य को निर्बल बना दिया था । यशोधर्मा साम्राज्य के प्रदेशों को रौंद चुका था । गोपचन्द्र के उत्तराधिकारी स्वतंत्र स्थिति प्रापत कर चुके थे । चारों ओर

नवीन शक्तियों का उदय हो रहा था । उत्तरप्रदेश में मौखरी, पश्चिमी उत्तरप्रदेश और पंजाब में वर्द्धन, मगध में उत्तरगुप्त और पूर्वी बंगाल में धर्मादित्य के वंश के राजाअें ने गुप्त साम्राज्य का नामोनिशान मिटा दिया । 550 ई0 के आसपास गुप्त साम्राज्य छिन्न–भिन्न हो गया । गुप्ता के वंशज मगध में स्थानीय राजाओं के रूप में रह गए । गुप्त साम्राज्य के पतन के निम्नलिखित कारण थे –

बाह्य आक्रमण (Invasion)– शक्तिहीन सत्ता को देखकर ही विदेशी आक्रमणकारियों का मन बढ़ता है । जब गुप्त साम्राज्य अपने उत्कर्ष पर था तब कोई विदेशी आक्रमण नहीं हुआ । हूणों ने आक्रमण किया भी तो स्कन्दगुप्त ने उसके दांत खट्टे कर दिए । स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त–शासन कमजोर पड़ गए और हूणों ने फिर गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया । 485 ई0 के बाद मध्यभारत पर हूणों ने अपना अधिकार कर लिया था । भानुगुप्त बालादित्य और गोपराज ने डटकर उनका सामना किया । हूणों की भाक्ति धीरे–धीरे बढ़ती गई । हूणों के लगातार आक्रमण से गुप्तों की भाक्ति क्षीण होती गई और उसका संगठन संभव नही हो सका ।

आंतरिक दुर्बलता (Internal Weakness)– कमजोर शासक उनका मुकाबला करने में असमर्थ रहे । राज्याधिकार के लिए उनके संघर्ष ने भी साम्राज्य की शक्ति को कमजोर बना दिया था । घरेलू झगड़ों और बाह्य आक्रमणों से साम्राज्य के विघटन में काफी सहायता पहुँची । वे न तो पर्याप्त शक्तिशाली थे और न नीतिनिपुण ही । वे अपने प्राचीन संबंधी तथा मित्रों के साथ अपने अच्छे संबंध का निर्वाह नहीं कर सके । उनकी अकर्मण्यता या अनभिज्ञता से भी साम्राज्य का पतन निकट आ गया । उस समय राजभक्ति का सर्वथा अभाव भी देखा जाने लगा ।

सामंतों की स्वतंत्रता (Liberty of Samantas)– केन्द्रीय शासन की निर्बलता से लाभ उठाकर प्रांतीय शासकों ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर ली । सुदूर प्रांतों का शासन करना असंभव हो गया । सामंत समयांतर में राजा बन बैठै । पश्चिम में बल्लभी, मालवा, उत्तर में थाने वर और कन्नौज तथा पूर्वी भारत में गौड़ के शासक स्वतंत्र हो गए । इन शासकों ने अपने राज्य–विस्तार की अभिलाषा से गुप्त साम्राज्य पर गहरी चोट पहुँचाई, जिससे सर्वदा के लिए गुप्त साम्राज्य का अंत हो गया । आंतरिक विद्रोह, बाह्य आक्रमण, पैत्रिक राज्यपालों का उत्थान और अधिकार–विकास तथा राज्यों में आपसी फूट इत्यादि गुप्त साम्राज्य के पतन के मूल कारण माने जाने जा सकते है । गुप्त साम्राज्य के अधीनस्थ प्रान्त धीरे–धीरे स्वतंत्र होते गए । पश्चिमी भारत गुप्त साम्राज्य से बाहर निकल गया ।

बोध प्रश्न

1. गुप्तकाल में समुद्रगुप्त की उपलब्धियों का परीक्षण करें ।
2. गुप्तकालीन राजनीतिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था में चन्द्रगुप्त द्वितीय के योगदान को दर्शायें ।
3. गुप्तकाल की केन्द्रिय शासन–व्यवस्था की विवेचना करें ।
4. गुप्त साम्राज्य के पतन के कारणों का उल्लेख करें ।

* * * * *

अध्याय- 18

गुप्तकालीन सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास

(Social, Economical and Cultural Development in Gupta Age)

18.0 उद्देश्य (Aims)

18.1 प्रस्तावना (Introduction)

18.2 सामाजिक अवस्था (Social Condition)

18..3 आर्थिक जीवन (Economical Life)

18.4 धार्मिक अवस्था (Religions Conditions)

18.5 साहित्यिक प्रगति (Literary Progress)

18.6 शिक्षा (Education)

18.7 विज्ञान एवं तकनीक (Science and Technology)

18.8 कला (Art)

18.8.1 मूर्तिकला (Sculptures)

18.8.2 चित्रकला (Drawings)

18.8.3 ललितकला (Fine Arts)

18.8.4 धातु कला (Metallurgical Arts)

18.8.5 मुद्रा निर्माण कला (Coin Minting Arts)

18.9 वकारक वंश का संक्षिप्त इतिहास (Brief History of Vakatak Dynasty)

बोध प्रश्न

18.0 उद्देश्य (Aims)

इस इकाई को पढ़ने के बाद :–

- गुप्तकालीन सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक अवस्था से अवगत होंगे ।
- गुप्तकाल में साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में हुए विकास को समझ सकेंगे ।
- गुप्तकाल को 'स्वर्णकाल' कहने के युक्तियों को जान सकेंगे ।
- वकाटक वंश के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

18.1 प्रस्तावना (Introduction)

प्राचीन भारतीय इतिहास में गुप्त काल का इतिहास एक श्रेष्ठ स्थान रखता है । कुषाण–साम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्पन्न हुई राजनीतिक अव्यवस्था और अस्थिरता को समाप्त करके गुप्त–सम्राटों ने उत्तर–भारत को पुनः व्यवस्था और राजनीतिक स्थिरता प्रदान की । एक के बाद एक योग्य और शक्तिशाली गुप्त–सम्राटों ने सम्पूर्ण उत्तर–भारत को एक शासन–सूत्र में बांध दिया, दक्षिण–भारत के वाकाटक और पल्लव शासकों की नीतियों को प्रभावित किया और उन्हें अपने प्रभाव और श्रेष्ठता को मानने के लिए बाध्य किया । गुप्त–सम्राटों ने बर्बर हूण जाति के आक्रमणों से भारत की रक्षा की । गुप्त काल के पतन के अवसर पर पुनः हुए हूणों के आक्रमणों को भी अस्थायी सफलता प्राप्त हुई । महान गुप्त–सम्राटों के गौरव ने उस परम्परा को स्थापित किया था जिसके कारण भारतीय अपनी दुर्बल स्थिति में भी हूणों का मुकाबला कर सके । शक्ति और शौर्य का यह प्रमाण गुप्त–सम्राटों की केवल एक विशेषता थी । इसके अतिरिक्त, आर्थिक वैभव, और बौद्धिक प्रगति गुप्त–काल की अन्य विशेषताएँ थीं जिनके कारण धर्म, साहित्य, कला, विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में भारत ने अद्वितीय प्रगति की । हिन्दू धर्म का पुनरूत्थान, उसका आधुनिक हिन्दू धर्म की आधारशिला का निर्माण करना, धार्मिक सहिष्णुता, संस्कृत भाषा में साहित्य की श्रेष्ठता का निर्माण और कला एवं विज्ञान की दृष्टि से अद्वितीय प्रगति, आदि सभी कुछ इस काल की ही देन रही है । इस काल में भारत की हिन्दू संस्कृति का प्रसार उत्तर–पश्चिमी और दक्षिण–पूर्वी एशिया के देशों में हुआ, जिससे वृहत्तर भारत का निर्माण हुआ । राजनीतिक और सैन्य शक्ति, कृषि, व्यापार और उद्योगों की प्रगति से उत्पन्न आर्थिक सम्पन्नता, समाज और धर्म में सहिष्णुता तथा उदार दृष्टिकोण, विज्ञान और कला में अन्वेषण–प्रवृत्ति, बौद्धिक ज्ञान की लालसा और साहित्य में रूचि, विदेशों में हिन्दू संस्कृति का प्रसार आदि ने गुप्त–काल को एक महान युग और प्राचीन भारत के इतिहास का 'स्वर्ण–काल' कहलाने का अधिकारी बना दिया ।

18.2 सामाजिक अवस्था (Social Condition)

गुप्तकाल के उत्कीर्ण लेखों में जातियों की चर्चा कम और वर्णो का उल्लेख अधिक मिलता है । वर्णो का आदर उनके अपने कर्तव्यपालन के कारण था । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने–अपने वर्णगत कार्य करते थे । वर्णो और व्यवसायों का परिवर्तन होता था तथा अन्तरजातीय विवाह और भोज की प्रथा बनी हुई थी । तत्कालीन लेखों और साहित्य में राजवंशों के विवाह–संबंधों के भी उल्लेख मिलते है । उनलोगों में अन्तरजाजीय विवाह भी होते थे । बहुविवाह की प्रथा भी थी । वर्णाश्रम व्यवस्थ में व्यक्तिक्रम का प्रमाण भी फाहियान के वर्णन से मिलता है । उसने एक वर्ण के लोगों को दूसरे वर्ण का कार्य करते देखा । धार्मिक कृत्यों में पति के साथ पत्नी का रहना आवश्यक था । परदा–प्रथा का कोई प्रमाण नहीं मिलता है । स्त्रियाँ, सौन्दर्योपासिका होती थीं । आभूषणाों का विशेष प्रचलन था और इसका प्रमाण हमें 'अमरकोश' से मिलता है । कालिदास, शूद्रक आदि की रचना और तत्कालीन चित्रकला से इन सब बातों पर विशेष प्रभाव पड़ता है । सौन्दर्य–प्रसाधन की प्रचुर सामग्री उपलब्ध थी । विवाह संबंधी निषेध के साथ भोजन संबंधी निषेध के भी नियम कट्टर होते गए । ब्राह्मणों की कट्टरता का उल्लेख हुएनसांग ने किया है । अस्पृश्य जातियों की संख्या में वृद्धि हुई । स्त्रियों की अवस्था में गिरावट आई ।

समाज में ब्राह्मणों का स्थान ऊँचा था । वे परम्परागत संस्कृति के रक्षक थे । गुप्त–प्रथा वैष्णवधर्म की अनुयायी थी और इस युग में ब्राह्मणधर्म का पुनरूत्थान हुआ । गुप्तों की दिग्विजय के परिणामस्वरूप भारतीय सामाजिक जीवन में एक नवीन स्फूर्ति का जन्म हुआ । ब्राह्मणों का समाज में उनकी योग्यता एवं बुद्धि के कारण सम्मान था । वर्णो तथा व्यवसायों का परिवर्तन अब भी संभव था, इसलिए समाज में अब भी थोड़ा–बहुत लचीलापन बना हुआ था । ब्राह्मण तप और स्वाध्याय में लीन रहते थे ।

जनता का भोजन साधारण तथा सात्त्विक था । लोग शाकाहारी थे । मांस, मदिरा आदि का प्रयोग चांडाल किया करते थे । लोगों पर जैनों और बौद्धों का प्रभाव अभी तक था । मांस, मछली और मदिरा का व्यवहार भी होता था । उच्चवर्ग की स्त्रियाँ भी मद्यपान करती थीं । लोग तरह–तरह के उत्सव भी मनाते थे । व्रत, उपवास और प्राश्यचित भी

समाज में प्रचलित थे । मनुष्य को जन्म से मृत्यु तक कई प्रकार के संस्कारों का संपादन करना पड़ता था । कंदुक और पासा खेलने का भी उल्लेख मिलता है । मनोरंजन में शिकार भी आता था । भविष्यवाणी में भी लोग विश्वास रखते थे । साधारण लोगों में शिष्टाचार, दान, अतिथिसत्कार आदि सद्‌गुण प्रचुर मात्रा में थे ।

गुप्तकाल में बहुत सारी उपजातियों का भी विकास हुआ । मगध, रथकार, कर्मकार, चर्मकार, मणिकार, गोपाल, वणिक् आदि बहुत–सी ऐसी जातियों का विकास हुआ जो स्पष्टतः किसी वर्ग के अधीन नहीं आ सकती थीं । वैश्य भी शूद्रकन्या से प्रतिलोम विवाह करता था ।

गुप्तकाल में 'कायस्थ' का एक स्वतंत्र जाति के रूप में परिगणित होना सामाजिक इतिहास के दृष्टिकोण से बड़ी महत्वपूर्ण बात है और चतुर्मणि नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में भी जाति के रूप में कायस्थों का उल्लेख हुआ है । न्यायाधिकरण में न्याय लिखने का काम भी वही लोग करते थे । ये लोग लेखक, गणक, करणिक, पुस्तपाल, अक्षपटलिक, दिबिर, लिपिकीकरण आदि नाम से जाने जाते थे ।

शूद्रों का स्थान समाज में नीचा था । शूद्र हेय दृष्टि से देखे जाने लगे । धीरे–धीरे कृषि, वाणिज्य और कारीगरी उनके हाथ आने लगी । धीरे–धीरे वे धनी होने लगें । दंडविधान में शूद्रों को अधिक कठोर दंड दिया जाता था । इसी युग में दास–प्रथा के नियमों का विकास हुआ । ब्राह्मण दास नहीं हो सकते थे । ब्राह्मण और नारी की खरीद–बिक्री नहीं हो सकती थी । परन्तु कोई नारी यदि किसी दास से विवाह कर लेती थी, तो वह 'दासी' हो जाती थी । यदि दासी अपने स्वामी से गर्भ धारण कर ले तो वह मुक्त हो जाती थी । इसका प्रमाण शूद्रक से मिलता है ।

18.3 आर्थिक जीवन (Economical Life)

विस्तृत साम्राज्य और योग्य शासन के फलस्वरूप देश में शांति थी । इससे जीवन में साधनों के उत्पादन में वृद्धि हुई और यातायात के रास्तों और सड़कों के विकास को प्रोत्साहन मिला । इससे कृषि, उद्योग–धंधे और व्यापार – जीवन के सभी मुख्य साधनों में वृद्धि हुई । तत्कालीन कृषि का लक्ष्य घनी खेती था, जिससे कोई भूमि बिना टूटे नहीं बची थी । श्रेणियों का संघ भी होता था । मंदसोर–लेख से मालूम होता है कि दशपुर में जुलाहों की एक श्रेणी थी, जिसने सूर्यमंदिर की स्थापना की । रेशमी वस्त्रों का वर्णन मंदसोर–अभिलेख में इस प्रकार किया गया है, ''यौवन और कांति से युक्त होने पर भी, सोने के हार, तांबूल, पुष्पधारण आदि से अलंकृत होती हुई भी स्त्रियाँ एकांत में अपने प्रियजन के पास नहीं जाति, जबतक कि दशपुर की बनी साड़ी और चादर नहीं धारण करतीं । विनिमय के लिए कई प्रकार के सिक्कों और कौड़ियों का प्रचलन था ।

गुप्तकालीन भारत में सुविशाल व्यापारिक नगर भी थे, जो अपनी समृद्धि और प्रासादों के लिए विख्यात थे । पाटलिपुत्र, वैशाली, उज्जैन, दशपुर, भड़ौच आदि समृद्ध और प्रसिद्ध नगर तथा व्यापारिक केन्द्र थे । पूरब में तामलुक प्रसिद्ध बंदरगाह था और वहाँ भी व्यापारी जहाजों का आना–जाना होता था । इस समय भारतीय व्यापार अपनी पराकाष्ठा पर था । पाटलिपुत्र से भरूकच्छ और तामलुक तक सड़कें बनी हुई थीं । पेरिप्लस के अनुसार भड़ौच से व्यापारिक सामग्री बांटी जाती थी । स्थलमार्ग से भी यूरोप के साथ भारत का व्यापार होता था । फाहियान ने एक वृहत पोत का उल्लेख किया है । मध्यकालीन यूरोपीय जहाजों से मलमत, सूक्ष्म वस्त्र, मणि, मोती, मयूरपंख, हीरे, हाथीदाँत, सुगंधित द्रव्य और मसाले बाहर जाते थे और भारतवासी बाहर से घोड़ा, सोना, मूंगा, कपूर, रेशम का धागा, नमक आदि मंगाते थे । बराहमिहिर द्वारा वर्णित वज्रलेप से ज्ञात होता है कि गुपतकाल में रासायनिक कला वर्तमान थी । लोहे और धातुओं का भी ज्ञान था । लोहा भारत से फोनेशिया में भेजा जाता था । मेहरौली–लौहस्तंभ हमारे लौह–ज्ञान का परिचायक था । तौल में यह करीब 6 टन है । सुल्तानगंज से प्राप्त ताबें की बुद्धमूर्ति हमारे धातु–ज्ञान का परिचायक है । सोने–चांदी के सिक्के तो बनते ही थे, पीतल और कांसे का भी व्यवहार होता था । समुद्र से मोती निकालना एक राष्ट्रीय व्यवसाय था । मोती विदेशों में भेजी जाती थी । व्यापारियों का जो अपना संगठन था, उसके अपने नियम–कानून भी थे ।

18.4 धार्मिक अवस्था (Religions Conditions)

गुप्तयुग में धार्मिक जीवन में भी पुनरूत्थान, संस्कार और समन्वय की प्रवत्तियाँ दिखाई पड़ती है । राष्ट्रीय भावना की प्रेरणा से राष्ट्र के मूल और प्रमुख वैदिक धर्म का पुनरूद्धार हुआ । भारशिव, वाकाटक और गुप्तसम्राटों ने बड़े–बड़े अश्वमेघ, वाजपेय, अग्निष्टोम आदि अनेक वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान किए । नई विचारधाराओं के प्रभाव के कारण वैदिकधर्म अपने पुराने रूप में जनता को आकृष्ट नहीं कर सकता था, अतः वैदिक देवताओं में से प्रजापति, विष्णु, शिव, सविता आदि ने ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य आदि अधिक मानवरूपधारी देवताओं का चोंगा पहना और अपने प्रति प्रगाढ़ भावना को अधिक व्यापक भक्तिमार्ग का स्वरूप दिया । वैष्णव, शैव, शाक्त, ब्राह्म, सौर आदि धार्मिक सम्प्रदाय वैदिक धर्म की परम्परा में विकसित हुए । गुप्त–राजा उदार धार्मिक दृष्टिकोण रखते थे और लोगों को धार्मिक क्षेत्र में पूरी स्वतंत्रता थी । एक ही परिवार में कई धर्मावलंबी लोग रहते थे । दान करने में कोई धार्मिक भेदभाव नहीं देखा जाता था । गुप्त–अभिलेखों से पारस्परिक सहिष्णुता, उदारता और सहयोग की भावना का संकेत मिलता है ।

वैष्णवधर्म गुप्त–सम्राटों का राजकीय धर्म था । उनकी मुद्राओं पर गरूड़ और लक्ष्मी की आकृतियाँ अंकित थीं । वे अपने–आपको 'परमभागवत' कहते थे । विष्णु के अनेक मंदिरों में चक्रकभूत, वाराहावतार और अनंतशयन की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित थीं । दिल्ली का लौहस्तंभ भी विष्णुध्वज है । शक्ति में भवानी, गौरी, कात्यायनी, पार्वती, सप्तदेवमातृकाओं और उनसे सम्बद्ध डाकिनियों के मंदिर भी मिलते हैं । दशपुर और अंतर्वेद के मंदिरों से सूर्यपूजा का स्पष्ट प्रमाण मिलता है । हिन्दूधर्म अनेक संप्रदायों में विभक्त था, जिनकी संख्या फाहियान के अनुसार 96 थी । कुमारगुप्त के शिलालेखों में सूर्य, षोडश–मातृकाओं, डाकिनियों, स्वामी महासेन, पृथ्वीश्वर महादेव, बुद्ध और जैन–तीर्थकरों के मंदिरों के निर्माण की चर्चा है । दान द्वारा पंचमहायज्ञ और अन्य श्रीतकर्मकाडों के लिए व्यवस्था की गई थी । स्कन्दगुप्त के समय गिरनार में चक्रभृत और बिहार में स्कंद, देवमातृकाओं और यूप के निर्माण का वर्णन मिलता है । गुप्तकाल ब्राह्मणधर्म वैदिक, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि अपने सभी रूपों में पल्लवित था ।

18.5 साहित्यिक प्रगति (Literary Progress)

गुप्तकाल में प्राचीन काल से अविच्छिन्न रूप से चले आने वाले संस्कृत–साहित्य अनुकूल परिस्थिति था वातावरण में रमणीय विकास हुआ । इस युग में संस्कृत भाषा का खूब प्रचार हुआ । शिलालेखों और मुद्राओं में भी संस्कृत का उपयोग शुरू हुआ । राजकीय पत्र और प्रशस्तियों का लेखन संस्कृत में ही हुआ । संस्कृत का वास्तविक उत्कर्ष इस युग में मात्र साहित्य ही नही, वरन् महान दार्शनिक और वैज्ञानिक ग्रंथ संस्कृत में लिखे गए । गुप्तशासक भी विद्यानुरागी और साहित्यप्रेमी थे । इससे भी संस्कृत के विकास में काफी सहायता पहुँची ।

संस्कृत–साहित्य में इस युग के महान प्रशस्तिकार और उच्च राज्याधिकारी हरिषेण का नाम आता है । वह ध्रुवभूति का पुत्र था और खाद्यतपाकिक नामक वंश में उसका जन्म हुआ था । उसकी एकमात्र उपलब्ध रचना समुद्रगुप्त की प्रयाग–प्रशस्ति है । श्लोकों में वैदर्भी रीति का अनुसरण किया गया है ।

वीरसेन पाटलिपुत्र का रहने वाला था । न्याय, व्याकरण और राजनीति का ज्ञाता होने के साथ ही वह एक महान कवि भी था । वह चन्द्रगुप्त द्वितीय की सभा का एक रत्न था । उदयगिरि–गुफा का लेख उसकी रचना मानी जाती है । वह भी सांधिविग्रहिक था । अलंकार देखने से मालूम पड़ता है कि वह कालिदास से प्रभावित था । प्रशस्ती का ऋतुवर्णन कालिदास के ऋतुसंहार से मिलता है । दोनों में भावसाम्य भी है । यह प्रशस्ति भी वैदर्भी रीति में है ।

मातृगुप्ताचार्य गुप्तकाल का दूसरा प्रसिद्ध कवि था । वह निर्धन था और विक्रमादित्य के आश्रम में था । उसकी रचनाएँ उपलब्ध नहीं है । उद्धरणों से ही लोग उसका नाम जानते है । उसकी भाषा सुन्दर और भावमयी है । शूद्रक गुप्तकाल का अमूल्य रत्न था । उसके द्वारा रचित प्रसिद्ध नाटक का नाम मृच्छकटिकम् है । शूद्रक के संबंध में भी कुछ विशेष पता नहीं है ।

अलंकारशास्त्र के रचयिता भामहाचार्य थे । इसके ग्रंथ का नाम काव्यालंकार है । वह नवरत्नों में एक था और विचार से बौद्ध भी था । संस्कृत–साहित्य में यही सबसे प्राचीन उपलब कोश है । इसपर क्षीरस्वामी का लिखा हुआ भाष्य भी है । पंचतंत्र के प्रणेता विष्णुशर्मा को गुप्तयुग का ही माना जाता है ।

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भी इस युग में काफी विकास हुआ । विज्ञानवादी बौद्धदार्शनिक वसुबंधु गुप्तयुग में पैदा हुआ । असंड, वसुबंधु और दिड्.नाग की देन दर्शन के क्षेत्र में अद्वितीय है । परमार्थ नामक एक बौद्ध चीनी सम्राट के निमंत्रण पर चीन गया था । उसने वसुबंधु का जीवनचरित्र लिखा है । उससे ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य के दरबार में वसुबंधु, विंध्यवासी और बुद्धमित्र के बीच काफी वादविवाद हुआ । ईश्वरकृष्ण और दिड्.नाग में वादविवाद की चर्चा मिली है ।

गुप्तयुग में शिल्पशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष आदि ज्ञान–विज्ञान पर भी ग्रंथ लिखे गये । मानसार नामक ग्रंथ की रचना इसी युग में हुई । कुछ लोग इसे उज्जैन–नरेश की रचना मानते है । मानसार शिल्पशास्त्र का उपयोगी ग्रंथ है और इसमें तक्षण तथा वास्तुकला का विवरण है । ज्योतिष और गणित के क्षेत्र में आर्यभट्ट अग्रगण्य था । उसने सर्वप्रथम गणित तथा नक्षत्रविद्या में संबंध दिखाया । पृथ्वी गोल है तथा अपनी धुरी पर चलती है आदि बातों को प्रकाश में लाने का श्रेय आर्यभट्ट को ही है । दूसरा एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ब्रह्मगुप्त भी था । ग्रहण को उसने चन्द्रमा तथा पृथ्वी की छाया का फल कहा है । गुप्तकालीन आर्यभट्ट के प्रसिद्ध शिष्य थे–विजयनंदी, प्रद्युम्न, श्रीसेन आदि । उसका प्रधान शिष्य लल्ल था, जिसने लल्लसिद्धांत की रचना की । उसके प्रमुख ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं – लधुजातक, बृहज्जातक, विवाहपटल, योगमाया, बृहत्संहिता और पंचसिद्धांतिका । इस युग में परद (पारा) का आविष्कार हुआ ।

18.6 शिक्षा (Education)

गुप्तकाल में साहित्यिक, वैज्ञानिक एवं कलात्मक प्रगति से आभास होता है कि उस समय शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रचुर प्रगति हुई थी । आधुनिक काल की तरह उस समय राज्य की ओर से सुसंगठित शिक्षण–संस्थाएँ नहीं थीं फिर भी हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि विस्तृत शिक्षापद्धति के अभाव में सर्वांगिण विकास संभव नहीं था । इस समय शिक्षा के आचार्य अपने–अपने आश्रमों में विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करते थे । राजाओं तथा धनवान व्यक्तियों की ओर से तथा राजकीय अनुदानों से इन आचार्यो का जीवन–निर्वाह होता था । विद्यार्थियों को वेद, वेदांग, पुराण मीमांसा, व्याकरण, न्याय, आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित आदि सभी प्रकार की धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष शिक्षा दी जाती थी । अग्रहार गाँव भी जो राजा की ओर से आचार्य को दान में दिया जाता था, शिक्षा का केन्द्र होता था । कलिंग नरेश उमार्वन के राज्य में 36 अग्रहार गाँवों में शिक्षा दी जाती थी । इस समय नालन्दा के विद्यालय का महत्व बहुत बढ़ गया था और विद्यार्थी दूर–दूर से शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे ।

18.7 विज्ञान एवं तकनीक (Science and Technology)

गुप्तकाल वैज्ञानिक उपलब्धियों के लिए भी उल्लेखनीय है । इस समय विज्ञान और तकनीक के विविध क्षेत्रों में प्रगति हुई थी ।

गुप्तयुग में गणित और ज्योतिष के क्षेत्रों में विशेष उन्नति हुई थी । शून्य के सिद्धान्त का प्रारंभ और दशमलव–प्रणाली का विकास भी इस युग में हुआ । इस युग का सबसे बड़ा गणितज्ञ आर्यभट्ट था । उसने अंकगणित, बीजगणित, ज्यामिति एवं त्रिकोणमिति के क्षेत्र में नवीन खोज किये । उसने बतलाया कि ग्रहण सूर्य एवं चन्द्रमा के उपर पृथ्वी की छाया का परिणाम है । उसने बतलाया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर सूर्य की परिक्रमा करती है ।

आर्यभट्ट ने नक्षत्र–विज्ञान एवं जोतिष के विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था । वह पहला भारतीय नक्षत्र–वैज्ञानिक था जिसने कहा कि पृथ्वी अपनी कक्ष में चारों ओर घूमती है । उसने सबसे पहले ज्योतिष में जीवा का उपयोग ज्ञात किया और ग्रहों तथा ग्रहणों संबंधी गणनाएँ कीं । उसने भिन्न–भिन्न ग्रहों और रक्षत्रों की गति पर भी प्रकाश डाला । बराहमिहिर गुप्तयुग का सबसे प्रसिद्ध खलोगशास्त्री था । उसने अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें पंचसिद्धान्त, विवाह पटल, योगमाया, वृहत्संहितां, वृहज्जातक और लघु जातक विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

भौतिक विज्ञान की वैशेषिक प्रशाखा ने अणु सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नाजार्गुन रसायन और धातु–विज्ञान का ज्ञाता था । उसने विभिन्न भस्मों की खोज की । धातु–विज्ञान की भी इस समय विशेष प्रगति हुई । धातुओं को रासायनिक क्रियाओं द्वारा पिघलाने और ढालने की कला का भी विकास हुआ ।

गुप्तकाल में अन्य विज्ञानों की भांति चिकित्सा–विज्ञान की भी प्रगति हुई थी ।

18.8 कला (Art)

गुप्तकाल में कला अपनी सर्वोत्कृष्टता की चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी । इस युग का गौरव और वैभव विविध कलाकृतियों एवं स्मारकों में अभिव्यक्त हुआ । इस युग में कला के विभिन्न अंग–स्थापत्यकला, मूर्तिकला, तक्षणकला, चित्रकला, संगीतकला, मुद्रा–निर्माण–कला तथा पकी हुई मिट्टी की मूर्तिकला ने सौन्दर्य, अभिव्यक्ति, संतुलन तथा परिपक्वता प्राप्त की ।

गुप्तकालीन कलाकार रूढ़िवादिया से मुक्त थे । कला का प्रमुख लक्ष्य स्वच्छन्दता एवं संतुलन था । स्वाभाविकता, यथार्थवादिता, सांसकृतिक एवं प्राकृतिक सौन्दर्य इस काल की कला की प्रमुख विशेषताएँ हैं । अजन्ता एवं बाघ की बौद्ध गुफओं के भित्ति चित्रों में तत्कालीन जीवन के आकर्षण तथा सुन्दर दृश्यों का वर्णन स्वतंत्र रूप से हुआ ।

18.8.1 मूर्तिकला (Sculpture)

गुप्तकाल में मथुरा, सारनाथ और पाटलिपुत्र मूर्तिकला के विकास के मुख्य केन्द्र थे । इस समय मथुरा की मूर्तिकला अपने उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँच गयी थी । मथुरा में बुद्ध की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है । इस मूर्ति में शान्ति, करूणा एवं आध्यात्मिक भावनाओं का अपूर्व सम्मिश्रण है । बुद्ध की एक प्रतिमा सारनाथ में भी प्राप्त हुई । एक अन्य शिलाफलक के ऊपर महामाया का स्वप्न, बुद्ध का जन्म, महानिरिष्क्रमण, बुद्ध की सुजाता द्वारा खीर अर्पण, मार–पराजय, धर्मचक्र–प्रवर्तन, महापरिनिर्वाण के दृश्य उत्कीर्ण है ।

गुप्तयुग की कुछ पाषाण प्रतिमाएँ अजन्ता की गुफाओं में है । अजन्ता की कुछ गुफाओं में स्तूपों पर बुद्ध की भव्य मूर्तियाँ है । औरंगाबाद और कान्हेरी की गुफाओं में भी बुद्ध एवं बोधिसत्वों की प्रतिमाएँ है । पाषाण के अलावा कांसा, पीतल, तांबा तथा अन्य धातुओं की भी बुद्ध की मूर्तियाँ बनायी गयी थी । ऐसी धातु–मूर्तियों में सुल्तानगंज से प्राप्त बुद्ध की ताम्रमूर्ति उल्लेखनीय है । धातु की एक भावपूर्ण बुद्ध मूर्ति नालन्दा के संग्रहालय में है ।

गुप्तकाल में हिन्दू धर्म की प्रधानता स्थापित हो चुकी थी। इसलिए इस धर्म के देवी–देवताओं की बहुसंख्यक प्रतिमाएं बनवायी गयी थी । एकमुखी शिव, चतुर्मूखी शिव, अद्धनारीश्वर शिव की प्रतिमाएं गुप्तयुग की अपनी विशेष उपलब्धि है । बंगाल के राजशाही जिले में कृष्ण–लीला से संबंधित अनेक गुप्तकालीन मूर्तियाँ मिली है । राम के जीवन की भी कुछ घटनाएँ उत्कीर्ण की गई जैसे राम का वनगमन, लक्ष्मण–सूर्पणखा–भेंट आदि ।

गुप्तकाल में पकी हुई मिट्टी की मूर्तियाँ भी बनायी जाती हैं । मिट्टी की मूर्तियाँ, खिलौने, हाथी, घोड़े, बैल, पशु–पक्षी तथा अन्य प्राणियों की प्रतिमाएँ सारनाथ, कौशाम्बी, राजघाट, मथुरा, श्रावस्ती आदि स्थानों से प्राप्त हुई है । ये मूर्तियाँ तीन प्रकार की होती थीं–बौद्ध और पौराणिक देवी–देवताओं की मूर्तियों, पुरूषों एवं स्त्रियों की प्रतिमाएँ तथा पशु–पक्षियों की मूर्तियाँ । ये सुन्दरता एवं सजीवता में धातु की मूर्तियों से बढ़ी–चढ़ी होती थी ।

18.8.2 चित्रकला (Drawings)

गुप्तकाल में चित्रकला का अभूतपूर्व विकास हुआ था । चित्रकला के सर्वोत्तम नमूने अजन्ता से प्राप्त हुए है । यहाँ का चित्र तत्कालीन वेषभूषा, केशविन्यास तथा अलंकार–प्रसाधन को समझने में उपयोगी सिद्ध हुआ है । बाघ का गुफाओं में विहार, चैत्य, स्तूप और सभागृह है । पुष्पों, लताओं, हाथियों, मृगों, वृषभों, गायों आदि से भित्तियों, छतों तथा स्तम्भों को चित्रित किया गया है । कुछ स्थानों पर बुद्ध की प्रतिमाएँ चित्रित है । बाघ की गुफाओं के चित्र सौन्दर्य एवं कला की दृष्टि से अजन्ता के चित्रों से कम सजीव और महत्वपूर्ण नहीं है ।

18.8.3 ललितकला (Fine Arts)

संगीत, नाटक, अभिनय–कला तथा नृत्य–कला की भी अद्वितीय प्रगति हुई थी । संगीत का गणना ललित कला में की जाती है । गुप्त सम्राट संगीत–प्रेमी थे और उन्होंने उदारतापूर्वक संगीत को संरक्षण दिया था । उनकी व्यक्तिगण अभिरूचि और राज्याश्रय में संगीत–कला का खूब विकास हुआ । सम्राट समुद्रगुप्त वीणा बजाने में निपुण था और उसे सिक्कों पर वीणा बजाते हुए हुए दिखाया गया है । धनी व्यक्तियों के घरों में संगीतशाला होती थी, जहाँ विभिन्न वाद्यों का अभ्यास किया जाता था । नगरों में संगीत की शिक्षा देने के लिए कला भवन रहते थे । गीत के साथ वाद्य का भी सामंजस्य रहता था । ललितविस्तर से ज्ञात होता है कि पुरसुन्दरियाँ वेणु का अभ्यास करती थी । इस युग के नाटकों में भी संगीत तथा नृत्य का विवरण उपलब्ध है । कभी–कभी नगरों में नृत्य–प्रतियोगिता का भी आयोजन होता था । मालविकाग्निमित्रम् में गणदास और हरदत्त के बीच नृत्य–प्रतियोगिता का उल्लेख है ।

गुप्तयुग की स्थापत्य कला, मूर्तिकला और चित्रकला में भी संगीत तथा नृत्य के अनेक उदाहरण मिलते है । भूमरा के शिव मंदिर में शिव को गणभेर,ी झाँझ आदि बजाते हुए उत्कीर्ण किया गया है । सारनाथ में उपलब्ध एक विशाल प्रस्तर–खण्ड पर नृतय करती हुई एक नारी का चित्र उत्कीर्ण है । मथुरा की कला में एक नर्तकी एक मण्डप में नृत्य करती हुई दिखाई गई है । बाघ की गुफाओं में भी नृत्य करने वाली दो मण्डलियों के चित्र उत्कीर्ण है । एक चित्र में कुछ चित्र में वाद्य बजाने वाली स्त्रियाँ है ओर नृत्य करने वाला पुरूष है । कालिदास तथा विशाखदत्त रचित नाटकों से विदित होता है कि गुप्तयुग में रंगमंच एवं अभिनय–कला का भी विकास हुआ था । नाटकों के मंचन के लिए नाट्यगृह बनाये जाते थे ।

18.8.4 धातु कला (Metallurgial Arts)

गुप्तकाल में धातुओं को गलाकर, शोधकर और उन्हें मिश्रित कर अनेक वस्तुएँ और मूर्तियाँ बनायी जाती थी । धातु की ढ़ली हुई वस्तुएँ तथा मूर्तियाँ निर्माण करने की कला का इस समय आश्चर्यजनक प्रगति हुई थी । तांबे की मूर्तियाँ बनाने का काम सरलता और कुशलता के साथ किया जाता था । सुल्तानगंज से प्राप्त तांबे की भव्य बुद्ध–प्रतिमा इसी समय ढाली गयी थी । बुद्ध की एक अस्सी फीट की ऊँची कांसे की प्रतिमा भी ढ़ाली गयी थी । इन मूर्तियों से धातु–कला की श्रेष्ठता प्रकट होती है ।

18.8.5 मुद्रा निर्माण कला (Coin Minting Arts)

गुप्तकाल में सोना और चांदी के सिक्कों को ढ़ालने की कला प्रचलित थी । सिक्के कलात्मक, आकर्षक एवं सुन्दर बनाये जाते थे । सिक्कों पर गुप्त शासकों की मूर्तियाँ, गरूड़ध्वज एवं सिंह की आकृति, लक्ष्मी की मूर्ति तथा सम्राटों की गौरव–गाथाएँ अंकित की जाती थी । चन्द्रगुप्त प्रथम के सिक्कों पर सम्राट और उसकी रानी कुमारदेवी की मूर्ति अंकित की गयी, दुर्गा को शेर पर बैठे हुए अंकित किया गया और किसी–किसी पर 'लिच्छवि' शब्द भी अंकित किया गया । समुद्रगुप्त को किसी सिक्का पर वीणा बजाते हुए, किसी पर चीता का शिकार करते हुए, किसी पर उसकी रानी दत्तादेवी को, किसी पर अश्वमेघ यज्ञ के घोड़ा को तथा किसी पर समुद्रगुप्त को परशु लिए हुए और उसके पृष्ठभाग पर लक्ष्मीदेवी को अंकित किया गया था ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुप्तकाल उत्थान और अभ्युदय का काल था । इस समय लोगों के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सर्वांगीण विकास हुआ । आर्थिक क्षेत्रों में प्रगति हुई । वाणिज्य–व्यवसाय तथा उद्योग–घंधों की प्रगति के फलस्वरूप आर्थिक जीवन में परिवर्तन आया । समृद्धि और शान्ति ने ललित कला को प्रोत्साहन दिया । साहित्य, कला, संगीत, नृत्य, संस्कृति आदि में काफी प्रगति हुई । जीवन के हर क्षेत्र में प्रगति हुई, जागृति एवं नवचेतना का प्रादुर्भाव हुआ तथा धर्म का संवर्दद्ध हुआ ।

18.9 वाकाटक वंश का संक्षिप्त इतिहास (Brief History of Vakatak)

दक्षिण भारत के इतिहास में वाकाटकों का अपना एक अलग और महत्वपूर्ण स्थान है । इस वंश का शासन तीसरी शताब्दी से छठी शताब्दी तक रहा । अन्य राजवंश की तरह इस वंश की उत्पत्ति के संबंध में कुछ निश्चित रूप से मालूम नहीं है । उनकी धारणा अजंता–गुफालेख पर आधृत है । मिराशी के अनुसार वे लोग दाक्षिणात्स थे ।

विंध्यशक्ति, प्रवरसेन प्रथम एवं रूद्रसेन प्रथम (Vindhya Shakti, Pravar Sen I and Rudra Sen I)– विंध्यशक्ति इस वंश का पहला शासक था । सातवाहनों के बाद उसने अपनी शक्ति का विकास किया । उसका शासनकाल 255–275 तक माना जाता है । वंश के संस्थापक के रूप में इसका उल्लेख केवल अजंता के अभिलेख में हुआ है । उसने ही पश्चिमी मध्यप्रदेश में कहीं वाकाटक राज्य की स्थापना की । पुराण में भी उसे इस वंश का संस्थापक कहा गया है । उसके बाद उसका पुत्र प्रवरसेन प्रथम गद्दी पर बैठा । उसने अपने साम्राज्य का विस्तार किया और चार अश्वमेघ यज्ञ भी किए । उसके बाद उसका पौत्र रूद्रसेन प्रथम शासक हुआ । वह भी एक शक्तिशाली शासक था । उसके साम्राज्य में मध्यप्रदेश, बरार, मालवा, उत्तरी महाराष्ट्र, हैदराबाद आदि सम्मिलित थे । रूद्रसेन प्रथम भारशिवों का दौहित्र था । इससे उसे अपने साम्रज्य–निर्माण में काफी सहायता मिली । उसने विकेन्द्रीकरण की शक्तियों को दबाकर एक संगठित राज्य की स्थापना की और वाकाल साम्राट को एक नवीन जीवन दिया ।

पृथ्वीषेण प्रथम (Prithvisen I)– रूद्रसेन के बाद उसका पुत्र पृथ्वीषेण प्रथम शासन हुआ । वाकाटक–राज्य की एक शाखा में उस समय सर्वसेन का पुत्र विंध्यसेन शासन कर रहा था और दोनों शाखाओं में उस समय अच्छा संबंध था । पृथ्वीषेण को 'कुंतलेंद्र' उपाधि दी गई है । चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उसके पुत्र रूद्रसेन द्वितीय से अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह किया था । इससे स्पष्ट होता है कि पृथ्वीषेण निश्चय ही एक महत्वपूर्ण शासक रहा होगा और वाकाटकों की सत्ता उसके समय तक अक्षुण्ण रही होगी ।

रूद्रसेन द्वितीय (Rudrasen II)– अपने पिता के बाद रूद्रसेन द्वितीय शासक हुआ । वह चन्द्रगुप्त द्वितीय का दामाद था । उसने बौद्धधर्म त्यागकर वैष्णवधर्म ग्रहण किया । वह एक शक्तिशाली शासक था और यही कारण था कि चंद्रगुप्त द्वितीय ने अपनी पुत्री से उसका विवाह किया था । उसका मूल उद्देश्य था कि इस वैवाहिक संबंध द्वारा वाकाटक–शक्ति को तटस्थ कर दिया जाए और तब शक–क्षत्रपों के खिलाफ लड़ा जाए । चन्द्रगुप्त द्वितीय अपनी इस नीति में सफल हुआ । 390 ई0 में तीस वर्ष की अवस्था में रूद्रसेन द्वितीय की अकाल मृत्यु हो गयी और उसके बाद उसकी पत्नी प्रभावतीगुप्त संरक्षिका के रूप में शासन करने लगी ।

प्रवरसेन द्वितीय (Pravarsen II)– प्रवरसेन एक कुशल प्रशासक और कलाप्रेमी था । उसके कई अभिलेख मिले हैं, जिससे तात्कालीन अवस्था पर प्रकाश पड़ता है । साहित्य के प्रति भी उसे बड़ा अनुराग था और 'सेतुबंध' नामक काव्य का रचयिता उसे ही माना जाता है । उसने अपने साम्राज्य को सुरक्षित रखा और प्रवरपुर नामक नगर की स्थापना की । 430 ई0 में उसने अपने पुत्र नरेन्द्रसेन का विवाह कुन्तलनरेश की पुत्री अजीत भट्टारिका से कर दिया । प्रवरसेन के बाद उसका पुत्र नरेन्द्रसेन शासक हुआ । नलों के शासक भवदत्तवर्मन और नरेन्द्रसेन से संघर्ष हुआ । इसमें संभवतः भवदत्तवर्मन को सफलता मिली, किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् नरेन्द्रसेन ने उसके पुत्र अर्थपति को पराजित कर पुनः अपने खोए हुए हिस्से को वापस कर लिया । नरेन्द्रसेन के बाद उसका पुत्र रूद्रसेन शासक हुआ । उसने बेसिम शाखा के साथ अपना अच्छा संबंध कायम रखा । उसने अपने राज्य की सीमा का विस्तार भी किया । उसके बाद उसका पुत्र पृथ्वीषेण द्वितीय शासक हुआ । उसने भी बेसिम शाखा के साथ अच्छा संबंध रखा । 400 ई0 में उसका अंत हुआ और उसके बाद वाकाटक वंश का शासन बेसिम शाखा के हाथ चला गया ।

बोध प्रश्न

1. गुप्तकालीन सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था की विवेचना करें ।
2. गुप्तकाल में हुए साहित्यिक विकास के महत्व को दर्शाये ।
3. गुप्तकाल में विज्ञान एवं तकनीकी सम्बन्धी प्रगति का उल्लेख करें ।
4. गुप्ताकल में कलात्मक स्थापत्य के विकास का वर्णन करें ।

* * * * *

अध्याय- 19
हर्षवर्धन का युग
(Harshvardhana's Age)

19.0 उद्देश्य (Aims)

19.1 प्रस्तावना (Introduction)

19.2 राजनीतिक स्थिति (Political Condition)

19.2.1 हर्ष का पुलकेसिन द्वितीय के साथ युद्ध (War of Harsh with Pukeshin II)

19.2.2 सिन्ध विजय (Victory of Sindh)

19.2.3 नेपाल–कश्मीर (Nepal-Kashmir)

19.2.4 साम्राज्य–विस्तार (Kingdom-Extension)

19.3 हर्ष की शासन–व्यवस्था (Administration of Harsh)

19.3.1 सैन्य संगठन (Army Organisation)

19.3.2 पुलिस विभाग तथा न्याय (Police Department and Justice)

19.3.3 मंत्रिपरिषद (Cabinet)

19.3.4 राजस्व व्यवस्था (Revenue System)

19.3.5 प्रान्तीय एवं स्थानीय शासन (State and Local Administration)

19.4 हुएंगसांग का यात्रा विवरण (Description of Haungsouna Journey)

बोधप्रश्न

19.0 उद्देश्य (Aims)

इस इकाई को पढ़ने के बाद :–

- उत्तर भारत में सातवीं शताब्दी की विभिन्न राजनीतिक गतिविधियों को समझ सकेंगे ।
- हर्षवर्द्धन के राजनीतिक जीवन के क्रिया–कलापों से अवगत होंगे ।
- हर्षवर्द्धन की शासन–व्यवस्था की उपलब्धियों को जान सकेंगे ।
- हर्षवर्द्धन के काल में हुएंगसान के यात्रा विवरण के महत्व को समझ सकेंगे ।

19.1 प्रस्तावना (Introduction)

हर्षवर्द्धन के अध्ययन के लिए कई साधन उपलब्ध है । उसके दो ताम्रलेख मिले हैं – बँसखेरा और मधुवन के अभिलेख । इनसे हर्षवर्द्धन के वंश का परिचय मिलता है और तत्कालीन इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है । नालंदा से भी उसके अभिलेख मिले हैं । हर्ष द्वारा रचित ग्रंथों, बाण की रचनाओं और हुएनसांग के यात्राविवरण से भी उस पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । उसके ग्रंथों से तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पर प्रकाश पडता है । इन सब साधनों के अतिरिक्त नालंदा की मुद्रा एवं पुलकेसिन द्वितीय के एहोल–अभिलेख से भी हर्षकालीन इतिहास पर प्रकाश पड़ता है ।

19.2 राजनीतिक स्थिति (Political Condition)

हर्ष दिग्विजय था । कश्मीर, पंजाब तथा कामरूप को छोड़कर उसकी विजयी सेना उत्तरी भारत के प्रायः सभी प्रांतों में पहुँची थी । अपनी शत्रुओं के दमन के लिए उसे शस्त्र धारण करना पड़ा था । राज्यवर्द्धन की मृत्यु का समाचार अश्वरोही सेनानयक कुंतल ने हष को दिया था और सेनापति सिंहनाद ने उसे शस्त्र धारण करने के लिए उत्तेजित किया ।

हुएनसांग के अनुसार, पूर्व की ओर बढ़कर उसने उन राज्यों पर आक्रमण किया, जिन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की थी । हर्ष जानता था कि भारत का राजनीतिक एकीकरण बहुत आवश्यक है । प्राचीन राजाओं का अनुसरण करते हुए उसने भी यही निश्चय किया । डॉ0 नीहाररंजन राय के अनुसार, ''हर्ष संभवतः एक ऐसे महत्वपूर्ण राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित था, जिसका प्रभाव उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों सम्राटों पर पड़ता था ।

19.2.1 पुलकेसिन द्वितीय के साथ युद्ध (War of Harsh with Pulkeshin II)

पश्चिमी भारत में हर्ष ने जो कुछ किया, उसके परिणामस्वरूप ही पुलकेसिन द्वितीय के साथ उसका युद्ध हुआ । अपने राज्य की सीमा के निकट हर्ष को देखकर पुलकेसिन के मन में आशंका हुई और दोनों में संघर्ष अनिवार्य–सा हो गया । पुलकेसिन के उत्कीर्ण लेखों में कहा है, जिसके चरणकमलों पर अपरिमित समृद्धि से युक्त सामंतों की सेना नतमस्तक होती थी, उस हर्ष का हर्ष युद्ध में मारे हुए हाथियों के वीभत्स दृश्य को देखकर विगलित हो गया ।

19.2.2 सिन्ध विजय (Victory of Sindh)

मध्यभारत से निश्चित होकर हर्ष ने सिंध तथा गुजरात की ओर अपना ध्यान दिया । बाण के अनुसार उसने सिंह के राजा को परास्त किया । सिंध एक शक्तिशाली राज्य था । हर्ष ने उस राज्य को जीतकर अपने अधीन कर लिया । 'हर्षचरित' से ज्ञात होता है कि उसने सिंधुराज को 'मथकर उसकी सम्पत्ति स्वायत्त कर ली । इससे स्पष्ट होत है कि उसने अपने शत्रु से युद्ध–कर भी वसूल किया ।

19.2.3 नेपाल–कश्मीर (Nepal Kashmir)

'हर्षचरित' से यह भी ज्ञात होता है कि हर्ष ने किसी तुषारधवल पर्वतीय प्रदेश से कर ग्रहण किया । इससे विद्वान लोग नेपाल और कश्मीर का अर्थ निकालते है । हुएनसांग की जीवनी में इस तथ्य का उल्लेख है कि हर्ष ने कश्मीर में भगवान बुद्ध के दान की पूजा के लिए यात्रा का थी ।

वह अपनी दिग्विजय के फलस्वरूप 'सलकोत्तरापथनाथ' कहलाता था । उसके सार्वभौम रूप का साक्ष्य विभिन्न राज्यों से उसके संबंधों एवं उनके प्रदेशों में उसके अनुसंयानों द्वारा प्रकट होता है । उसने गंजाम तक की यात्रा की और उड़ीसा में छावनी डालकर वहाँ एक महायान–सभा बुलाई, जिसमें नालंदा के विद्वानों ने भाग लिया । इस सभा में स्थानीय बौद्धविद्वान जयसेन की विद्वता का महत्व प्रकट हुआ, जिसे हर्ष ने उड़ीसा के अस्सी बड़े नगरों की आय पारितोषिक के रूप में प्रदान की ।

19.2.4 साम्राज्य–विस्तार (Kingdom-Extension)

स्मिथ के अनुसार मालवा, गुजरात और सौराष्ट के अतिरिक्त हिमालय से लेकर नालंदा तक हर्ष का आधिपत्य निर्विवाद रूप से स्थापित था । उसने सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अपने अधिकार में कर लिया था और नेपाल का राज्य भी उसके साम्राज्य में सम्मिलित था । रमेशचन्द्र मजुमदार के अनुसार हर्ष का साम्राज्य उतना अधिक विस्तृत नहीं था, जितना

कि दूसरे विद्वान मानते है । हर्ष के राज्य में आगरा एवं अवध का संयुक्त प्रांत, बिहार तथा पूर्वी पंजाब का कुछ भाग सम्मिलित था ।

ह्वेनसांग के विवरण से स्पष्ट है कि हिमालय, पश्चिमी पंजाब, राजपूताना, मध्यप्रदेश तथा बंगाल से हर्ष का साम्राज्य आवेष्ठित था । 'हर्षचरित' से स्पष्ट होता है कि वह बहुत बड़ा सम्राट था । चालुक्य–लेखों में उसे समलोत्तरापथेश्वर कहा गया है । 'उत्तरापथ' शब्द से मूलत तक्षशिला से श्रावस्ती तक का वाणिज्य मार्ग समझा जाता था ।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि शशांक के देहावसान के बाद समतात, ताम्रलिति और कर्ण–सुवर्ण पर हर्ष का आधिपत्य हो गया । बँसखेरा–अभिलेख में वर्णित वर्धमानकोटि को दिनाजपुर जिला के वर्धनकोटि से मिलाया जाता है और ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि हर्ष का विस्तार वहाँ तक हुआ होगा । 640 ई0 में उसने कांगोद पर भी आक्रमण किया । हर्ष ने इसे जीतकर भास्करवर्मा को दिया । रमेशचन्द्र मजूमदार के अनुसार भास्करवर्मा की सहायता के बदले हर्ष ने शायद यह भाग उसे दिया था ।

मथुरा से लेकर नेपाल राज्य तक जितने छोटे–छोटे प्रदेश उस समय थे, वे सब हर्ष के साम्राज्य के अंतर्गत थे । उसका साम्राज्य उत्तर में शतद्रु के तट से दक्षिण में नर्मदा तक और पश्चिमी मालवा के सीमाप्रांत के पूर्व हिमालय के समीपस्थ प्रदेशों तक की भूमि पर स्थापित था । उन अधीन देशों की संख्या 19 थी । अतः इसी आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि ये सभी स्थान उसके साम्राज्य के अधीन थे । वह भारत के महान शासकों में से एक था, परन्तु वह भारत का सबसे बड़ा अंतिम सम्राट था । भारत में उससे बड़े और भी कई शासक बाद में हुए ।

थानेश्वर हर्ष के पैतृक साम्राज्य का अंग था । अहिच्छत्र और श्रावस्ती प्रदेश उसके साम्राज्य के अन्तर्गत थे । प्रयाग में वह दान–वितरण करता था । मगध का उसे राजा कहा गया है । कामरूप उसका मित्र या सामंत था । इन तथ्यों के आधार पर हम कह सकते है कि हर्ष के राज्य में पूर्वी पंजाब का कुछ भाग, वर्तमान उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा के कुछ भाग, वल्लभी, पूर्वी और पश्चिमी मालवा तथा सिंध के प्रदेश सम्मिलित थे । अंतिम चार प्रदेशों पर वह प्रत्यक्ष रूप से शासन नहीं करता था । परन्तु ये उसके प्रभावक्षेत्र में अवश्य सम्मिलित थे । हुएनसांग के अनुसार ''वह भारत का अधिपति था और उसका यश सुदूर देशों तक पहुँच गया था । उसने पूरब और पश्चिम के दूरस्थ राजाओं को जीतकर अपने साम्राज्य का काफी विस्तार किया था । अपने विजित एवं अधीनस्थ राज्यों के साथ उसका अच्छा संबंध था और उसकी परराष्ट्र नीति मित्रता एवं उदारता पर आधारित था ।

हर्ष ने चीन में भी अपने दूतमंडल भेजे । 641 ई0 में उसने चीनी सम्राट की सेवा में एक ब्राह्मन दूत भेजा था । चीनी राज्य की ओर से भी 645 ई0 में एक दूतमंडल भारत आया था । एक कूटनीतिज्ञ के नाते उसने असम और कक्क राज्य पर भी कड़ी निगरानी रखी और फिर इन विस्तृत क्षेत्रों को समन्वित ढ़ंग से चलाने के लिए उसने शासन व्यवस्था को सुचारू रूप से संगठित करने का प्रयास किया । हर्ष के साम्राज्य में पैत्रिकराज्य, भोगराज्य, अधीनराज्य एवं अधीनमित्र सभी सम्मिति थे ।

19.3 हर्ष की शासन–व्यवस्था (Administration of Harsh)

गुप्त साम्राज्य के पतनोपरांत भारतीय राजनीति में जो अस्थिरता आ गई थी, हर्ष ने उसे दूर कर एक उचित शासन–व्यवस्था की स्थापना की । वह मात्र महान विजेता ही नहीं, वरन् एक कुशल शासनकर्त्ता एवं सुप्रबंधक भी था । अपने राज्य के विभिन्न तत्वों को एकसूत्र में बांधने का उसने सफल प्रयास किया और साथ ही एक राजनीतिक और प्रशासनिक एकता लाने का भी ।

अपने उद्देश्य की पूर्ति में वह भोजन और विश्राम करना भी भूल जाता था । इसी उद्देश्य से वह सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करता था, ताकि प्रजा की वास्तविक स्थिति का उसे पता चल सके । वह राज्य का उच्चतम अधिकारी था । अशोक की तरह वह स्वयं ही अपना कार्यक्रम बनाता था । राजा का निजी अधिकारियों में प्रतिहार, विनय, सूर, स्थपति, प्रतिनर्तक, द्यूतक, लेखक आदि थैं प्रशासनिक ढाँचा मानवीय आधार पर संगठित था । शासन उदार सिद्धान्तों पर आधृत था । शासन लोकमंगल की कामना से संचालित था ।

19.3.1 सैन्य संगठन (Army Organization)

अपने समस्त साम्राज्य को एकसूत्र में बांधने के लिए उसने अपनी सैन्य–शक्ति बढ़ाई । अनाधिकृत राज्यों और आभ्यंतर संभाव्य, विप्लवों तथा बाह्य आक्रमणों से साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए सैन्य–संगठन को सुदृढ़ करना आवश्यक था । चीनी यात्री के अनुसार उसने अपने साम्राज्य को बढ़ाकर अपनी सेना की संख्या–वृद्धि की । गजसेना की संख्या बढ़ाकर 60,000 और अश्वसेना की संख्या 1,00,000 कर दी गई । इसके अतिरिक्त अस्थायी सैनिक भी होते थे, जो समय पर बुलाये जाते थै । उसक समय सेना की तीन मुख्य अंग थे – पदाति, अश्वारोही और गज । उसने अपने अभियान के समय कामरूप के भास्करवर्मा से चिर संधि की । शक्ति–संतुलन को ध्यान में रखकर उसने वल्लभी से वैवाहिक संबंध स्थापित किया और उसके राज्य के बीच से दक्षिण का मार्ग स्वायत्त कर लिया । चीनी सम्राट तइत्सुंग के पास अपना दूतमंडल भेजकर उसने मित्रका का संबंध जोड़ा और चीन तथा भारत में दूतों का आदान–प्रदान शुरू हुआ । चूँकि पुलकेसिन ने फारस के राजा के साथ अपना संबंध स्थापित किया था, इसलिए हर्ष ने भी अपने अस्तित्व को मजबूत करने के लिए चीन के साथ संबंध जोड़ा ।

19.3.2 पुलिस विभाग तथा न्याय (Police Department and Justice)

आतंरिक सुरक्षा और शांति के लिए पुलिस विभाग का भी संगठन किया था । इस विभाग में दंडपाशिक, दंडिक, चोरोद्धिरणिक आदि कर्मचारियों का उल्लेख मिलता है । हर्ष का दंडविधान कठोर था । बड़े–बड़े अपराधियों को मृत्युदंड और कारावास दंड दिया जाता था । अराजकता समाप्त करने के लिए कठोर दंडविधान आवश्यक था । राजद्रोह के लिए आजीवन कारावास की सजा दी जाती थी । दंडनीयों को दंडित करने तथा भलों को पुरस्कृत करने के विचार से हर्ष स्थान–स्थान की यात्रा किया करता था । राजपथ और जलमार्ग सुरक्षित नहीं थे । अग्नि, जल, तल, विष आदि के प्रयोग से अभियुक्त की निर्दोषिता आंकी जाती थी । कुलों की रजिस्ट्री नहीं होती थी ।

19.3.3 मंत्रिपरिषद (Cabinet)

राजा की सहायता के लिए एक मंत्रिपरिषद थी । मंत्रिपरिषद का राजा के निर्वाचन में हाथ होता था इसका प्रमाण स्वयं हर्ष ही है । परिषद विदेश नीति भी निर्धारित करती थी । हुएनसांग के अनुसार, पोनी के नेतृत्व में कन्नोज के मंत्रियों और राजनीतिज्ञों ने हर्ष को कन्नौज का राजमुकुट प्रदान किया था । इससे तत्कालीन मंत्रिपरिषद के महत्व का पता चलता है । मंत्रियों और अन्य कर्मचारियों को वेतन भूमि के अनुदान के रूप में मिलता था । इससे स्पष्ट होता है कि हर्ष के समय सामंतवाद की प्रथा जब चुकी थी ।

राज्य की भूमि का एक–चौथाई भाग सरकारी कर्मचारियों के वेतन के लिए सुरक्षित रखा जाता था । केन्द्रीय शासन का संगठन कई विभागों में हुआ था, जो अध्यक्षों अथवा मंत्रियों के संरक्षण में रहते थे । मंत्रिपरिषद में पुरोहित, प्रधानमंत्री, सांधिविग्रहक, अक्षपटलाधिकृजत और सेनापति का विशिष्ट स्थान था । इसके अतिरिक्त महावलाधिकृत, अश्वसेनाध्यक्ष, गजसेनाध्यक्ष, दूत, राजस्थानीय, उपरिक महाराज, आयुक्तक, मीमांसक, भोगिक या भोगपति दीर्घद्वग, करणिक आदि प्रमुख व्यक्ति थे, जो केन्द्रीय शासन में सहयोग देते थे ।

19.3.4 राजस्व व्यवस्था (Revenue System) सरकारी आय के मुख्य स्रोत थे – उद्रंग, उपरिकर, धान्य, हिरण्य, शारीरिक श्रम, न्यायालय शुल्क, अर्थदंड आदि । जो द्रव्य अथवा अनाज के रूप में कर नहीं दे पाते, उनसे शारीरिक श्रम निश्चित ढंग से लिया जाता था । शुल्क और अर्थदंड से भी सरकार को आमदनी होती थी । भूमि की उपज का 1/6 हिस्सा सरकार को मिलता था । राज्य को सबसे अधिक आमदनी भूमि से होती थी । सारी भूमि का पर्यवेक्षण और माप होती थी । खेतों की सीमा निर्धारित होती थी ।

राजकीय भूमि के चार भाग थे – एक भाग की आय आर्थिक कृत्यों तथा सरकारी कार्यो पर खर्च की जाती थी, दूसरे भाग की आय सार्वजनिक अधिकारियों पर, तीसरे भाग की आय विद्वानों को पुरस्कार तथा वृत्ति देने पर और चौथे भाग की आय दान–पुण्य के कार्यो पर खर्च की जाती थी । लोकहितकारी कार्यो पर ही अधिकतर सरकारी पैसे खर्च होते थे । प्रशासनिक व्यय कम था ।

19.3.5 प्रान्तीय एवं स्थानीय शासन (State and Local Administration)

विविध प्रांतों पर अंकुश रखना बड़ा ही आवश्यक था और हर्ष ने प्रांतीय–शासन का महत्व अच्छी तरह समझा था । दूरस्थ प्रांत राज्यपाल, प्रांतीय शासक अथवा उपरिक महाराज, सामंत तथा महासामंतों के हाथ थे । विविध शासन–केन्द्रों का प्रबंध उस समय आवश्यक भी था । हर्ष के साम्राज्य कई इकाइयों में बंटा था – राष्ट्र, देश, भुक्ति, विषय इत्यादि । भुक्तियों में अहिच्छत्र, श्रावस्ती, कौशांबी और पुंड्रवर्धन प्रमुख थे । प्रांतों के अधिकारी उपरिक महाराज, गोप्ता, भोगपति, राजस्थानीय, राष्ट्रीय आदि कहलाते थे । इनकी नियुक्ति सम्राट स्वयं करता था, परन्तु अपने अधीनस्थ अधिकारियों की नियुक्ति वे लोग स्वयं करते थे । विषय का मुख्य अधिकारी विषयपति कहलाता था । ग्राम का प्रमुख महत्तर या ग्रामिक कहलाता था । सरकारी तौर पर ग्राम–शासन अच्छी तरह संगठित था और वहाँ के शासन में गैर–सरकारी लोगों का भी काफी हाथ था । स्थानीय शासन में 'पृथक' का भी उल्लेख मिलता है, जो संभवतः आधुनिक 'तालुका' की तरह था ।

19.4 ह्वेनसांग का यात्रा विवरण (Description Huensauing Journey)

हुएंगसान भारत में आए हुए सभी चीनी यात्रियों में सर्वश्रेष्ठ एवं प्रसिद्ध है । वह हर्षवर्द्धन के समय बौद्ध साहित्य के अध्ययन के उद्देश्य से मार्ग की अनेक कठिनाईयों का सामना करता हुआ भारत आया । रास्ते में उसे कई प्रसिद्ध बौद्ध–केन्द्र भी मिले थे । गोबी, वामियान, कश्मीर आदि के रास्ते वह थानेश्वर और मथुरा पहुँचा और फिर वहाँ से कन्नौज। हर्ष ने उसकी बड़ी आवभगत की । उसने छह वर्ष तक नालंदा में अध्ययन किया और 641 ई0 के बाद जब वह यहाँ से लौटकर चीन गया, तब भी उसने भारत के साथ सम्पर्क रखा । उसने वहाँ अपना शेष जीवन भारतीय ग्रंथों के अनुवाद में व्यतीत किया ।

चीनी यात्री के अनुसार विदेशी लोग भारत को ब्राह्मणें का देश समझते थे जो बहुत पवित्र और सब वर्णो में अधिक समादृत थे । सभ्य वर्ग–जिसमें बौद्ध भी शामिल थे–संस्कृत भाषा का प्रयोग करता था । ब्राह्मणदल अनेक दलों में विभक्त था, जो बाह्य विशिष्ट चिह्नों – जैसे मुंडमाल, घुटे सिर, गाँठ बंधे बाल और भस्म से रंगे शरीर–द्वारा पहचाने जाते थे । संयासी त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे, धन की चिन्ता नहीं करते थे, अपना भोजन मांगकर खाते थे और अपरिग्रह के आदर्श का पालन करते थे । राजा इन्हें दरबार में आने के लिए बाध्य नहीं कर सकते थे ।

चीनी यात्री का उद्देश्य भारत के सांस्कृतिक केन्द्रों और बौद्धों तथा ब्राह्मणों के तीर्थो की यात्रा करना था । विहार बौद्धों के केन्द्र हुआ करते थे । विहारों की संख्या 5,000 थी और उनमें रहने वाले भिक्षु दो लाख थी । हुएनसांग को इन विहारों में अबौद्ध भिक्षु भी मिले ।

हुएनसांग कन्नौज की सभा का सेनापति भी हुआ था । इस सभा में उसे सबसे बड़ा विद्वान घोषित किया गया था और यहाँ महायान पर विचार–विमर्श भी हुआ था ।

हुएनसांग ने हर्ष के शासन की प्रशंसा की है । उसका दंड, विधान कठोर था । कुलों की रजिस्ट्री नहीं होती थी और बेगार भी नहीं ली जाती थी । अतिशासन की दुर्व्यवस्था न होने के कारण लोग स्वतंत्र रूप से विचरते थे । उनका नैतिक विकास किसी प्रकार अवरूद्ध नहीं था । सामाजिक आचार के विरूद्ध अपराध तथा अविश्वसनीय आचरण और व्यभिचार का दंड, नाक, कान, हाथ, पैर काट लेना अथवा अपराधी को देश–निष्कासन या वनवास देना था ।

हुएनसांग ने भारतवासियों को पावन तथा सदाचारी कहा है । वे किसी वस्तु को अधिकार पाए बिना नहीं ग्रहण करते थे और औचित्य से कहीं अधिक उनमें उदारता थी । वह लिखता है कि परलोक में पाप के परिणाम से वे डरते है और इस जन्म के कर्मफल की महत्व नहीं देते । वे धोखा नहीं देते और शपथपूर्वक की गई प्रतिज्ञा निबाहते है । गृहस्थों के घर सादे, स्वच्छ और आरामदेह थे, नागरिक सुसंस्कृत थे ।

भारत के लोग बड़े ही धर्मात्मा होते थे और जगह–जगह पुण्यशालाओं तथा धर्मशालाओं की व्यवस्था थी । विदेशी यात्रियों को रास्ते में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी, क्योंकि इन्हें जगह–जगह भोजन मिल ही जाता था और ठहरने के लिए स्थान भी । प्रथम मुलाकात में हर्ष ने पहले हुएनसांग को प्रमाण किया और उसे 10,000 स्वर्ण–सिक्के

और 30,000 चांदी के सिक्के भी दान में दिए, परन्तु चीनी यात्री ने उसे सधन्यवाद लौटा दिया । धर्मगुरूओं के आने पर राजा भी नीचे ही बैठना पसंद करते थे । विद्वानों का भी आदर था और चीनी यात्री के स्वागत और विदाई में हर्ष और असम के भास्करवर्मन ने बड़ी दिलचस्पी ली। पवित्रता पर भारतीय लोग विशेष ध्यान देते थे । खाने के पूर्व वे लोग हाथ–पॉव धोकर आचमन करते थे । धातु के बरतनों को मलकर साफ किया जाता था । मिट्टी और लकड़ी के बरतन व्यवहार के बाद फेंक दिया जाता था । खाने के बाद दांत साफ करने के लिए खरिका का व्यवहार किया जाता था । पेशाब करने के समय जल प्रयुक्त किया जाता था । नीम के दतवन का व्यवहार बच्चों को तीन वर्ष की अवस्था से सिखाया जाता था । नाक के पानी पीकर लोग अपनी जिन्दगी बढ़ाते थे । अस्वस्थ होने पर लोग उपवास करते थे ।

चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार परम्परागत जातिभेद के चार वर्ग थै । चारों जातियों में विभिन्न मात्रा में धार्मिक अनुष्ठानजनित पवित्रता थी । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य समृद्ध वर्ग थे । शूद्रों की कई जातियाँ थीं । अंत्यज जातियों में चांडाल, मफ्त, श्वपाक, कसाई, मछुआ, जल्लाद आदि थे । साधारणतः समाज में सजातीय विवाह का प्रचलन था । इस समय अनुलोम और प्रतिलोम प्रथा भी प्रचलित थी और इन्हीं से उत्पन्न लोग वर्णसंकरों की कोटि में होते थे ।

विभिन्न प्रांतों के संबंध में हुएनसांग के विचार इस प्रकार है – कश्मीर के लोग धोखेबाज तथा कायर होते थे । मथुरा में विद्वत्ता तथा नैतिक आचरण का सम्मान था । थानेश्वर में व्यभिचारक्रिया से लोगों को विशेष प्रेम था । कन्नौज के लोगों का रूप परिष्कृत था । मालवा के लोग बुद्धिमान एवं नम्र स्वभाव के होते थे । महाराष्ट्र के लोग अभिमानी तथा कष्टपीड़ितों के लिए आत्मत्याग करने वाले होते थे ।

बोधप्रश्न

1. हर्षवर्द्धन के पुलकेसिन द्वितीय के साथ युद्ध का वर्णन करें ।
2. हर्षवर्द्धन के साम्राज्य विस्तार की विवेचना करें ।
3. हर्षवर्द्धन के शासन–व्यवस्था का मूल्यांकन करें ।
4. इतिहास लेखन में हुएगसांग के यात्रा विवरण के महत्व को दर्शायें ।

* * * * *

अध्याय- 20

दक्षिण भारत के प्रमुख राजवंश

(Chief Dynasties of South India)

20.0 उद्देश्य (Aims)

20.1 प्रस्तावना (Introduction)

20.2 चालुक्य वंश (Chalukya Dynasty)

20.3 वादामी के चालुक्य (Vadami's Chalukya)

20.4 पुलकेशीन द्वितीय (Pulkeshin II)

20.5 वेंगी के पूर्वी चालुक्य (Eastern Chalukya or Vengi)

20.6 कल्याणी के चालुक्य (Kalyani's Chalukya)

20.7 चालुक्यों की उपलब्धि (Achievement of Chalukya)

20.8 पल्लव वंश (Pallava Dynasty)

20.9 पल्लवों की उत्पत्ति (Origin of Pallavas)

20.10 पल्लवों का राजनीतिक इतिहास (Political History of Pallavas)

20.11 पल्लवों की सांस्कृतिक देन (Cultural Contribution of Pallavas)

20.11.1 शासन (Administration)

20.11.2 धर्म (Religion)

20.11.3 साहित्य (Literature)

20.11.4 कला एवं स्थापत्य (Art and Sculpture)

20.11.5 चित्रकला (Drawings)

20.11.6 संगीत कला (Music)

20.11.7 नृत्यकला (Dance)

बोध प्रश्न

20.0 उद्देश्य (Aims)

इस इकाई को पढ़ने के बाद :–

- दक्षिण भारत के प्रमुख राजवंशों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- चालुक्यों की उपलब्धियों से अवगत होंगे ।

- पल्लवों की उत्पत्ति एवं उनके राजनीतिक इतिहास की रूपरेखा को जान सकेंगे ।
- पल्लवों की प्राचीन भारत में विभिन्न सांस्कृतिक देन के महत्व को समझ सकेंगे ।

20.1 प्रस्तावना (Introduction)

600–1200 ई0 के दक्षिणी भारत के इतिहास की समता उत्तरी भारत के इतिहास से की जा सकती है । इस अवधि में कुछ ऐसे शक्तिशाली राजवंशों का उत्थान हुआ जिन्होंने दक्षिण भारत में एकछत्र शासन स्थापित करने का प्रयास किया । वाकाटक राजवंश के पतन के बाद दक्षिणापथ के चालुक्य और राष्ट्रकूट तथा सुदूर दक्षिण के पललव, चोल और पाण्ड्य राजवंशों ने दक्षिण भारत में उसी प्रकार एकछत्र शासन स्थापित करने का प्रयास किया जिस प्रकार उत्तरी भारत में प्रतिहार वंश और पालवंश के राजाओं ने किया था । फलस्वरूप इन राजवंशों के बीच लम्बी अवधि तक संघर्ष चला । नवीं सदी के मध्य में चोलों ने पल्लवों और पाण्ड्यों का स्थान ले लिया और उनके उत्तराधिकारी चालुक्यों ने संघर्ष किया । इन राजवंशों के शासक भी उत्तरी भारत के सम्राटों की तरह दक्षिणी भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में बांध न सके और उनके संघर्श का परिणाम भी दक्षिणी भारत का राजनीतिक विभाजन हुआ । चौदहवीं भाताब्दी के आरंभ में जब अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिणी भारत के राज्यों पर अपना अधिकार स्थापित करने के उद्देश्य से आक्रमण करना शुरू किया उस समय दक्षिणी भारत में कुछ छोटे राज्यों के अतिरिक्त देवगिरि के यादव वंश, वारंगल के काकलीय वंश, द्वारसमुद्र के होयसल वंश और मथुरा के पांड्य वंश के राज्य प्रमुख थे । ये राज्य उस समय भी अपनी–अपनी सीमाओं के विस्तार के लिए एक–दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी बने हुए थे । अलाउद्दीन ने इन सभी राजवंशों को पराजित किया और उन्हें दुर्बल करके छोड़ दिया । किन्तु गयासुद्दीन तुगलत और मुहम्मद बिन तुगलक ने उनके अस्तित्व को समाप्त करके उन्हें दिल्ली सल्तनत के अधीन कर लिया । इस प्रकार दक्षिणी भारत के इतिहास का क्रम वही रहा जो उत्तरी भारत का था । आपसी संघषों के बावजूद दक्षिणी भारत के विभिन्न राजवंशों ने साहित्य, धर्म, भवन–निर्माण–कला, चित्र–कला आदि की प्रगति में सहयोग दिया । भारत की सांस्कृतिक प्रगति में उनक सहयोग सराहनीय है ।

20.2 चालुक्य वंश (Chalukya Dynasty)

दक्षिणी भारतीय इतिहास में चालुक्य वंश को विशेष स्थान प्राप्त है । इस वंश ने दक्षिण भारत के इतिहास को विशेष रूप से प्रभावित किया और पर्याप्त समय तक इस वंश के अधिकार में दक्षिण के अधिकांश प्रदेश रहे । चालुक्यों की उत्पत्ति के संबंध में इतिहासकारों में गहरा मतभेद है । श्रीनिवासाचार्य और श्री आयंगर के मतानुसार दक्षिण में जाने से पहले वे कई पीढ़ियों तक अयोध्या में राज्य कर चुके थे । डॉ0 स्मिथ के अनुसार चालुक्य गुर्जर जाति के थे । वे राजपूताना से दक्षिण की ओर गये थे । हुएनसांग ने उन्हें क्षत्रिय कहा है । कल्याणी के चालुक्य अपने को चन्द्रवंशी या मनु का सन्तान बतलाते थे । अधिकांश विद्वान यही मानते है कि चालुक्य उत्तरी भारत के क्षत्रियों के ही वंशज थे और वे राजस्थान में रहते थे । कुछ समय बाद वे दक्षिण की ओर चले गये और अनुकूल परिस्थिति पाकर छठी भाताब्दी के आरंभ में अपना राजवंश कायम कर लिया ।

20.3 बादामी के चालुक्य (Vadami's Chalukya)

बादामी के चालुक्यों ने लगभग दो सौ वर्शो में 'दक्षिणापथ' में एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की थी । उस वंश का सबसे पहला त्ताासक जयसिंह था । उसके बाद उसका पुत्र रणराग गद्दी पर बैठा । उसने 'अश्वमेघ' यज्ञ भी किया था । पुलेकशिन द्वितीय के ऐहोल के लेख से ज्ञात होता है कि पुलकेशिन प्रथम ने वातापी पर अधिकार किया था और 'अश्वमेध' यज्ञ का अनुश्ठान किया । बादामी के किले में एक शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण लेख में उसे अनेक यज्ञों का कर्त्ता बतलाया गया है । महाकूट–अभिलेख में उसकी तुलना विष्णु से की गयी है अैर उसकी उपाधि 'रणविक्रम' का उल्लेख है । उसे ब्राह्मणों का आदर करनेवाला और वृद्धजनों का सलाह मानने वाला कहा गया है । पुलकेशिन प्रथम के बाद कीर्त्तिवर्मन प्रथम राजा हुआ । उसने कदम्ब, नल और मौर्य राजवंशों को पराजित कर अपने राज्य का विस्तार

किया । उसने 'अग्नि टोम' ओर 'बहुसुवर्ण' यज्ञ किये थे । कीर्तिवर्मन प्रथम के बाद उसका भाई मंगलेश शासक हुआ । उसने भी राज्य–विस्तार की नीति अपनाई । उसने 'रणविक्रम' और 'परम भागवत' की उपाधि धारण की ।

20.4 पुलकेशिन द्वितीय (Pulkeshin II)

पुलकेशिन द्वितीय 609–10 में कभी गद्दी पर बैठा था । उसके शासन का प्रारम्भ संघर्ष ओर कठिनाईयों से हुआ था । उसने अपने चाचा मंगलेश से युद्ध करके सिंहासन प्राप्त किया था । मंगलेश अपने पुत्र को राजा बनाना चाहता था । अतः कुछ समय के लिए पुलकेशिन को उसके अधिकारों से वंचित रखा जबकि गद्दी पर पुलकेशिन का दावा अधिक पुष्ट था । अतएव पुलकेशिन ने मंगलेश का दरबार छोड़ दिया और देश से बाहर जाकर शक्ति का संग्रह की । उसने मंगलेश पर आक्रमण कर उसे मार डाला और राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया । गद्दी पर बैठते ही पुलकेशिन को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा । मंगलेश के शासनकाल में अन्तिम वर्षो में गृह–युद्ध हुआ था । इससे चालुक्य साम्राज्य कमजोर हो गया था । पुलकेशिन को चालुक्य साम्राज्य का फिर से निर्माण करना था । उसने सर्वप्रथम आप्पायिक और गोबिन्द को ठिकाने लगाया । उसने कदम्बों को परास्त किया । उसने कोंकण के मौर्यो को परास्त करके उनकी राजधानी राजपुरी पर अधिकार कर लिया । उसने लाट, मालव और गुर्जर शासकों को भी अपनी अधीनता मानने के लिए बाध्य किया । इस प्रकार चालुक्य साम्राज्य की सीमा का मही तक विस्तार हो गया ।

उस समय उत्तर भारत में हर्षवर्धन की भाक्ति तेजी से बढ़ रही थी । पुलकेशिन और हर्षवर्द्धन में युद्ध हुआ जिसमें पुलकेशिन विजय हुआ । कलिंग और कौशल के राजाओं ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली । पुलकेशिन का पल्लव राजा महेन्द्रबर्मन प्रथम से भी संघर्श हुआ । उसने महेन्द्रवर्मन को परास्त कर उसके राज्य की उत्तरी सीमाओं को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया । तत्पश्चात् उसने चोल, चेर और पाण्ड्य राज्यों से मित्रता की जिससे वे पल्लवों के विरूद्ध उसके सहायता बने रहे । यद्यपि पुलकेशिन पल्लवों से पराजित हुआ था, फिर भी उसने चालुक्यों को जो श्रेष्ठता और गौरव प्रदान किया था वह उसकी मृत्यु के बाद भी समाप्त न हो सका ।

विदेशी राजाओं के साथ भी पुलकेशिन ने कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये थे । उसने ईरान के शाह के साथ राजदूतों का आदान–प्रदान किया था । ईरानी सम्राट ने भी अपना राजदूत पुलकेशिन के दरबार में भेजा था । पुलकेशिन ने ईरानी राजदूत का भव्य स्वागत किया था । उसके स्वागत के आशय का चित्र अजन्ता की गुफाओं में अंकित किया गया है ।

20.5 वेंगी के पूर्वी चालुक्य (Eastern Chalukya of Vengi)

पुलकेशिन द्वितीय ने अपने शासनकाल के प्रारम्भ में ही सम्पूर्ण पूर्वी दकन पर अधिकार कर अपने भाई विश्णुवर्धन को वहाँ का राज्यपाल नियुक्त किया था । किन्तु शीध्र ही विष्णुवर्धन ने अपने को स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया जिसका पुलकेशिन ने विरोध नहीं किया । इस प्रकार पूर्वी चालुक्यों के स्वतंत्र राज्य का निर्माण हुआ और विश्णुवर्धन उसका पहला शासक बना । राष्ट्रकूटों ने विष्णुवर्धन को परस्तर करके उसे अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए बाध्य किया । 779 ई0 में गोविन्द द्वितीय और ध्रुव में राष्ट्रकूट सिंहासन के लिए झगड़ा हुआ । चालुक्यों ने गोविन्द की सहायता की । किन्तु अन्त में ध्रुव विजयी अुआ और उसने चालुक्यों को पराजित किया । विष्णुवर्धन के बाद विजयादित्य द्वितीय शासक हुआ । उसके बारह वर्शो तक राष्ट्रकूट और गंग शासकों से संघर्ष किया । प्रारंभ में उसे सफलता मिली किन्तु अन्त में अमोघवर्ष में उसे राष्ट्रकूटों पर आधित्पय को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया ।

विक्रमादित्य तृतीय के बाद चालुक्य भीम गद्दी पर बैठा । उसका पूरा शासनकाल राष्ट्रकूट शासक कृष्ण द्वितीय के साथ संघर्ष में बीता । वह अनेक बार परास्त भी हुआ किन्तु अंनत में वह राष्ट्रकूटों को अपने राज्य की सीमा के बाहर खदेड़ने में सफल हुआ । परन्तु इस संघर्ष से चालुक्यों की शक्ति क्षीण हो गई । इस कारण शासक थोड़े–थोड़े समय में बदलते गये और क्रमशः विक्रमादित्य द्वितीय, भीम द्वितीय और युद्धधमल्ल द्वितीय शासक हुए । युद्धमल्ल के समय

में आंध्रप्रदेश में राष्ट्रकूट पूर्ण शक्तिशाली हो चुके थे । मल्ल को परास्त कर चालुक्य तृतीय ने बारह वर्षो तक शासन किया । इसके बाद भी अनेक शासक हुए । अंत में चोल राजा राजराज की सहायता लेकर शक्तिवर्मा प्रथम ने वेंगी पर अधिकार कर लिया । चालुक्यों की स्वतंत्रता सत्ता समाप्त हो गयी और वे चोल शासकों के अधीन शासक मात्र रह गये ।

20.6 कल्याणी के चालुक्य (Kalyani's Chalukya)

कल्याणी के चालुक्य राष्ट्रकूट शासकों के अधीन थे । अन्तिम राष्ट्रकूट शासक कर्क्क द्वितीय के समय में उसके चालुक्य सामन्त तैल द्वितीय ने विद्रोह किया और कर्क्क को परास्त करके राष्ट्रकूटों के राज्य पर अधिकार कर लिया । गंग–शासक मारसिंह ने अपने भतीजे और राष्ट्रकूट–वंशज इन्द्र की तरफ से एक बार राष्ट्रकूटों के राज्य को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु उसकी पराजय हुई । इस प्रकार तैल द्वितीय ने पिछले चालुक्यों के साम्राज्य का निर्माण राष्ट्रकूट साम्राज्य के अवशेशों पर किया ।

तैल द्वितीय एक महान योद्धा था । उसने चेदि, उड़ीसा, कुन्तल, गुजरात के चौलुक्य, मालवा के परमार शासक मुंज और चोल शासक उत्तम को परास्त किया ।

तैल के उत्तराधिकारी सत्याश्रम को भी अनेक युद्ध लड़ने पड़े थे । उसे परमार शासक सिन्धुराज और कलचुरि शासक कोक्कल द्वितीय ने पराजित किया परन्तु उसने चोल शासक राजराज को परास्त करने में सफलता नहीं पायी । उनके पश्चात् जयसिंह द्वितीय को कलचुरि गांगेयदेव, परमार भोज और राजेन्द्र चोल जैसे शक्तिशाली राजाओं की सम्मिलित शक्तियों का मुकाबला करना पड़ा । संघर्ष का मुख्य कारण चालुक्यों तथा चोल शासकों का वेंगी के पूर्वी चालुक्य राज्य पर अधिकार करने का प्रयत्न था । परन्तु जयसिंह अपने राज्य की रक्षा करने में असमर्थ रहा । उसे बाद सोमेश्वर प्रथम शासक हुआ । चोल शासक राजाधिकाज ने उसकी राजधानी कल्याणी को लूटने में सफलता पायी परन्तु सोमेश्वर संघर्ष करता रहा और अन्त में एक युद्ध में राजाधिराज चोल मारा गया । सोमेश्वर प्रथम के पश्चात् सोमे वर द्वितीय उसके पश्चात् विक्रमादित्यषश्ठ शासक बना । विक्रमादित्य के बाद अनेक राजा हुए । इसी बीच चालुक्यों की शक्ति क्षीण होती जा रही थी । चालुक्य वंश के अनितम शासक सोमेश्वर चतुर्थ को अपने ही सामन्त के यहाँ रहकर अपना जीवन व्यतित करना पड़ा था ।

20.7 चालुक्यों की उपलब्धि (Achievement of Chalukyas)

चालुक्य वंश के शासकों ने दक्षिणापथ में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की । बादामी के चालुक्यों ने लगभग दो सौ वर्षो तक तथा कल्याणी के चालुक्यों ने भी प्रायः उतने ही समय तक चालुक्य साम्राज्य तथा उसकी कीर्ति को बनाये रखा ।

परन्तु राजनीति के अतिरिक्त चालुक्य शासकों ने दक्षिणी भारत की सांस्कृतिक प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान दिया । चालुक्य साम्राज्य आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था । उसके अन्तर्गत अनेक अच्छे बन्दरगाह थे जिनसे विदेशी व्यापार की सुविधा थी । आर्थिक सम्पन्नता का उपयोग चालुकय राजाओं ने साहित्य और कला की प्रगति के लिए किया ।

चालुक्य शासक हिन्दू धर्म के अनुयायी थे । उन्होंने वैदिक धर्म के अनुसार अनेक यज्ञ किये । उनके समय में अनेक धार्मिक ग्रन्थों की रचना अथवा संकल्न किया गया । पुलकेशिन द्वितीय तथा अन्य शासकों ने अश्वमेघ यज्ञ किये थे । इस कारण हिन्दू धर्म दक्षिणी भारत में लोकप्रिय हो गया । चालुक्य शासक धर्म सहिष्णु थे और उन्होंने अन्य धर्मो के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनायी थी ।

चालुक्य शासकों के शासनकाल में चित्रकला और वास्तुकला की खूब प्रगति हुई । अजन्ता की भित्ति–चित्रों में कुछ का निर्माण इसी समय में हुआ था । इनमें से एक चित्र में पुलकेशिन द्वितीय के दरबार में ईरान के राजदूत के स्वागत के दृश्य को चित्रित किया गया ळै । इस समय पहाड़ों और चट्टानों को काटकर बड़े–बड़े मंदिरों का निर्माण कराया गया था । अनेक हिन्दू गुफा–मंदिरों और चैत्य–हालों का निर्माण किया गया । मंगलेश ने वातापी के विष्णु के गुफा–मंदिर का निर्माण कराया । विजयादित्य ने बीजापुर में शिव मंदिर बनवाया । विक्रमादित्य की पत्नी ने पट्टुटकल नामक स्थान

पर लोके वर नाम का शिव मंदिर बनवाया । इसे अब वीरूपक्ष मंदिर कहा जाता है । उसकी एक अन्य पत्नी ने इसी मंदिर के समीप त्रिलोकेश्वर नामक मंदिर बनवाया । इस प्रकार चालुक्य शासकों ने दक्षिण भारत की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रगति में महत्वपूर्ण भाग लिया ।

20.8 पल्लव वंश (Pallava Dynasty)

सुदूर दक्षिण के इतिहास में प्राचीन राजवंशों में चोल, चेर तथा पाण्डय् राजवंशों की प्रमुखता रही । इन राजवंशों के शासकों में राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के कारण लम्बी अवधि तक संघर्ष चला । इसमें पहले चोल राजवंश को, उसके बाद पाण्ड्य राजवंश और सबसे बाद में चेर राजवंश को श्रेष्ठता प्राप्त हुई । किन्तु इनमें से कोई भी राजवंश सुदूर दक्षिण में एक शक्तिशली साम्राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त नहीं कर सका । इस कार्य को पल्लव वंश के शासकों ने पूरा किया । सातवाहन वंश के पतन के बाद उनके राज्य के दक्षिणी–पूर्वी भाग पर पल्लव वंश के राजाओं ने अधिकार कर लिया और कांची को अपनी राजधानी बनाया ।

20.9 पल्लवों की उत्पत्ति (Origin of Pallavas)

अन्य प्राचीन राजवंशों की भांति पल्लवों की उत्पत्ति का प्रश्न इतिहासकारों के बीच विवाद का विषय बना हुआ है । पाश्चात्य इतिहासकारों ने पल्लवों की उत्पत्ति विदेशी पहलूओं से सिद्ध करने का प्रयास किया है । इस मत की पुष्टि में यह तर्क दिया जाता है कि नन्दिवर्मन द्वितीय के सिंहासनारोहरण के समय के राजमुकूट और बैक्ट्रियन ग्रीक शासक तमिन्न के राजमुकुट में समानता पायी गयी है । किन्तु आधुनिक समय में यह मत सर्वमान्य नहीं है । कहा जाता है कि चोल राजा किल्लीबल्लवम् ने नाग कन्या से विवाह किया था जिससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो बाद में राजा बना और कांची को अपनी राजधानी बनाया । इस नाग राजकुमारी की जन्मभूमि मणिपल्लव के नाम पर इस वंश का नाम पल्लव पड़ा । इस प्रकार पल्लव एक ओर चोल वंश से संबंधित है तो दूसरी ओर से नागवंश से जुड़े थे । डॉ0 कृश्णस्वामी आयंगर पल्लवों की उत्पत्ति नागवंश से मानते है । वे नागवंशी सातवाहनों के अधीनस्थ शासक थे । राजशेखर ने पह्लव और पल्लव का उल्लेख अलग–अलग किया है । उसने पह्लवों को उत्तरापथ का और पल्लवों को दक्षिणापथ में स्थित बतलाया है । इस प्रकार पल्लवों को विभिन्न राजवंशों एवं क्षेत्रों से जोड़ने का प्रयास किया गया है और मत–मतान्तर के बीच किसी अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है । डॉ0 नीलकंठ भास्त्री का मत समचीन प्रतीत होता है । उनका मत है कि पल्लव उत्तर भारत के मूल निवासी थे किनतु दक्षिण भारत में उन्होंनें अपने लिए एक नया निवास–स्थान खोज लिया और स्थानीय परम्पराएँ अपना लिया ।

20.10 पल्लवों का राजनीतिक इतिहास (Political History of Pallavas)

पल्लवों के प्रारंभिक राजाओं में शिवस्कन्धवर्मन शक्तिशाली राजा था । उसकी राजधानी कांचीपुर थी । अगला प्रारंभिक राजा विष्णुगोप था । समुद्रगुप्त ने संभवतः इसे ही अपने दक्षिण–अभियान में पराजित किया था । किन्तु पल्लवों की महानता का युग छठी सदी के अन्तिम चरण में उसके शासक सिंहविष्णु के समय से प्रारंभ होता है ।

सिंहविष्णु (Singhvishnu)– सिंहविष्णु ने पल्लवों की राजनीतिक शक्ति का विकास किया और दूर–दूर तक सैनिक अभियान किये । उसने कावेरी से कृष्णा नदी तक अपने राज्य का विस्तार किया । उसने चोल, पाण्ड्य, और मालवों को पराजित किया तथा विजय के उपलक्ष में 'अवनिसिंह' की उपाधि धारण की । वह विष्णु का उपासक था । उसने साहित्य और कला को भी संरक्षण दिया ।

महेन्द्रवर्मन प्रथम (Mahendra Verman I)– सिंहविष्णु के बाद महेन्द्रवर्मन प्रथम राजा हुआ । वह एक योग्य शासक था । वह युद्ध तथा शान्ति के कार्यो में निपुण था । उसने अनेक उपाधियाँ धारण की । उसके समय में पल्लव–चालुक्य संघर्ष प्रारंभ हुआ । पल्लवों ने चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय की बढ़ती हुई भाक्तियों को रोकने के

लिए कदम्बों से संधि की । इस कारण पुलकेशिन ने पल्लव–राज्य पर आक्रमण कर दिया और बहुत अन्दर तक सफलतापूर्वक प्रवेश कर दिया ।

नरसिंहवर्मन प्रथम (Narsingh Verman I)– महेन्द्रवर्मन का पुत्र नरसिंहवर्मन 630 ई0 में कांची के सिंहासन पर बैठा । वह भी एक योग्य शासक था । उसके शासनकाल में भी पल्लव शक्ति का काफी विस्तार हुआ । चालुक्यों के साथ उसका भी संघर्ष भी हुआ ˙ चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय ने उसके राज्य पर भी आक्रमण किया किन्तु नरसिंहवर्मन ने उसे तीन युद्धों में पराजित किया जिनमें मणिमंगलम् युद्ध प्रमुख थे । नरसिंहवर्मन ने चालुक्यों की शक्ति को दुर्बल करके मैसूर तक अपने राजय का विस्तार किया ।

महेन्द्रवर्मन द्वितीय और परमेश्वरवर्मन प्रथम (Mahendra Verman II and Paremeshwar Verman I)– नरसिंहवर्मन प्रथम के बाद महेन्द्रवर्मन द्वितीय राजा हुआ । उसने चालुक्य राजा विक्रमादित्य को पराजित किया । वह केवल दो वर्षो तक ही राज्य कर सका । उसके बाद परमेश्वरवर्मन राजा बना । उसके समय में चालुक्यों के साथ संघर्ष पुनः शुरू हो गया । चालुक्य राजा विक्रमादित्य प्रथम ने अपने वंश की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया ।

नरसिंहवर्मन द्वितीय (Narshinghverman II)– परमेश्वरवर्मन के बाद नरसिंहवर्मन द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ । उसका शासनकाल शान्तिपूर्ण था क्योंकि चालुक्यों से किसी प्रकार का संघर्ष नहीं हुआ । उसने चीनी सम्राट के दरबार में अपना दूत भेजा था । उसने महाबलिपुरम के समुद्र तट पर अनेक सुन्दर मंदिर बनवाये थे । उसी के समय में दण्डिन ने 'दशकुमारचरितम्' नामक काव्य–ग्रन्थ की रचना की थी ।

नन्दिवर्मन द्वितीय (Nandiverman II)– अगला शासक नन्दिवर्मन द्वितीय हुआ । वह पल्लव–सिंहासन का स्वाभाविक उत्तराधिकारी नहीं था । किन्तु महत्वपूर्ण नागरिकों ने उसे चुनाव द्वारा अपना राजा बनाया था । उसके समय में पड़ोसी राज्यों ने पल्लवों पर आक्रमण किया । सिंहासन पर बैठते ही उसे पाण्ड्यों की शत्रुता का सामना करना पड़ा । पाण्ड्यों के साथ नन्दिवर्मन द्वितीय की असफलता को देखकर पल्लवों के पुराने शत्रु चालुक्यों का मनोबल बढ़ा । राष्ट्रकुट शासक दन्तिदुर्ग ने भी पल्लवों पर आक्रमण किया और कांची पर अधिकार कर लिया । नन्दिवर्मन को राष्ट्रकूट सम्राट ध्रुव को प्रसन्न करने के लिए बहुत धन देना पड़ा था । नन्दिवर्मन को केवल गंगों के विरूद्ध ही कुछ सैनिक सफलताएँ प्राप्त हुई थीं ।

20.11 पल्लवों की सांस्कृतिक देन (Cultural Contribution of Pallavas)

भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में कांची के पल्लवों का युग विचारणीय है । उन्होंने पेनड्.ग और तुंगभद्रा के दक्षिण वृहत राज्य की स्थापना की और अपने प्रभाव का विस्तार लंका तक किया । पल्लव शासक केवल साम्राज्य–निर्माता ही नहीं थे, बल्कि उन्होंने दक्षिण भारतीय सभ्यता–संस्कृति के विकास में भी योगदान दिया । उन्होंने कुशल प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना की और कला तथा साहित्य को प्रश्रय दिया । निम्नलिखित क्षेत्रों में पल्लवों की देनें उल्लेखनीय है –

20.11.1 शासन (Administration)

पल्लवों की शासन–व्यवस्था बहुत कुछ गुप्तों और मौर्यो की शासन–व्यवस्था के समान थी । उनका शासन–प्रबंध सुव्यवस्थित था । राजा राज्य और शासन का प्रधान होता था । राज्य की सम्पूर्ण शक्ति उसी के हाथ में केन्द्रित रहती थी । अपनी शक्ति तथा महत्ता को प्रदर्शित करने के लिए वह अनेक उपाधियाँ धारण करता था । प्राचीन प्रणाली के अनुसार अनेक अध्यक्षों तथा राजप्रमुखों के अधीन केन्द्रिय तथा प्रान्तीय शासन संगठित था ।

शासन की सुविधा के लिए साम्राज्य प्रान्तों में विभाजित था जिसे राष्ट्र या मण्डल कहा जाता था । शासन की छोटी इकाइयों को कोट्टम, नाडू और ग्राम कहा जाता था । प्रान्तों के ऊपर राजवंश या सामन्तवंश के लोग शासन करते थे । राष्ट्र या मण्डलों पर राष्ट्रिक या माण्डलिक शासन करते थे । ग्राम का मुख्य अधिकारी मुखिया होता था । ग्राम–सभा को स्थानीय न्याय, रक्षा और सार्वजनिक हित के काम करने का अधिकार था । राज्य की आमदनी का मुख्य

स्रोत भूमि–कर था । इसके अलावा वन, खान तथा व्यापार से भी आमदनी होती थी । भूमि की माप, व्यवस्था तथा सिंचाई का प्रबन्ध सरकार करती थी । पल्लवों का सैनिक संगठन उच्च कोटि का था । उन्होंने बड़ी कुशल थल एवं जल–सेना का संगठन किया था । किसानों के हित का ख्याल रखा जाता था ।

स्थानीय शासन एवं दैनिक जीवन के विभिन्न पहलुओं की देखभाल के लिए जाति, व्यवसाय और धर्म के आधार पर संगठित अनेक स्वायत्त संस्थाएँ थी । ग्राम–सभा ग्राम के आर्थिक, न्यायिक और प्रशासनिक मामलों की देखभाल करती थी । ग्राम–सभा के अन्तर्गत कुछ छोटी–छोटी उपसमितियाँ थीं, जो उद्यान, मन्दिर, तालाब आदि का प्रबन्ध करती थी । न्याय का कार्य भी उपसमिति द्वारा सम्पन्न होता था । इस प्रकार ग्रामों को शासन में स्वायत्ता थी और ग्रामवासी सार्वजनिक कार्यो की देखभाल स्वयं करते थे ।

20.11.2 धर्म (Religion)

पल्लव शासक हिन्दू धर्म को मानने वाले थे । उन्होने विभिन्न यज्ञ किये और विष्णु, शिव, ब्रह्मा, लक्ष्मी और हिन्दू देवी–देवताओं की मूर्तियाँ मंदिरों में प्रतिष्ठित कीं । इस समय वैष्णव और शैव धर्म की प्रधानता थी । किन्तु बौद्ध और जैन धर्म को भी प्रोत्साहन दिया जाता था । विभिन्न शैव सम्प्रदायों का जन्म भी दक्षिण में इसी समय हुआ था । शैव धर्म की प्रधानता बढ़ती गयी । शंकराचार्य ने शिवोपासना को लोकप्रिय बनाने के लिए बहुत प्रयास किये । पल्लव शासक हिन्दू धर्म के अनुयायी होते हुए भी धर्म के मामलें में सहिष्णु थे । वे सभी धर्मो के प्रति आदर रखते थे । उन्होंने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया था । ये मन्दिर शिक्षण एवं सभ्यता के केन्द्र थे ।

20.11.3 साहित्य (Literature)

पल्लव शासकों के समय में साहित्य की यथेष्ठ प्रगति हुई थी । साहित्य और विभिन्न शास्त्रों को पल्लव राजाओं ने बड़ा प्रोत्साहन दिया था । संस्कृत भाषा और साहित्य को राज्य का प्रश्रय प्राप्त था । राजाओं की अधिकांश प्रशस्तियाँ और सरकारी अभिलेख संस्कृत भाषा में ही पाये जाते हैं । यद्यपि स्थानीय तमिल भाषा का ही प्रयोग होता था । पल्लव–काल में कांची विद्या और शिक्षा का केन्द्र था । वहाँ एक विश्वविद्यालय था । मयूर शर्मन ने यहीं वेद का अध्ययन पूरा किया था । कुछ पल्लव शासक स्वयं उच्च कोटि के विद्वान थे और उन्होंने विद्वानों को आदर और प्रश्रय दिया था । पल्लव शासक महेन्द्रवर्मन प्रथम स्वयं एक सफल लेखक था । उसने 'मत्तविलासप्रहसन और 'भागवदज्जक' नामक प्रहसनों की रचना की, जिसमें कापालिकों और बौद्धों पर व्यंग किया गया था ।

20.11.4 कला एवं स्थापत्य (Art and Sculpture)

मन्दिर और मूर्ति–निर्माण–कला के विकास में पल्लवों की अपनी विशिष्ट देन है । पाषाण–वास्तुकला का आरंभ पल्लवों ने किया । उनके संरक्षण में अनेक मंदिर पहाड़ों की चट्टानों को काटकर बनाये गये । पल्लव कलाकारों ने वास्तुकला को काष्ठ्यकला और कन्दरा कला से मुक्त करने का प्रयास किया । उन्होंने मन्दिर–स्थापत्य की नयी शैलियों का विकास किया । उन्होंने चट्टानों को काटकर और पत्थर तथा ईंट के भी बड़े विशाल और सुन्दर मन्दिर बनवाये जो आज भी अपनी कारीगरी के लिए प्रसिद्ध है ।

उस युग की चट्टानों में कटी हुई अनेक गुफाएँ भी पायी जाती है । पल्लव वास्तुशैली का प्रभाव सुदूरपूर्व के भारतीय उपनिवेशों पर भी पड़ा । शिखर शैली का प्रभाव जावा, कम्बोडिया और अनाम की कलाओं पर देखा जा सकता है । महेन्द्रवर्मन ने उत्तर अर्काट जिला में अपने नाम के झीट के तट पर एक विष्णु मन्दिर का निर्माण करवाया था । पल्लव शासकों के शासनकाल में चित्रकला, संगीत कला और नृत्यकला का भी विकास हुआ ।

20.11.5 चित्रकला (Drawings)

पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन चित्रकला में यथेष्ठ रूचि रखता था और इसलिए उसे चित्रकार–पुलि कहा जाता था । मामन्डूर के अभिलेख में कहा गया है कि चित्रकला पर लिखे गए ग्रन्थों पर उसने एक भाष्य लिखवाया था जिसका नाम दिया गया था 'दक्षिण चित्र' । पल्लव चित्रकला के अवशेष मामल्लपुरम्, मामन्डूर, कांचीपुरम्, पानमलम तथा अन्य स्थानों

में अब भी मौजूद है ।

20.11.6 संगीत कला (Music)

संगीत में भी पल्लव नरेशों की रूचि के प्रमाण मिले है । महेन्द्रवर्मन प्रथम के मामन्डूर अभिलेख की प्रथम पंक्ति में ही 'गंधर्वशास्त्र' का उल्लेख मिलता है ।

20.11.7 नृत्यकला (Dance)

भरत के नाट्यशास्त्र पर आधारित शास्त्रीय नृत्य पल्लवों के दरबार में प्रचलन में था । यह नृत्य राजसिंह के शासनकाल में जाकर और भी लोकप्रिय हो गया जबकि दरबारी नृत्य के स्वरूप में थोड़े पविर्तन के साथ इसे मन्दिरों में प्रारंभ किया गया । राजदरबार के अतिरिक्त मन्दिर भी नृत्यकला का प्रमुख केन्द्र बन गया था । पवित्र भजनों को वाद्ययंत्रों की धुन पर गाया जाता था और साथ में नृत्य भी प्रस्तुत की जाती थी ।

इस प्रकार पल्लव राजाओं का शासनकाल राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रगति के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण था । उन्होंने केवल साम्राज्य विस्तर ही नही किया बल्कि कला, साहित्य और शिक्षा की प्रगति की ओर भी ध्यान दिया ।

बोध प्रश्न

1. दक्षिण भारत के प्रमुख राजवंश कौन–कौन थे ?
2. चालुक्यों की उपलब्धियों का परीक्षण करें ।
3. पल्लवों की सांस्कृतिक देनों की विवेचना करें ।

* * * * *